MAEC-116

मौद्रिक अर्थशास्त्र

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – एक : मुद्रा की अवधारणा	5–44
इकाई 1 : मुद्रा की रूपरेखा, परिभाषा और कार्य	5
इकाई 2 : मुद्रा का वर्गीकरण	18
इकाई 3 : मुद्रा की प्रकृति और महत्व	22
इकाई 4 : स्वर्णमान मुद्रा	31
इकाई 5 : पत्र–मुद्रामान, मुद्रा का आधुनिक स्वरूप	37
खण्ड – दो : मुद्रा पूर्ति के सिद्धान्त	**45–64**
इकाई 1 : मुद्रा पूर्ति की अवधारणा और घटक	45
इकाई 2 : मुद्रा पूर्ति का निर्धारक एवं मुद्रा गुणक	50
इकाई 3 : साख मुद्रा का सृजन एवं मुद्रा गुणक	55
इकाई 4 : भारत में मुद्रा पूर्ति का मापन	61
खण्ड – तीन : मुद्रा मांग के सिद्धान्त	**65–85**
इकाई 1 : मुद्रा मांग की प्रतिष्ठित अवधारणा	65
इकाई 2 : मुद्रा मांग की कीन्स की अवधारणा	69
इकाई 3 : मुद्रा मांग की केन्जोपरान्त अवधारणा–बामल एवं टोबिन	73
इकाई 4 : मुद्रा मांग की मिल्टन फ्रीडमैन की अवधारणा	81
खण्ड – चार : ब्याज के सिद्धान्त और स्फीति	**86–134**
इकाई 1 : स्फीति : आशाय, कारण एवं प्रभाव	86
इकाई 2 : स्फीति के सिद्धान्त	103
इकाई 3 : ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त	111
इकाई 4 : ब्याज का कीन्स का सिद्धान्त	119
इकाई 5 : ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त	126

खण्ड – पाँच : भारत में मौद्रिक नीति का अवलोकन 133–175

इकाई 1 :	अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक नीति की भूमिका एवं उद्देश्य	133
इकाई 2 :	मौद्रिक नीति के उपकरण	142
इकाई 3 :	भारतीय मुद्रा बाजार	150
इकाई 4 :	भारतीय पूंजी बाजार	159
इकाई 5 :	भारतीय मौद्रिक नीति समितियों की भूमिका	168

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश प्रयागराज

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो. सत्यकाम — कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. सत्यपाल तिवारी — निदेशक, मानविकी विद्याशाखा–कार्यक्रम संयोजक, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

श्री विनय कुमार — कुलसचिव, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो. सत्यपाल तिवारी — अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, पयागराज

डॉ. अनिल कुमार यादव — संयोजक, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. किरन सिंह — ––––––, इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. एम.के. सिंह — ––––––, एम.जे.पी. रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

डॉ. विश्वनाथ कुमार — ––––––,एस.बी.पी.जी. कालेज, बड़ागाँव, वाराणसी

डॉ. अनूप कुमार — ––––––, इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. अनिल कुमार यादव — सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो. कौशलेंद्र विक्रम मिश्र, — प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग एवं प्राचार्य, रामनगर पी.जी. कालेज, बाराबंकी, उत्तर प्रदेश

परिमापक

डॉ. अनिल कुमार यादव — सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ. अनिल कुमार यादव — सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, पयागराज, खण्ड–5 (इकाई–01)

डॉ. अजय कुमार पाण्डेय — विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, हण्डिया पी.जी. कालेज, हण्डिया, प्रयागराज, खण्ड–1, 2, 3, 4, (इकाई–01, 02, 03, 04, 05) खण्ड–5 (इकाई–02, 03, 04, 05)

प्रकाशक

2024 (मुद्रित) MAEC-116 मौद्रिक अर्थशास्त्र

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2024

ISBN-978-93-48270-16-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

mókj in'k jktf"k V.Mu eqDr fo'ofo|ky;] iz;kxjkt lokZf/kdkj lqjf{krA bl ikB~; lkexzh dk dksbZ Hkh va'k mókj in'k jktf"k V.Mu eqDr fo'ofo|ky; dh fyf[kr vuqefr fy, fcuk fefe;ksxzkQ vFkok fdlh vU; lk/ku ls iqu% izLrqr djus dh vuqefr ugha gSA

izdkÛku % mókj inÛk jktf"k V.Mu foÛofo|ky;] iz;kxjkt

izdk'kd % duZy fou; dqekj] dqylfpo in'k jktf"k V.Mu eqDr fo'ofo|ky;] iz;kxjkt&2025

मुद्रकः सिग्नस ईन्फार्मेशन सल्यूसन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

इकाई–1 मुद्रा की रूपरेखा, परिभाषा और कार्य

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 मुद्रा का आविष्कार
1.3 वस्तु विनिमय प्रणाली की सीमांए
1.4 मुद्रा का विकास
1.5 मुद्रा की परिभाषा
1.6 तरलता की धारणा
1.7 मुद्रा का कार्य
1.8 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य
1.9 सारांश
1.10 बोध प्रश्न
1.11 शब्दावली
1.12 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

मुद्रा की अवधारणा के इस खण्ड के अन्तर्गत मुद्रा की रूपरेखा, परिभाषा और मुद्रा के कार्य का वर्णन किया जा रहा है। इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. वस्तु विनिमय के बारे में जानकारी प्राप्त करने के साथ–साथ वस्तु विनिमय के पतन के कारणों का जानकारी प्राप्त करना।
2. मुद्रा के बारे में एक स्पष्ट परिभाषा की जानकारी प्राप्त करना।
3. मुद्रा के विविध कार्य हैं। ऐसे में मुद्रा के समस्त कार्यों की जानकारी प्राप्त करना इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

1.1 प्रस्तावना

मुद्रा का इतिहास अति प्राचीन एवं अनिर्णीत है। वस्तुतः मुद्रा का उदय विनिमय प्रणाली के कारण हुआ। जैसे–जैसे सभ्यता का विकास होता गया, मनुष्यों की आवश्यकताएँ भी बढ़ती गईं और उनके साथ मनुष्यों की अन्तर निर्भरता भी। श्रम–विभाजन का प्रचलन हुआ और उसके साथ विशिष्टीकरण का। फलस्वरूप मनुष्यों के बीच आदान–प्रदान अर्थात् विनिमय का प्रचलन हुआ। मनुष्य अपनी उन वस्तुओं को दूसरों को देने लगे जिनका उनके पास बाहुल्य था और बदले में उन वस्तुओं को लेने लगे जिनका उनके पास अभाव था। यह

विनिमय–प्रणाली किसी मानवेतर एवं समाजैतर सत्ता के कारण नहीं वरन् स्वयं मनुष्यों की स्वेच्छा से प्रचलित हुई जिसको समाज का संमोदन (sanction) प्राप्त हुआ। यह विनिमय प्रणाली मानव–जीवन की अन्तर्निभरता का परिणाम है। विनिमय प्रणाली दो प्रकार की होती है।

1. **वस्तु–विनिमय–प्रणाली (Commodity Exchange or Barter System)-** विनिमय–प्रणाली प्रारम्भ में एक सरल प्रणाली थी जिसे दूसरे शब्दों में वस्तु–विनिमय–प्रणाली अथवा प्रत्यक्ष विनिमय–प्रणाली (direct exchange system) कहा जाता जाता है जिसमें वस्तुओं अथवा सेवाओं का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं अथवा सेवाओं के साथ होता है अर्थात् वस्तु–विनिमय–प्रणाली में $C \rightarrow C$। उदाहरण के लिए चावल के बदले दाल का विनिमय आदि।

2. **मौद्रिक विनिमय प्रणाली (Monetary Exchange System)-** सभ्यता के विकास के साथ व्यावहारिक जीवन में अन्तर्निर्भरता बढ़ती गयी। अतएव वस्तु विनिमय प्रणाली अर्थात् प्रत्यक्ष विनिमय प्रणाली के बदले अप्रत्यक्ष विनिमय–प्रणाली का प्रचलन हुआ जिसके अनुसार मुद्रा के माध्यम से वस्तुओं अथवा सेवाओं का क्रय–विक्रय प्रारम्भ हुआ। उदाहरण के लिए, चावल को मुद्रा के लिए बेच दिया जाने लगा और उस प्राप्त मुद्रा से दाल खरीदी जाने लगी। इस प्रकार वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय अप्रत्यक्ष रूप से होना प्रारम्भ हुआ। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं और सेवाओं के बीच एक कड़ी के रूप में मुद्रा उपस्थित हो गई। इस प्रकार इस अप्रत्यक्ष प्रणाली में अप्रत्यक्ष विनिमय–प्रणाली मौद्रिक विनिमय–प्रणाली कहलाती है।

1.2 मुद्रा का आविष्कार : विभिन्न दृष्टिकोण

वस्तु–विनिमय–प्रणाली में अनेक जटिल कठिनाइयाँ थी। फलस्वरूप मानव–समाज ने जाने–अनजाने में किसी निश्चित वस्तु को खोज निकाला जो इन कठिनाइयों को दूर कर सके। यही निश्चित वस्तु कालान्तर में मुद्रा कहलायी। किन्तु मुद्रा का आविष्कार कब और कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। मुद्रा के उदय और विकास के सम्बन्ध में दो प्रमुख विचारधाराएँ प्रचलित हैं। कुछ विचारकों के अनुसार मुद्रा का उदय आकस्मिक रूप में हुआ होगा अर्थात् मुद्रा का जन्म बिना किसी मानवीय प्रयास के ही हो गया। इस विचारधारा को मुद्रा का स्वाभाविक अर्थात् आकस्मिक विकास सिद्धान्त (Theory of Spontaneous Growth of Money) कहा जाता है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक स्पाल्डिंग (Spalding) हैं। इनके अनुसार विनिमय के बढ़ने के साथ–साथ सभी मानव–जातियों ने किसी न किसी विनिमय के माध्यम का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे–धीरे जो भी वस्तु उपयुक्त मालूम पड़ी वही विनिमय का माध्यम बनती गयी और वह प्रणाली मुद्रा का स्थान लेती गयी। इस तरह मुद्रा का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ है और इस विकास–क्रम में ही उसने अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है।

दूसरी विचारधारा नियमित विकास सिद्धान्त कहलाती है। ऐसे विचारकों में आदम, स्मिथ, ओथमर स्पान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन विचारकों के अनुसार मुद्रा का जन्म विशिष्टीकरण के साथ हुआ है। आदम स्मिथ का मत है कि मनुष्य में संचय करने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। लेकिन वस्तु–विनिमय–प्रणाली के अन्दर संचय की कोई सुविधा नहीं प्राप्त थी। इस कठिनाई ने ही मुद्रा को जन्म दिया।

मुद्रा के आविष्कार और विकास के सम्बन्ध में विचारों में जो भी मतान्तर हो, यह मानना पड़ेगा कि मुद्रा का जन्म किसी आकस्मिक दुर्घटना अथवा मानसिक उद्वेग के परिणामस्वरूप नहीं बल्कि अनुभव और आवश्यकताओं की तीव्रता के फलस्वरूप हुआ है। पाल इंजिग के शब्दों में "अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति मुद्रा का विकास भी धीरे–धीरे बहुत दिनों में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हुआ है।"

सर्वप्रथम मानव–समाज ने मुद्रा को वस्तुओं अथवा सेवाओं के मूल्यों के सामान्य मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया होगा क्योंकि वस्तुओं के मूल्यों को किसी निश्चित वस्तु के सहारे निर्धारित करने की आवश्यकता सबसे पहले होती है। समस्त वस्तुओं के मूल्यों का सामान्य मापदण्ड मुद्रा का प्रथम मौलिक कार्य होता है।

अतएव मनुष्य ने चेतन अथवा अचेतन रूप से किसी विशेष वस्तु को ही समस्त वस्तुओं के मूल्यों का मापदण्ड माना। उदाहरण के लिए, मान लिया जाय कि वह वस्तु विशेष बकरी है। अब इसी बकरी के मापदण्ड से समस्त वस्तुओं के मुल्यों का निर्धारण होने लगा और इसी के आधार पर समस्त वस्तुओं के एक दूसरे के साथ विनिमय की शर्तें निर्धारित की जाने लगीं। उदाहरण के लिए कहा जाने लगा कि 1 मन चावल का मूल्य 1 बकरी, 10 मन का मूल्य दो बकरियाँ, 1 धोती का मूल्य 1 बकरी, 10

0 नारंगियाँ = 1 बकरी, 1 घोड़े का मूल्य 50 बकरियाँ हैं आदि। इस प्रकार समस्त वस्तुओं का मूल्य–निर्धारण बकरी के मापदण्ड से हाने लगा और बकरी लेखा–जोखा की इकाई के रूप में कार्य करने लगी जो मुद्रा का एक मौलिक कार्य है।

मानव की यह क्रिया हम लोगों के लिए बहुत ही सरल और तुच्छ जान पड़ती है। किन्तु वस्तुतः यह एक महत्वपूर्ण मौलिक आविष्कार था– मुद्रा का आविष्कार था। जैसा कि ज्योफ्रे काउथर ने लिखा है, "हम लोगों के लिए यह आविष्कार अत्यन्त साधारण प्रतीत होता है क्योंकि यह मूल्य के क्षेत्र में उसी विचार का प्रयोग है जिसने लम्बाई की माप करने के लिए फुट और मीटर को, तौल की माप करने के लिए पौंड अथवा ग्राम को, तापक्रम की माप करने के लिए अंश को और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं को उत्पन्न किया है। फिर भी यह निःसंदेह एक आमूल परिवर्तन था– सम्भवतः किसी आलसी प्रतिभा का आविष्कार था जिसने अपने को इस गणना कार्य से पीड़ित पाया होगा कि यदि तीन बुशेल अनाज पाँच केलों के बराबर है, बीस केले एक बकरी के बराबर हैं और बीस बकरियाँ बाघ की एक खाल के बराबर हैं तो बाघ की एक खाल के साथ कितने बुशेल अनाज का विनिमय किया जाय? फिर भी यह निःसंदेह एक आविष्कार था। साधारण वस्तु–विनिमय से मौद्रिक लेखा–जोखा की ओर अग्रसरित होने के लिए मानव की चेतनापूर्ण तार्किक शक्ति की आवश्यकता पड़ी थी।

वस्तु–विनिमय–प्रणाली अभी भी जारी रही। आदान–प्रदान अभी भी प्रत्यक्षतः वस्तुओं से होता रहा। उदाहरण के लिए अीाी भी अनाज का विनिमय बकरियों से, बकरियों का विनिमय घोड़ों से, घोड़ों का विनिमय नारंगियों से और इसी प्रकार अन्य भी विनिमय होते रहे। किन्तु अब इस वस्तु–विनिमय में एक मौलिक अनतर आ गया था– अब समस्त वस्तुओं की विनिमय दर उस एक ही वस्तु के मापदण्ड से निर्धारित की जाने लगी थी जो समस्त वस्तुओं के मूल्यों का सामान्य मापदण्ड अर्थात् मुद्रा बना दी गई थी। यहाँ उस वस्तु विशेष का हमने उदाहरण बकरी दिया है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था अब बकरी मान (goat standard) पर आ गई थी और बकरी ही समस्त वस्तुओं की विनिमय–दरों को निर्धारित करने लगी थी। वस्तुओं की विनिमय–दरों का निर्धारण अब मनमानी रहा। अब मुद्रा का पर्दापण हो चुका था।

किन्तु मूल्य के सामान्य मापदण्ड की व्यवस्था अकेले ही वस्तु–विनिमय–प्रणाली की समस्त कठिनाइयों को दूर नहीं कर सकी। विनिमय के उभय पक्षों को एक साथ लाने की समस्या अभी भी बनी रही। दूसरे शब्दों में, आवश्यकताओं के दोहरे संयोग की कठिनाई अभी भी बनी रही। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति के पास चावल अधिक था और वह चावल के बदले में गेहूँ चाहता था उसके लिए किसी ऐसे व्यक्ति की खोज करने की समस्या अभी भी रही जिसके पास गेहूँ अधिक मात्रा में हो और जो चावल लेकर बदले में गेहूँ दे देना चाहता हो। आवश्यकताओं के दोहरे संयोग के अभाव की यह कठिनाई तब दूर हुई जब कालान्तर में सभ्य मानव ने आदान–प्रदान किसी एक वस्तु के माध्यम से करना प्रारम्भ किया जो सभी प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों को सामान्य मापदण्ड बन गयी थी। यह वस्तु मुद्रा कहलायी और यह मुद्रा अब आदान–प्रदान अर्थात् विनिमय का माध्यम बन गयी।

वस्तुओं के मूल्यों के सामान्य मापदण्ड और विनिमय के माध्यम के रूप में काम करने के कारण मुद्रा का एक तीसरा महत्वपूर्ण कार्य स्पष्ट हो गया– वस्तुओं के मूल्यों के संचय का काम। अब मुद्रा के माध्यम से धन–संचय किया जाने लगा और जब धन का संचय सम्भव हो सका तो मुद्रा चौथा कार्य भी करने लगी– स्थगित देयमान का काम। मूल्य की संचय सुविधा मिल जाने पर विलम्बित भुगतान किया जाना सम्भव हो गया। इन चारों कार्यों के कारण मुद्रा अब पाँचवा काम– मूल्य अन्तरण का काम– भी करने लगी। इस प्रकार अब मुद्रा का उदय हुआ और इसने वस्तु–विनिमय–प्रणाली की कठिनाइओं को दूर कर मौद्रिक–विनिमय–प्रणाली का प्रारम्भ किया।

इस प्रकार वस्तु–विनिमय–प्रणाली की कठिनाइयों के कारण धीरे–धीरे समाज में मुद्रा का विकास हुआ एवं मौद्रिक विनिमय प्रणाली अपनायी गयी। मानव के आर्थिक तथा व्यावसायिक जीवन में मुद्रा के आविष्कार ने एक प्रकार की क्रांति ला दी। क्राउथर के शब्दों में, ''मनुष्य के सभी आविष्कारों में मुद्रा सर्वाधिक मौलिक आविष्कारों में से एक है। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में एक मौलिक आविष्कार होता है। यन्त्र शास्त्र में यह चक्र है, विज्ञान में अग्नि है और राजनीतिशास्त्र में मत है। उसी प्रकार अर्थशास्त्र में, मानव के सामाजिक अस्तित्व के सम्पूर्ण वाणिज्य पक्ष में मुद्रा एक अनिवार्य अन्वेषण है जिस पर शेष सभी आधारित है।''

1.3 वस्तु विनिमय प्रणाली की सीमाएँ

मुद्रा के अभाव में वस्तुओं का एक दूसरे के साथ सीधे रूप में विनिमय किया जाना आवश्यक होगा जिसे हम वस्तु–विनिमय कह सकते हैं। वस्तुओं की संख्या यदि कम हो तो यह चल भी सकता है। किन्तु यदि वस्तुओं की संख्या अनेक होगी तो यह व्यवस्था प्राविधिक रूप में अकार्य–कुशल होगी। इसके दो मूल कारण है।

1. आवश्यकताओं के दोहरे सह–संयोग का अभाव (lack of double coincidence of wants)- वस्तु विनिमय को सफल होने के लिए बहु–संयोग आवश्यक है। विनिमय चाहने वाले किसी व्यक्ति को किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति को पाने की आशा कम होगी जिसके वांछित सौदे उसके स्वयं के सौदों का दर्पण–बिम्ब (mirror-image) हों। ऐसा ''आवश्यकतओं का दोहरा सह–संयोग वैसी अर्थव्यवस्था में शायद ही पाया जा सकता है जिसमें वस्तुओं और सेवाओं की अनन्तता होती है। इसके अभाव में किसी वस्तु का विनिमय करने वाले व्यक्ति को ऐसे किसी भी व्यक्ति से जो कुछ भी मिल पाये उसे लेने के लिए तैयार होना पड़ेगा जो उसकी वस्तु को स्वीकार करने के लिए तैयार है इस आशा में कि सौदे की इस श्रृंखला में अन्ततः उसे वह वस्तु मिल पायेगी जिसे वह चाहता है। इस व्यवस्था में समय और शक्ति प्रयास की बड़ी बर्बादी होगी और वस्तुतः एक जटिल अर्थव्यवस्था को यह असम्भव बना देगी। क्या वस्तु विनिमय के आधार पर आधुनिक विश्वविद्यालय, चिकित्सालय अथवा जहाज निर्माण कारखाने की कल्पना की जा सकती है?

2. अपेक्षित मूल्य अनुपातों की अनेकता (multiplicity of required price rations)- वस्तु विनिमय–प्रणाली की अकार्यकुशलता का दूसरा पहलू यह है कि यह मूल्यों की असाध्य बहुलता को जन्म देती है। वस्तु विनिमय प्रणाली में वस्तुओं के मूल्यों को दूसरी वस्तुओं के रूप में व्यक्त किया जाता है। प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक दूसरी वस्तु के रूप में व्यक्त एक सम्भावित मूल्य होता है। इस तरह एक वस्तु विनिमय प्रणाली में रहने वाले लोगों को वस्तुओं के मूल्यों के बीच अनेक अस्मरणीय संख्याओं को ध्यान में रखना आवश्यक होगा।

अतः इन दो विचारों– वस्तु विनिमय की अकार्य कुशलता और वस्तु विनिमय मूल्यों की बहुलता– को एक साथ विचार में रखने पर यह स्पष्ट होगा कि एक विशिष्टीकृत और जटिल अर्थव्यवस्था का विकास वस्तु विनिमय प्रणाली में नहीं हो सकता था। आधुनिक सभ्यता और आधुनिक ज्ञान का विकास मुद्रा के आविष्कार पर ही निर्भर है।

1.4 मुद्रा का विकास

''मानव –सभ्यता के कतिपय अन्य मूलभूत तत्त्वों की भाँति मुद्रा भी एक अति प्राचीन संस्था–वस्तु है कुछ वर्षों पूर्व हमें इसे जितना प्राचीन समझने के लिए विश्वास दिलाया गया था उससे कही बहुत ही अधिक प्राचीन। इसका आरम्भ उस कुहासे में खो गया है जब अभी बर्फ पिघल रही थी और इसे हिमपात युगों के मानव–इतिहास के स्वर्गिक मध्यान्तरों तक चिह्नित किया जा सकता है जब हेस्परिडीस अथवा अटलांटिक के

द्वीपों अथवा मध्य एशिया के किसी नन्दन वन का मौसम आनन्दमय था और नवीन विचारों के उर्वर रहने के लिए मस्तिष्क स्वतन्त्र था।"

1.5 मुद्रा की परिभाषा

अंग्रेजी भाषा का शब्द 'Money' लैटिन भाषा के शब्द Moneta से बना है। कहा जाता है कि रोम में देवी जूनो के मन्दिर में मुद्रा बनाई जाती थी और देवी जूनो को ही मोनेटा के नाम से पुकारा जाता था। इसके अतिरिक्त लैटिन भाषा में मुद्रा के लिए पैक्यूनियां शब्द का प्रयोग किया जाता है जो पैकस से बना है जिसका अर्थ है पशुधन। पुरातन सभ्यताओं में पशुओं को मुद्रा के रूप में काम में लेने की प्रथा अत्यधिक प्रचलित रही है। इस दृष्टि से मुद्रा शब्द बहुत पुराने समय से ही प्रचलित है। प्राचीन भारत में 'मुद्रा' शब्द का प्रयोग उस संकेत–चिन्ह या परिचय चिन्ह के रूप में किया जाता था जो राजा की ओर से किसी व्यक्ति को प्राप्त होता था। वर्तमान में भी मुद्रा पर सरकारी चिन्ह आवश्यक माना जाता है।

'मुद्रा' से तात्पर्य ऐसी वस्तु से है जिसे एक विस्तृत क्षेत्र में विनिमय–माध्यम, मूल्य–मापन, मूल्य–संचय और मूल्य हस्तान्तरण के साधन के रूप में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो और जो सभी प्रकार के दायित्वों को निपटाने में सहायता करती हो। ऐसी वस्तु का स्वरूप कुछ भी हो सकता है। वास्तविकता यह है कि विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न कालों में अलग–अलग वस्तुओं का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया गया। मुद्रा का प्रारम्भिक रू॰ वस्तु–मुद्रा था। अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुएं, जैसे– पालतू जानवर, खालें, चमड़ा, अनाज, नमक, सीप तथा कौड़ी आदि मुद्रा के रूप में प्रयोग की गई। बाद में कुछ धातुएं व धातुओं के सिक्के मुद्रा के रूप में प्रयोग किए जाने लगे। धातु मुद्रा के बाद पत्र मुद्रा का क्रमिक विकास हुआ। वर्तमान युग में साख मुद्रा का व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा है। इस तरह, मुद्रा वह वस्तु है जिसका प्रयोग जन–साधारण द्वारा वर्तमान तथा भावी भुगतानों के लिए किया जाता है तथा जिसे वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। 'मुद्रा' की परिधि में धात्विक सिक्कों, करेन्सी नोटों और मांग पर देय बैंक जमाओं को सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि इनमें 'सामान्य स्वीकृति' का गुण पाया जाता है। ऐसी तरल परिसम्पत्तियां जिन्हें मुद्रा की तरह सामान्य स्वीकृति तो प्राप्त नहीं होती, लेकिन जिन्हें शीघ्रता एवं सुविधापूर्वक वास्तविक मुद्रा में बदला जा सकता है, 'निकट मुद्रा' कहलाती है। जैसे बैंकों में सावधि जमाएं, सरकारी प्रतिभुतियां एवं बॉण्ड्स, कोषागार विपत्र, ऋणपत्र, विनिमय प्रतिष्ठित कम्पनियों के शेयर्स आदि।

1. मुद्रा की प्रकृति पर आधारित परिभाषाएँ, और
2. आर्थिक विचार–धाराओं पर आधारित परिभाषाएँ

1. मुद्रा को प्रकृति पर आधारित परिभाषाएँ– मुद्रा की प्रकृति पर आधारित परिभाषाएँ तीन वर्गों में बाँटी जा सकती हैं।

(क) क्रियात्मक अथवा वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Functional or Descriptive Definitions)- सामान्य रूप में ये परिभाषाएँ मुद्रा के कार्यों के वर्णन पर आधारित हैं। हार्टले वीदर्स, टॉमस, सिजविक आदि की परिभाषाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। हार्टले वीदर्स के अनुसार "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे।" हार्टले वीदर्स ने मुद्रा के चार प्रमुख कार्यों को बतलाया है अर्थात् विनिमय का माध्यम, समस्त वस्तुओं के मूल्यों का सामान्य मापदण्ड, मूल्य संचय का साधन और उधार लेन–देन की सुविधा देना। जो कोई भी वस्तु इन चारों का सम्पादन कर सके वही मुद्रा है। ऐसी परिभाषाओं के अनुसार मुद्रा के अन्दर केवल धातु के सिक्के और कागज के नोट आदि ही नहीं सम्मिलित किये जाते बल्कि चेक आदि साख–पत्र भी मुद्रा की श्रेणी में आ जाते हैं।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से ऐसी परिभाषाएँ सरल एवं उपयुक्त ज्ञात होती हैं। किन्तु तार्किक दृष्टिकोण से परिभाषा के रूप में सच्चे अर्थ में ये मुद्रा की परिभाषाएं न होकर वर्णन मात्र ही है क्योंकि ये मुद्रा के उन विशेष गुणों को नहीं बतला पाती जो अन्य वस्तुओं से इसके अन्तर को स्पष्ट कर दें। ये मुद्रा के गुणों एवं कार्यों का वर्णन करती है किन्तु वर्णन और परिभाषा में महान् अन्तर है।

(ख) वैधानिक परिभाषाएँ (Legal Definitions)- वैधानिक परिभाषाएं मुद्रा के राज्य सिद्धांन्त पर आधारित है। मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु को सरकार मुद्रा घोषित कर देती है उसी को समाज मुद्रा मानता है। मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक सम्बन्धों में ऋण ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। इसलिए जिस वस्तु को राज्य ऋण के भुगतान का साधन घोषित कर देता है वही वस्तु मुद्रा हो जाती हे। जर्मन अर्थशास्त्री नैप, हाटरे आदि इसी सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। नैप के अनुसार "जो कोई भी वस्तु राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाय वह मुद्रा हो जाती है।" हाटरे ने नैप की परिभाषा में सुधार करने का प्रयास किया। उन्होंने मुद्रा को विधि–ग्राह्य के साथ ही साथ लेखा की इकाई भी बतलाया। उनके अनुसार "मुद्रा के दो पहलू हैं– एक तो यह लेखा की एक इकाई है और, दूसरे, यह एक विधि ग्राह्य मुद्रा है।

मुद्रा की वैधानिक परिभाषाएँ बहुत कुछ अंश तक उचित हैं क्योंकि अनुभव बतलाता है कि जब सरकार एक कागज के

टुकड़े को भी एक सौ अथवा एक हजार रुपये का नोट घोषित कर देती है तो जनता उस कागज को एक सौ अथवा एक हजार रुपया समझने लगती है। उसी प्रकार जब सरकार किसी मुद्रा को वैधानिक रूप देना बन्द कर देती है अर्थात् उसका विमुद्रीकरण कर देती है तो उसका जनता के बीच प्रचलन बिल्कुल बन्द हो जाता है।

यद्यपि ऐसी परिभाषाएँ उचित प्रतीत होती हैं तथापि वस्तुतः ये न तो सिद्धान्त में और न व्यवहार में ही उचित और सत्य हैं। सिद्धान्त में इसलिए उचित नहीं है क्योंकि विनिमय के सिद्धांत के अनुसार विनिमय स्वतन्त्र और ऐच्छिक होता है। किन्तु यदि हम मुद्रा के राज्य सिद्धान्त और उस पर आधारित मुद्रा की परिभाषाओं को स्वीकार करें तो विनिमय न तो स्वतन्त्र होगा और न वह ऐच्छिक ही होगा। मुद्रा की ये परिभाषाएँ व्यवहार में भी सत्य नहीं हैं क्योंकि जैसा कि हमने प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् स्वयं नैप के देश जर्मनी में भी अनुभव किया, जनता ने सरकारी मान्यता–प्राप्त मुद्रा की लेन–देन करना बिल्कुल ही छोड़ दिया क्योंकि गम्भीर मुद्रा स्फीति के कारण सरकार द्वारा घोषित मुद्रा में जनता का विश्वास समाप्त हो गया था। मुद्रा तभी तक मुद्रा रह सकती है। जब तक उसे जनता की सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो और जनता सर्वमान्य रूप में किसी वस्तु को तभी तक मुद्रा स्वीकार कर सकती है जब तक उस वस्तु के मुद्रा होने में जनता का विश्वास हो। यदि जनता का मुद्रा में विश्वास समाप्त हो जाये तो सरकार के किसी भी प्रकार के दंड का भय मुद्रा को जनता की सर्वग्राह्यता नहीं प्रदान कर सकता है।

(ग) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ (Definitions Based on General Acceptability)- बहुत–से अर्थशास्त्रियों के मुद्रा की परिभाषा मुद्रा की सर्वग्रहणीयता के गुण के आधार पर दी है। इस वर्ग की परिभाषाओं का निचोड़ यह है कि किसी वस्तु को मुद्रा कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु को जनता की सर्वस्वीकृति प्राप्त हो। जैसा कि ज्योफ्रे क्राउथर ने लिखा है, "केवल सामान्य स्वीकृति ही मुद्रा की प्रमुख अनिवार्यता है। "क्राउथर, राबर्टसन, केन्स, कोल, एली, केन्ट सेलिगमान, किनले, वाकर, हाम, वाग, मार्शल आदि की परिभाषाएँ मुद्रा की सर्वस्वीकृति पर ही आधारित हैं। इन अर्थशास्त्रियों की परिभाषाएँ स्पष्टतः दो वर्गों में विभक्त हो जाती हैं– संकुचित अर्थ वाली परिभाषाएँ और विस्तृत अर्थ वाली परिभाषाएँ।

प्रो० सेलिगमान के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सर्वस्वीकृति प्राप्त हो।" प्रो० रॉबर्टसन के अनुसार, "मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तु को मूल्य चुकाने अथवा अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों को निपटाने के लिए विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है।" इस प्रकार राबर्टसन के अनुसार जिस किसी वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप में समाज की सर्वमान्यता प्राप्त हो जाती है वही मुद्रा का रूप धारण कर लेती है। लॉर्ड केन्स के अनुसार "मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण समझौतों तथा मूल्य समझौतों का भुगतान किया जाता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय–शक्ति का संचय किया जाता है।"

कोल के मतानुसार "मुद्रा केवल क्रय–शक्ति है अर्थात् एक ऐसी वस्तु है जिससे अन्य वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। यह ऐसी वस्तु है जो साधारणतया और विस्तृत रूप में भुगतान के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती है और सामान्यतया ऋणों के भुगतान के रूप में स्वीकार की जाती है।"

हाम ने मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार दी है, "मुद्रा शब्द का प्रयोग विनिमय माध्यम और मूल्य–मान दोनों ही के लिए किया जाता है।" क्राउथर की परिभाषा भी मुद्रा की सामान्य स्वीकृति पर आधारित है। उनके अनुसार "जो कोई वस्तु विनिमय के साधन रूप में सामान्य रूप से स्वीकार की जाय और जो साथ ही साथ मूल्य के मापक और मूल्य संचय का कार्य करे वह मुद्रा कहलाती है।

मुद्रा की ऐसी परिभाषाओं के अनुसार चेक, विनिमय पत्र, ड्राफ्ट आदि जैसे साख पत्र मुद्रा की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते क्योंकि ये विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यतः स्वीकृत नहीं किए जाते हैं। ऐसे साख–पत्रों की स्वीकृति व्यक्तियों द्वारा तभी की जाती है जब व्यक्ति एक दूसरे से परिचित हो और उनमें पारस्परिक विश्वास हो। एसी परिभाषाओं के अनुसार उसी वस्तु को मुद्रा कहा जा सकता है जिसे लेन–देन के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा सामान्य रूप से बिना हिचकिचाहट के ही स्वीकार किया जाता है।

निष्कर्ष– मुद्रा की इन सभी विभिन्न परिभाषाओं की ध्यानपूर्वक छानबीन करने पर स्पष्ट होगा कि इनमें से कुछ परिभाषाएँ बहुत ही व्यापक हैं तो कुछ बहुत ही संकीर्ण हैं। हार्टले वीदर्स आदि जैसे लोगों की परिभाषाएँ अत्यन्त ही व्यापक हैं क्योंकि यदि मान लिया जाय कि मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे तो बहुत–सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो मुद्रा के कुछ कार्यों का संपादन करती हैं किन्तु तब भी उन्हें मुद्रा नहीं कहा जा सकता। नैप, हाटरे आदि की परिभाषाएँ सिद्धान्तः एवं व्यवहारतः दोषपूर्ण हैं। उसी प्रकार कोल, केन्स रॉबर्टसन, एली, सेलिगमान आदि की परिभाषाएँ भी दोषपूर्ण हैं क्योंकि ये परिभाषाएँ भी मुद्रा के सभी गुणों और कार्यों को स्पष्ट नहीं करती। यद्यपि ये परिभाषाएँ मुद्रा की सामान्य स्वीकृति जैसे महत्वपूर्ण तथ्य पर जोर देती हैं तथापि ये इस तथ्य को स्पष्ट नहीं करती कि मुद्रा को सामान्य स्वीकृति क्यों प्राप्त होती है। मुद्रा की परिभाषा संतोषजनक और उचित तभी हो सकती है जब उसमें मुद्रा की सभी सामान्य विशेषताओं तथा गुणों का समावेश हो।

यद्यपि ऊपर वर्णित विभिन्न अर्थशास्त्रियों की मुद्रा सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाएँ पृथक्–पृथक् रूप में संतोषजनक नहीं कही जा सकती हैं फिर भी इनमें से लगभग सभी मुद्रा की सामान्य स्वीकृति और विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करने के गुणों पर जोर देती हैं। मुद्रा के लिए ये दोनों ही गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुद्रा की सामान्य स्वीकृति भी सीमित होती है– मुद्रा को सामान्य स्वीकृति किसी समाज विशेष में ही प्राप्त होती है, सर्वत्र सभी समाजों में नहीं। जैसा कि वाग का कहना है, "कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो सभी स्थानों में सामान्य रूप से स्वीकार की जाती हो और इस अर्थ में मुद्रा सर्वथा स्थानीय होती है। कुछ स्थानों में यह मुद्रा हो सकती है और अन्य स्थानों में इसे नहीं भी स्वीकार किया जा सकता है।"

उदाहरण के लिए भारत में रूपया मुद्रा है और इसे यहाँ पर सभी लोग स्वीकार करते हैं किन्तु अमेरिका में नही। उसी प्रकार अमेरिका में डालर मुद्रा है किन्तु भारत में नहीं क्योंकि भारत में अमेरिकी डालर को सामान्य स्वीकृति नहीं प्राप्त हो सकती। मुद्रा की संतोषपूर्ण परिभाषा वह होगी जो मुद्रा के वर्ग एवं उसके अन्तरकारी गुण को स्पष्ट कर सके अर्थात् जो मुद्रा के सभी प्रमुख गुणों को स्पष्ट कर सके। इस प्रकार हम कह सकते है कि "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य रूप में मूल्यों के मापदण्ड तथा विनिमय के माध्यम तथा मूल्य संचय के साधन के रूप में स्वीकार किया जाय।"

2. **आर्थिक विचारधारा के आधार पर परिभाषाओं का वर्गीकरण**– विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा की दी गई परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि जबकि कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के प्रति संकुचित दृष्टिकोण अपनाया है तो कुछ दूसरे अर्थशास्त्रियों के इसके प्रति बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है।

1. **मुद्रा के प्रति संकुचित दृष्टिकोण**– संकुचित दृष्टिकोण पर आधारित परिभाषाएँ मुद्रा के दो मूल रूपें को स्पष्ट करती हैं :

(क) मुद्रा का अमूर्त रूप तथा

(ख) मुद्रा का मूर्त रूप।

मुद्रा का अमूर्त रूप मुद्रा के मूल्य मापक तत्व को व्यक्त करता है और इसे लेखा की इकाई के रूप में देखता है। स्वीडेन के अर्थशास्त्री कैसल के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो अन्य वस्तुओं का मूल्य मापन करने के लिये एक सामान्य माप–दण्ड का कार्य करती है। मुद्रा का प्रमुख मौद्रिक कार्य एक ऐसी गणना के आधार का कार्य करना है जिसके द्वारा विनिमय की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य निश्चित किए जा सकें।" मुद्रा के मूर्त रूप के अंतर्गत उन सभी विभिन्न प्रकार के सिक्कों और पत्र–मुद्राओं का सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न भुगतानों के लिये प्रयोग की जाती है।

मुद्रा की अधिकांश परिभाषाओं में मुद्रा के केवल मूर्त रूप को ही महत्व दिया गया है। लेकिन मुद्रा की एक उचित परिभाषा में मुद्रा के मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूपें को सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। अतः मुद्रा के संकुचित दृष्टिकोण में दो मुख्य दोष स्पष्ट हैं–

(1) मुद्रा के मूर्त रूप के अंतर्गत केवल सिक्कों तथा कागजी नोटों को ही सम्मिलित किया जाता है। चेक, ड्राफ्ट, विनिमय बिल आदि साख पत्रों को मुद्रा नहीं माना जाता। लेकिन यह एक वैधानिक दृष्टिकोण है और मुद्रा के वास्तवकि रूप को व्यक्त नहीं कर पाता।

(2) इस दृष्टिकोण में मुद्रा के केवल कुछ ही कार्यों का संकेत किया गया है, सभी का नही। अतः यह दृष्टिकोण अपूर्ण है।

2. **मुद्रा के प्रति व्यापक दृष्टिकोण**– आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा में उन सभी वस्तुओं को सम्मिलित कर लिया है जो मुद्रा का कार्य करती है। वाकर तथा हार्टले बिदर्स के अनुसार "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे।" कार्ल हैलफरिक ने तो मुद्रा की इतनी व्यापक परिभाषा दी है कि उससे मौद्रिक प्रणाली का संबंध लगभग संपूर्ण अर्थव्यवस्था से स्थापित हो जाता है। उनके शब्दों में "मुद्रा का अर्थ वे सभी वस्तुएँ और संस्थाएँ हैं जो एक निश्चित क्षेत्र तथा एक निश्चित प्रणाली में आर्थिक व्यक्तियों के बीच आर्थिक सहयोग अर्थात् मूल्य के अन्तरण में सुविधा पहुँचाती हैं।"

स्पष्टतः मुद्रा के प्रति व्यापक दृष्टिकोण में उन सभी वस्तुओं को मुद्रा की संज्ञा दी जाती है जिसका प्रयोग जनता द्वारा वर्तमान और भविष्य के भुगतान के लिये किया जाता है चाहे उनमें किसी प्रकार का 'निहित मूल्य' हो अथवा नहीं। उनका वैधानिक रूप से सामान्यतः स्वीकार्य होना भी आवश्यक नहीं है। उस व्यापक अर्थ में मुद्रा की परिभाषा करते समय उसे वैधानिकता के साथ जोड़ना वास्तविकता नहीं है। इस दृष्टिकोण में धातु सिक्के तथा करेन्सी नोट ही मुद्रा नहीं है बल्कि चेक, बिल, बैंक नोट आदि वे सभी वस्तुएँ मुद्रा है जिनसे भुगतान सम्पन्न होता है।

इस प्रकार मुद्रा सम्बन्धी आधुनिक विचारधारा मुद्रा के व्यापक रूप पर आधारित है। इस व्यापक अर्थ में मुद्रा के अंतर्गत निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है–

1. वास्तविक मुद्रा अथवा सामान्य मुद्रा अथवा सरकारी मुद्रा जिसमें सिक्के और केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये नोट शामिल हैं।

2. बैंक मुद्रा अथवा बैंक निक्षेप जिनको कोई भी जमा–कर्ता चेक लिख कर बैंक से निकाल सकता है। सावधि जमाओं को जमाकर्ता अपनी इच्छानुसार किसी भी समय बैंक से वापस नहीं ले सकते हैं। परिणामतः इन जमाओं में मुद्रा की प्रमुख विशेषता– तरलता का अभाव रहता है। अतः सावधि जमाओं को मुद्रा के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

रैडक्लिफ समिति के मत में "मुद्रा में बैंकों के बाहर परिचालित नोट तथा लन्दन, स्काटलैंड तथा उत्तरी आयरलैंड के बैंकों के कुल शुद्ध निक्षेप शामिल है।" मुद्रा की यह व्यापक परिभाषा यह मानती है कि वर्तमान युग में बैंकों के निक्षेप भुगतान के लिये उसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं जिस प्रकार कागज के नोट अथवा धातु मुद्रा क्यों कि विकसित देशों में अधिकांश भुगतान चेकों द्वारा ही किए जाते हैं। प्रो० हॉम के अनुसार, "इन दॉवों को चाहे हम मुद्रा कहें अथवा बैंक मुद्रा कहें अथवा जमा मुद्रा अथवा बैंक चेक मुद्रा की संज्ञा दें, इसमें संदेह नहीं है कि इन सबको विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जा सकता है और इसलिये मुद्रा के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।"

आधुनिक अर्थ–व्यवस्थाओं में साख मुद्रा का महत्व क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। इसलिए ऐसी अवस्था में मुद्रा संबंधी

व्यापक दृष्टिकोण अधिक उचित प्रतीत होता है। प्रो० कोलबोर्न ने व्यापक दृष्टिकोण वाली परिभाषाओं को सामान्य स्वीकृति का व्यावसायिक दृष्टिकोण बतलाया है।

1.6 तरलता की धारणा

आधुनिक मौद्रिक विचारधारा मुद्रा के व्यापक रूप पर आधारित है। आजकल मुद्रा के अन्तर्गत उन सभी साधनों को सम्मिलित किया जाने लगा है जिनमें 'तरलता' का गुण पाया जाता है। मेनिंग डेसी ने बतलाया है कि कोई भी परिसम्पत्ति पूर्णतया तरल होती है यदि उसका स्वामी उसको नगदी में किसी भी समय बदलने के संबंध में पूरी तरह निश्चित हो। नगद मुद्रा सर्वाधिक तरल परिसम्पत्ति है क्योंकि यह बिना किसी विलम्ब, कठिनाई अथवा क्षति के विनिमय–साध्य है।

अतः मुद्रा की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी तरलता है जो इसे अन्य सम्पत्तियों से भिन्न और विशिष्ट कर देती है। तरलता के गुण के कारण मुद्रा को लोग भुगतान के रूप में तत्काल ही स्वीकार कर लेते हैं। इस दृष्टि से भारतीय चाँदी के सिक्के को अंतरर्राष्ट्रीय मुद्रा कहा जा सकता हैं क्योंकि ये देश के बाहर भी संपूर्ण विश्व में भुगतान में स्वीकार किये जा सकते हैं। दूसरे, मुद्रा में तरलता होने के कारण भविष्य में मुद्रा के मूल्य के संबंध में अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से कम्पनियों के शेयर, जिनके मूल्यों में शेयर बाजार में प्रायः उच्चावचन होते रहते हैं, तरल नहीं कहे जा सकते। तीसरे, तरलता के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति और उसका विक्रय मूल्य एक ही समान होता है परन्तु अन्य परिसम्पत्तियों के क्रय मूल्य उनके विक्रय मूल्य के बराबर नहीं होते। उदाहरण के लिये जब कोई विद्यार्थी "मौद्रिक अर्थशास्त्र" नामक पुस्तक को पुस्तक विक्रेता से खरीद लेता है तो तत्काल ही पुस्तक का मूल्य कम हो जाता है। जब वही विद्यार्थी उसी पुस्तक को पुनः बेचता है तो उसका विक्रय मूल्य उसके क्रय मूल्य से कम होगा। परन्तु मुद्रा का विक्रय मूल्य सदा इसके क्रय मूल्य के बराबर होता है क्योंकि मुद्रा के रूप में 1 रुपये का मूल्य सदैव एक ही रुपया रहता है।

मूल्य का संचय नकद–मुद्रा के अतिरिक्त अनेक प्रकार की अन्य परिसम्पत्तियों के रूप में भी किया जाता है। इनमें से बैंकों में रखे गए चालू और बचत निपेक्ष, अल्प कालीन ऋण व अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों जैसी कुछ परिसम्पत्तियाँ विनिमय–साध्यता और विपण्यता के गुण होने के कारण लगभग नकद मुद्रा के ही समान तरल होती है। किन्तु दूसरी ओर निश्चित कालीन निक्षेप अथवा सावधि जमाएँ, बचत प्रमाणपत्र, ट्रेजरी बिल आदि कुछ ऐसी परिसम्पत्तियाँ होती है जिन्हें नकद–मुद्रा में बदलने में कुछ समय लगता है परन्तु इनसे प्राप्त हो सकने वाली आय को यदि छोड़ दिया जाय तो इन्हें भी नकद–मुद्रा में बदला जा सकता है। इसलिये ऐसी परिसम्पत्तियाँ भी तरल परिसंपत्तियाँ ही हैं। इन्हें 'समीप मुद्रा' अथवा नगद मुद्रा अर्थात् चलन की मात्रा को भी प्रभावित करती है। इन्हीं कारणों से आजकल मुद्रा के अंतर्गत नगद मुद्रा को ही नहीं बल्कि सभी तरल परिसम्पत्तियों (समीप मुद्रा) को भी सम्मिलित करने की धारणा को व्यापक समर्थन मिल रहा है।

1.7 मुद्रा के कार्य

साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों– विनिमय–माध्यम, मूल्य–मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा मूल्य–संचय का ही उल्लेख किया जाता है। परन्तु यथार्थ में मुद्रा के कार्य काफी व्यापक हैं। किनले ने इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है।

(1) मुद्रा की अनिवार्य सेवाएँ जिन्हें मुख्य अथवा प्राथमिक कार्य कहा जा सकता है।

(2) मुद्रा के व्युत्पन्न कार्य जिन्हें सहायक कार्य कहा जा सकता है।

(3) आकस्मिक कार्य।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी कार्य हैं। जिन्हें हम अन्य कार्य कह सकते हैं।

(क) प्राथमिक कार्य (Primary Functions)- प्राथमिक कार्य मुद्रा के ऐसे कार्य हैं जिन्हें आधारभूत कार्य, अनिवार्य कार्य तथा मौलिक कार्य भी कहा जाता है, क्योंकि इन कार्यों को मुद्रा ने प्रत्येक काल, प्रत्येक देश तथा स्थिति में किया है, चाहे इसका निजी स्वरूप कुछ भी रहा हो। इस प्रकार के कार्य दो हैं।

(1) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)– चूँकि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण होता है, अतः यह विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है। वस्तु–विनिमय काल में दोहरे संयोग के अभाव एक बहुत बड़ी कठिनाई थी, जिसे मुद्रा के प्रयोग ने ही हल किया है। अब विनिमय–कार्य दो भागों में बँटा रहता है– प्रथम, वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बदलना, जिसे 'विक्रय' कहते हैं, दूसरे, मुद्रा के बदले अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ अथवा सेवाएँ प्राप्त करना, जिसे 'क्रय' कहते हैं। वर्तमान युग में सम्पूर्ण विनिमय युग में सम्पूर्ण विनिमय मुद्रा के माध्यम से ही होता है।

(2) मूल्य–मापक (Measure of Value)– विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन मुद्रा के मापदण्ड द्वारा ही किया जाता है और इसी आधार पर विनिमय–अनुपात का निर्धारण होता है। क्राउथर ने लिखा है कि "मुद्रा लेखे की इकाई के रूप में कार्य करती है। यह मूल्य के मापदण्ड अथवा सर्वमान्य मापक का, जिससे अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है, कार्य करती है।"

मूल्यमापक के रूप में मुद्रा ने आर्थिक हिसाब को बहुत सरल बना दिया है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार मीटर कपड़े की लम्बाई का एक निश्चित मापक है उसी प्रकार मुद्रा मूल्यों की निश्चित मापक नहीं है। मुद्रा सामूहिक मापक का कार्य करते हुए भी अपने मूल्य में स्थिर नहीं रहती। मुद्रा का मूल्य परिवर्तनशील होता है, सर्वदा एकसा नहीं रहता।

(ख) सहायक अथवा गौण कार्य (Subsidiary or Derived Functions)- मुद्रा के कुछ कार्य एसे हैं जो प्राथमिक कार्यों में सहायक हैं और जिनका महत्व अर्थ–व्यवस्था के विकास के साथ–साथ बढ़ता रहा है। इस श्रेणी में तीन कार्यों का उल्लेख किया जाता है।

(1) स्थगित भुगतानों का आधार (Basis of Deferred Payments)– ऐसे भुगतान जिन्हें तत्काल न कर भविष्य के लिए स्थगित किया जाय, उनके लिए मुद्रा ही आधार है। देशी अथवा विदेशी ऋण तथा उनकी ब्याज मुद्रा में ही तय होते हैं। इस कार्य के लिए मुद्रा अधिक उपयुक्त आधार है, क्योंकि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा का मूल्य अधिक स्थिर होता है, इसमें टिकाऊपन भी अधिक है, तथा इसमें सामान्य स्वीकृति का गुण होता है।

इस सम्बन्ध में जो एक समस्या सामने आती है वह यह है कि पत्र–मुद्रा के विकास के साथ–साथ मुद्रा की मूल्य–स्थिरता कम होती गयी है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से कभी तो ऋणियों को और कभी ऋणदाताओं को हानि उठानी पड़ती हैं यह दोष होते हुए भी भावी भुगतानों के लिए मुद्रा से अधिक अच्छा कोई अन्य आधार नहीं है।

(2) मूल्य–संचय का आधार (Basis on Store of Value)– वस्तु–विनिमय प्रणाली में भविष्य के लिए बचत करना कठिन अथवा असम्भव था। परन्तु मुद्रा के प्रयोग द्वारा मूल्य–संचय का कार्य अत्यन्त सरल

हो गया है। मुद्रा में टिकाऊपन अथवा अक्षयशीलता का गुण है। थोड़े से स्थान में सुविधा से सुरक्षापूर्वक इसे जमा किया जा सकता है। इस पर ब्याज भी कमायी जा सकती है।

आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि अधिक मात्रा में पूँजी–संचय हो। मुद्रा का मूल्य स्थिर बनाये रखना आवश्यक है ताकि लोग अपनी बचतें स्वर्ण, भुमि अथवा किसी अन्य रूप में न रखने लगे।

(3) मूल्य हस्तांतरण का साधन (Means Transfer of Value)- आधुनिक काल में विनिमय का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। वहनीयता के गुण के कारण मुद्रा के रूप में क्रय–शक्ति अथवा मूल्य का हस्तांतरण सुविधापूवर्क किया जा सकता है। इसी कार्य के परिणामस्परूप आर्थिक जीवन में गतिशलीता बढ़ी है और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिला है।

(ग) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)- किनले के अनुसार प्रत्येक उन्नत अर्थ–व्यवस्था में मुद्रा मुख्य तथा सहायक कार्यों के अतिरिक्त चार आकस्मिक कार्य भी करती है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) सामाजिक आय का वितरण (Distribution of Social Income)– आज के युग में उत्पादन का रूप अत्यन्त जटिल एवं विशाल हो गया है, जिसके लिए उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सहयोग लिया जाता है। कुल उत्पादन तथा उससे प्राप्त होने वाली आय इन सभी साधनों के सामूहिक प्रयास का परिणाम होती है, और उसका वितरण इस सब में, इनके सहयोग की मात्रा के अनुसार करना होता है। यह कार्य मुद्रा द्वारा सहज ही कर लिया जाता है। मुद्रा के इस कार्य के परिणामस्वरूप ही बड़े–बड़े कारखानों द्वारा उत्पादन करना सम्भव हुआ है।

(2) विभिन्न मदों पर व्यय से सम–सीमान्त उपयोगिता की पाप्ति (Equalization of Marginal Utility in Expenditures)– मुद्रा के प्रयोग से ही यह सम्भव हुआ है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुओं पर व्यय इस प्रकार करे कि सभी वस्तुओं से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। इस प्रकार मौद्रिक आय की सहायता से अधिकांश व्यक्तियों को ऐसे लाभ प्राप्त होते हैं जिनसे किसी अन्य को कोई हानि नहीं होती है।

(3) साख–व्यवस्था का आधार (Basis of a Credit System)– आज का व्यापार साख पर आधारित है, और साख का आधार मुद्रा ही है। साख–पत्रों, जैसे चैक, ड्राफ्ट, विनिमय बिल आदि का प्रयोग विस्तृत रूप में किया जाने लगा है और बैंक साख का निर्माण करते हैं। यह सब तभी सम्भव हो पाता है जब बैंकों के पास कोष में मुद्रा जमा हो। मुद्रा साख के निर्माण का आधार है।

(4) पूँजी को एक सामान्य रूप देना (Imparting of a General From to Capital)– मुद्रा धन अथवा पूँजी के अनेक रूपें, जैसे मकान, जमीन, पशु आदि को एक सामान्य रूप प्रदान करती है, क्योंकि इन सभी को मुद्रा में बदला जा सकता है। इससे पूँजी की तरलता तथा गतिशीलता में वृद्धि होती है। और पूँजी की उत्पादकता बढ़ती है। मुद्रा उत्पत्ति का एक साधन न होते हुए भी उत्पादकता का विस्तार करने और उसे अधिकतम स्तर तक पहुँचाने में सहायक होती है। मुद्रा रखने वाले व्यक्ति को इससे जो सामाजिक व आर्थिक शक्ति प्राप्त होती है, धन के अन्य किसी रूप से प्राप्त नहीं की जा सकती है। बिक्री की जाने वाली सभी वस्तुओं व सेवाओं पर सामान्य अधिकार स्थापित करने वाली शक्ति मुद्रा ही है।

(घ) अन्य कार्य (Other Functions)- मुद्रा के उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त तीन और कार्य भी बताये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) तरलता–दायक (Money as Liquid Asset)– केन्स के विचार में मुद्रा का एक महत्वपूर्ण कार्य पूँजी तथा धन को तरलतम रूप प्रदान करना है। धन को मुद्रा के रूप में रखने के तीन उद्देश्य हो सकते हैं– कार्य–सम्पादन उद्देश्य, सुरक्षा–उद्देश्य, तथा सट्टा उद्देश्य। मुद्रा के रूप में पूँजी को किसी भी उद्देश्य के लिए लगाया जा सकता है।

(2) निर्णय–वाहक (Bearer of Option)– ग्राहम के मतानुसार मुद्रा के रूप में की गयी बचत भविष्य में किसी भी उद्देश्य के लिए काम में लायी जा सकती है। चूँकि मनुष्य के उद्देश्य बदलते रहते हैं, इसलिए

मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में यह गुण नहीं है कि वह किसी निर्णय के अधीन किसी भी उद्देश्य के लिए काम में लायी जा सके।

(3) **शोधन–क्षमता सूचक (Guarantor of Solvcency)**– आर. पी. केण्ट के अनुसार, किसी व्यक्ति अथवा संस्था के पास तरल मुद्रा उसकी भुगतान शोधन–क्षमता की गारण्टी होती है। दायित्वों का भुगतान न कर पाने पर उन्हें दिवालिया मान लिया जाता है। मुद्रा इस बात की सूचक है कि शोधन–क्षमता को कहाँ तक बनाये रखा जा सकता है।

1.8 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य

पाल इन्जिग के अनुसार मुद्रा के कार्य दो प्रकार के हैं– स्थैतिक कार्य वे हैं जिनसे अर्थ–व्यवस्था का संचालन होता है, परन्तु इनसे गति अथवा वेग उत्पन्न नहीं होता है। इस आधार पर विनिमय–माध्यम, मूल्यमापक, क्रय–शक्ति के संचय, हस्तान्तरण अथवा स्थगित भुगतान के रूप में मुद्रा के मुख्य एवं सहायक कार्य स्थैतिक कार्य हैं, क्योंकि इनसे प्रत्यक्ष रूप से वेग उत्पन्न नहीं होता। मुद्रा के स्थैतिक कार्यों को निष्क्रिय कार्य, परम्परागत कार्य, स्थिर कार्य तथा तकनीकी कार्य भी कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक स्थान व प्रत्येक स्थिति में मुद्रा इन कार्यों को यन्त्रवत् करती रहती है। दूसरी ओर प्रावैगिक कार्य वे हैं जिनसे आर्थिक गति प्राप्त होती है, अर्थात् वे मूल्य–स्तर, रोजगार–स्तर तथा उत्पादन आदि में परिवर्तन लाते हैं। पूँजी को तरलता एवं उत्पादकता के गुण प्रदान करना एवं साख के आधार–रूप में कार्य करना प्रावैगिक कार्य हैं, क्योंकि इनसे गति उत्पन्न होती है। वर्तमान युग में मुद्रा के प्रावैगिक कार्यों का महत्व बहुत बढ़ गया है। मुद्रा के प्रावैगिक कार्यों तथा उनके सम्भावित प्रभावों को ध्यान में रखकर ही सरकारों तथा केन्द्रीय तथा केन्द्रीय बैंकों द्वारा मौद्रिक नीतियों का निर्धारण तथा संचालन किया जाता है।

मुद्रा द्वारा स्थैतिक कार्य ठीक प्रकार से तभी सम्पन्न किये जा सकते हैं जब मुद्रा के मूल्य में लगभग स्थिरता की स्थिति रहती है। इसके विपरीत, प्रावैगिक कार्यों कार्यों के लिए तो कुछ परिस्थितियों में स्थिरता का त्याग करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा ठीक प्रकार से कार्य तभी कर पाती है जब इसका उपयोग एक उपयुक्त मौद्रिक नीति के अन्तर्गत किया जाय।

1.9 सारांश

वास्तव में आर्थिक विकास के साथ–साथ मुद्रा के कार्यों का भी विकास होता रहा है, और आज भी मुद्रा के कार्यों का विकास रुका नहीं है। "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे"। इस कथन में मुद्रा के कार्यों में परिवर्तनशीलता का आभास मिलता है। डच अर्थशास्त्री पियर्सन के अनुसार मुद्रा रेलवे स्टेशन पर शेंटिंग करने वाले इंजन की तरह है जो एक समय डिब्बों की एक पंक्ति को खींचता है, और दूसरे समय दूसरी को ढकेलता है। इस प्रकार इसका कार्य सभी डिब्बों को सही पटरियों पर लाना होता है जिससे वे निश्चित स्थान में पहुंचने में समर्थ हो सकें किन्तु स्टेशन में कभी नहीं जाता।

1.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा का जन्म किस प्रकार हुआ है? मुद्रा के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2- वस्तु विनिमय की कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा के प्रयोग द्वारा

कैसे और कहां तक इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है?

प्रश्न 3- मुद्रा के कार्य को विस्तारपूर्वक समझाइए।

1.11 शब्दावली

अविभाज्यता	:	Indivisility
लेखे के इकाई	:	Unit of Account
प्रमापीकरण	:	Standardisation
सन्निकट मुद्रा	:	Near Money
विधिग्राहता	:	Legal Tender
ऐच्छिक मुद्रा	:	Optional Money

1.12 संदर्भ सूची

G. Crowther	:	An Outline of Money, Chapter 1.
D. H. Robertson	:	Money, Chapter 1.
J. M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol. 1, Chapter 1
I. V. Chandler	:	The Economics of Money and Banking Chanpter 1
M. L. Jhingan	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र

इकाई–2 मुद्रा का वर्गीकरण

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 केन्स का वर्गीकरण

2.3 राबर्टसन द्वारा वर्गीकरण

2.4 सारांश

2.5 बोध प्रश्न

2.6 शब्दावली

2.7 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

समय–समय पर मुद्रा ने विविध रूप धारण किए हैं। मुद्रा के विभिन्न स्वरूप को समझना इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है। जैसे–

1. प्रकृति के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है? इस बात की जानकारी करना।
2. वैधानिक मान्यता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण किस प्रकार किया है। इस बात की जानकारी प्राप्त करना।
3. ऋणों के आधार पर मुद्रा को किन वर्गों में विभाजित करना। इस बात की जानकारी प्राप्त करना।
4. मुद्रा पदार्थ के आधार पर किस प्रकार विभाजित होता है? इस बात की जानकारी रखना।
5. एक अच्छे मुद्रा पदार्थ के क्या गुण हैं? इस बात की जानकारी करना। इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

2.1 प्रस्तावना

मुद्रा समाज में विभिन्न समय कालों में विभिन्न रूपें में प्रचलित रही है। मुद्रा के विकास के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में पशु जैसे भेड़, बकरी, ऊँट, गाय, घोड़े, इत्यादि मुद्रा माने जाते थे। धीरे–धीरे सजीव से निर्जीव वस्तुओं को मुद्रा माना जाने लगा जैसे खाल, हाथी दाँत, सींग इत्यादि मुद्रा बने। तत्पश्चात् समय के बीतने पर इसका स्थान धातु मुद्रा को प्राप्त हो गया था। धातु–मुद्रा का प्रयोग उसकी कुछ मौलिक असुविधाओं के कारण धीरे–धीरे कम होता चला गया और समय बीतने पर इसके स्थान पर पत्र–मुद्रा तथा साखमुद्रा का प्रयोग बढ़ता गया। इस प्रकार वस्तु मुद्रा से धातु मुद्रा, धातु मुद्रा से पत्र मुद्रा और पत्र मुद्रा से साख मुद्रा इत्यादि का उदय होता चला गया। मुद्रा के इन्हीं रूपें का अध्ययन करने के लिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने निम्न आधारों पर मुद्रा का वर्गीकरण किया है। जो इस प्रकार है–

2.2 केन्स के वर्गीकरण

केन्स के द्वारा मुद्रा के किए गए वर्गीकरण को इस प्रकार बतलाया जा सकता है। प्रारम्भ में ही केन्स ने वास्तविक मुद्रा और लेखा की मुद्र के बीच अन्तर किया है। इनके अनुसार लेखा की मुद्रा वह मुद्रा है जिसमें ऋण, मूल्य और सामान्य क्रय–शक्ति की अभिव्यक्ति की जाती है और वास्तविक मुद्रा वह है "जिसको देकर ऋण–संविदाएं और मूल्य–संविदाएँ पूरी की जाती हैं और जिसके रूप में सामान्य क्रय–शक्ति का संचय किया जाता है।" इस प्रकार यह मालूम पड़ता है कि लेखा की मुद्रा के साथ इसके सम्बन्ध से उद्भूत होता है। यह एक ही चीज को दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने का मामला है। लेखा की मुद्रा होगी यदि हम इसे क्रय–शक्ति को बतलाने वाला मानें जिसका अर्थ यह है कि एक इकाई किसी वस्तु की कुछ इकाइयों, उदाहरण के लिए 4 इकाइयों को लाती है। यही मुद्रा बन जाती है यदि हम इसे क्रयशक्ति के रूप में वस्तुओं पर किसी के अधिकार के रूप में मानते हैं। लेखा की मुद्रा को केन्स ने दो भागों में बाँटा है–

(1) वास्तविक मुद्रा अथवा राजकीय मुद्रा

(2) बैंक मुद्रा अथवा ऋण–स्वीकृतियाँ

जो मुद्रा राज्य द्वारा जारी की जाती है उसे वास्तविक मुद्रा अथवा राजकीय मुद्रा कहा जाता है जिसमें केन्स के अनुसार "न केवल वही मुद्रा शामिल होती है जो स्वयं ही अनिवार्य विधि–ग्राह्य मुद्रा है भी जो राज्य अथवा केन्द्रीय बैंक स्वयं भुगतान पाने में अथवा अनिवाग्र विधि ग्राह्य मुद्रा का विनिमय करने में स्वीकार करने का वचन देता है।" ऋण स्वीकृतियों को केन्स ने बैंक मुद्रा भी बतलाया है। बैंक मुद्रा को केन्स ने इस प्रकार परिभाषित किया है– "लेखा की मुद्रा में व्यक्त निजी ऋणों की वह स्वीकृति जो किसी सौदे का भुगतान करने के लिए वास्तविक मुद्रा के विकल्प के रूप में एक दूसरे द्वारा प्रयोग में लायी जाती है।" इस प्रकार से परिभाषित करने पर बैंक मुद्रा अब निजी ऋणों का प्रतिनिधित्व नहीं करती वरन् राज्य द्वारा लिए गए ऋण का भी प्रतिनिधित्व करती है। उस अवस्था में सरकारी ऋण को स्वयं ही सरकार के किसी दायित्व के भुगतान के लिए स्वीकार्य बना दिया जाता है। बैंक मुद्रा का जो भाग इस प्रकार से राजकीय मुद्रा बना दिया जाता है उसे केन्स ने प्रतिनिधित्व मुद्रा कहा है जो एक प्रकार से बैंक मुद्रा को राजकीय मुद्रा के साथ जोड़ती है।

राजकीय मुद्रा को केन्स ने पुनः तीन वर्गों में विभक्त किया है–

(1) वस्तु मुद्रा

(2) प्रबधित मुद्रा

(3) प्राविष्ट मुद्रा।

केन्स के अनुसार वस्तु मुद्रा "किसी ऐसी मुक्त रूप से प्राप्य, एकाधिकृत वस्तु की वास्तविक इकाइयों से बनती है जिसे मुद्रा के सुपरिचित कार्यों के लिए चुना जाता है लेकिन जिसकी पूर्ति किसी भी अन्य वस्तु की तरह दुलर्भता और उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होती है।

प्रबन्धित मुद्रा और **प्रादिष्ट मुद्रा** राजकीय मुद्रा के ही दो भेद हैं जो प्रतिनिधि मुद्रा से उद्भूत होते हैं। प्राविष्ट मुद्रा वह प्रतिनिधि मुद्रा है जिसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। इसकी सृष्टि और निर्गमन राज्य द्वारा होता है यह विधान के अनुसार स्वयं अपने को छोड़कर किसी अन्य वस्तु में नहीं बदली जा सकती और किसी वस्तु गत मान के रूप में इसका कोई निश्चित मूल्य नहीं होता। प्रबन्धित मुद्रा प्रादिष्ट मुद्रा से दो अर्थों में भिन्न होती है। यह विधान के अनुसार परिवर्तनशील होती है और किसी वस्तुगत मान के रूप में इसका एक निश्चित मूल्य होता है। इस अर्थ में यह वस्तु मुद्रा के ही समान होती है। इसी लिए केन्स ने प्रबन्धित मुद्रा को "वस्तु मुद्रा और प्राविष्ट मुद्रा का वर्ण–संकर"।

इस प्रकार केन्स द्वारा मुद्रा का वर्गीकरण मूख्यतः चार प्रकार की मुद्राओं को दिखाता है–

(1) बैंक मुद्रा (2) वस्तु मुद्रा

(3) प्रादिष्ट मुद्रा (4) प्रबन्धित मुद्रा।

अन्तिम तीनों मुद्राएँ वास्तविक मुद्रा अथवा राजकीय मुद्रा के ही तीन वर्ग हैं। केन्स द्वारा मुद्रा के किए गए वर्गीकरण को मुख्य रूप से इस प्रकार तालिकाबद्ध किया जा सकता है।

2.3 राबर्टसन द्वारा वर्गीकरण

प्रो० राबर्टसन ने मुद्रा को दो व्यापक वर्गों में बाँटा है– (1) बैंक मुद्रा और (2) सामान्य मुद्रा। बैंक मुद्रा के लिए "प्राप्तक की ओर से विशेष ज्ञान और विशेष व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। सामान्य मुद्रा "वह मुद्रा है जो एक निश्चित राजनीतिक क्षेत्र के अन्तर्गत व्यापक रूप से स्वीकार्य होती है। चेक जो मुद्रा की एक निश्चित राशि के लिए लिखा जाता है बैंक मुद्रा का एक उदारहरण है जो प्राप्तक को तभी स्वीकार्य हो सकता है जब वह जानता अथवा विश्वास करता है कि चेक देने वाले का बैंक में अधिशेष है और जब स्वयं प्राप्तकर्त्ता को बैंक से चेक को भुनाने की सुविधा प्राप्त हो। इस प्रकार चेक की स्वीकृति प्राप्तकर्त्ता के पास एक विशेष ज्ञान और एक विशेष व्यवस्था आवश्यक बनाती है। एक 10 अथवा 100 रुपये का नोट सामान्य मुद्रा का उदाहरण है क्योंकि भारत की राजनीतिक सीमा के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति इसे बिना किसी झिझक और प्रश्न के स्वीकार कर लेता है।

सामान्य मुद्रा को राबर्टसन ने तीन वर्गों में बाँटा है– (1) ऐच्छिक मुद्रा (2) सहायक मुद्रा (3) विधि ग्राह्य मुद्रा। जो सामान्य मुद्रा "एक नागरिक दूसरे सह–नागरिक से लिए गए ऋणों के अन्तिम भुगतान के लिए विधि द्वारा मान्य प्रमाणित नहीं की जाती है उसे ऐच्छिक मुद्रा की संज्ञा दी जाती है। जो सामान्य मुद्रा "इस प्रकार से केवल एक सीमित छोटी सी रकम तक के ऋणों के लिए ही प्रमाणित होती है उसे सहायक मुद्रा कहा जाता है। जो सामान्य मुद्रा "किसी भी मात्रा में किसी ऋण के अन्तिम भुगतान के लिए विधि द्वारा मान्य प्रमाणित होती है" वह पूर्ण विधि–ग्राह्य अथवा विधि–ग्राह्य मुद्रा कहलाती है। ऐच्छिक मुद्रा को विधि का कोई समर्थन नहीं प्राप्त होता। उसे उसके अपने गुण के आधार पर स्वीकार किया जाता है। बहुमूल्य धातुओं के सिक्के स्वयं अपने लिए ही बिना किसी वैधानिक विवशता के भी स्वीकार्य होते हैं। परन्तु विधि ग्राह्य मुद्रा को सरकार का पूर्ण समर्थन प्राप्त रहता है और देश के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति वैधानिक विवशता के अधीन उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य है। सहायक मुद्रा इन दो छोरों के बीच स्थित होती है। यह एक निश्चित सीमा तक ही विधि–ग्राह्य होती है जिसके बाद वह ऐच्छिक हो जाती है।

विधि ग्राह्य मुद्रा पुनः दो उप वर्गों में विभाजित होती है– (1) परिवर्तनीय विधि–ग्राह्य मुद्रा और (2) निश्चित विधिग्राह्य मुद्रा। परिवर्तनीय विधि ग्राह्य मुद्रा काा अर्थ वह मुद्रा है "जिसे एक सामान्य नागरिक द्वारा एक दूसरे से भुगतान के लिए अवश्य ही स्वीकार किया जाना पड़ेगा किन्तु उसके बदले में कोई केन्द्रीय संस्था यदि आवश्यक हुआ तो कोई अन्य वस्तु देने के लिए बाध्य है।" निश्चित विधि ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा है जिसमें ऐसी केन्द्रीय संस्था को भी अपने दायित्वों–आभारों का अन्तिम भुगतान करने का अधिकार होता है– परिवर्तनीय मुद्रा को परिवर्तित करने के आभार समेत।

ऐच्छिक मुद्रा, परिवर्तनीय विधि ग्राह्य मुद्रा और निश्चित मुद्रा में से प्रत्येक को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है– (1) पूर्ण काय और (2) सांकेतिक। पूर्ण काय मुद्रा वह मुद्रा है जिसका मूल्य वस्तु की उस मात्रा के मूल्य से कोई खास अधिक नहीं होता जिसकी वह बनी होती है अर्थात् जिसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक नहीं होता। सांकेतिक मुद्रा वह मुद्रा है "जिसका मूल्य वस्तु की जितनी मात्रा से वह बनी है उसके मूल्य से पर्याप्ततः अधिक होता है अर्थात् जिसका अंकित मूल्य उसके आन्तरिक वास्तविक मूल्य से अधिक होता है।

प्रो० राबर्टसन ने सुविधा के लिए पूर्णकाय परिवर्तनीय विधि–ग्राह्य और सांकेतिक ऐच्छिक मुद्रा को एक ही साथ "परिवर्तनीय सामान्य मुद्रा" के शीर्षक में रखा है।

इस प्रकार मुद्रा कई प्रकार की होती है। इसका वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जाता है। इसलिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। जो इस प्रकार है–

1. देश के अन्तर्गत रखे जाने वाले हिसाब किताब के आधार पर– वास्तविक मुद्रा और लेखा की मुद्रा।

2. वैधानिक मान्यता के आधार पर, विधि–ग्राह्य मुद्रा और ऐच्छिक मुद्रा
3. प्रकृति के आधार पर– वस्तु मुद्रा और बैंक मुद्रा।
4. स्वीकृति के आधार पर– बैंक नोट और बैंक निक्षेप अथवा करेन्सी नोट और साख मुद्रा।
5. मुद्रा पदार्थ के आधार पर– धातु मुद्रा और पत्र–मुद्रा।

2.4 सारांश

मुद्रा के उपरोक्त वर्गीकरण के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साधारणतः लोगों की यह धारणा रही है कि स्वर्ण तथा चांदी की मुद्रायें और अन्य मुद्राएं घटिया होती हैं परन्तु यह बात सर्वथा सत्य नहीं है। अच्छी मुद्रा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है–

1. एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में किसी प्रकार की जटिलता नहीं होनी चाहिए। यदि मुद्रा प्रणाली जटिल है तो साधारण जनता उसे समझने में असमर्थ रहेगी। जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए मुद्रा प्रणाली में सरलता का होना अनिवार्य है।
2. चूंकि मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना पड़ता है, इसलिए यह ऐसा पदार्थ होना चाहिए जो सुगमता से वहनीय हो।

   अच्छी मुद्रा होने के लिए यह भी आवश्यक है कि एक मूल्य की मुद्रायें एक ही आकार प्रकार की हों। पत्र मुद्रा में भी यह गुण विद्यमान होता है।
3. मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो शीघ्र नष्ट न हो। इस क्रय–शक्ति को संचित भी किया जा सके।
4. चाहे पत्र मुद्रा हो या धातु मुद्रा किसी भी प्रकार की मुद्रा तभी सफल रूप से कार्य कर सकती है जब कि उस मुद्रा को सामान्य स्वीकृति मिली होती हैं
5. श्रेष्ठ मुद्रा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि उसके मूल्य में विशेष उतार–चढ़ाव नहीं होते।

2.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा के वर्गीकरण की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

2.6 शब्दावली

हिसाब की मुद्रा	:	Money of Account
बलात मुद्रा	:	Fiat Money
विधि ग्राह्य मुद्रा	:	Legal Tender Money
आन्तरिक मुद्रा	:	Inside Money
धातु मुद्रा	:	Metallic Money
परिवर्तनशील पत्र मुद्रा	:	Representative Paper Money
प्रबंधित मुद्रा	:	Managed Money

2.7 संदर्भ सूची

Keynes	:	A Treatise on Money
Robertson	:	Money, Chap. 1
Coulborn	:	A Discussion on Money, Chap 1 and 2

इकाई–3 मुद्रा की प्रकृति और महत्व

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 मुद्रा की प्रकृति

3.3 मुद्रा का महत्व

3.4 मुद्रा के लाभ

3.5 मुद्रा के दोष

3.6 सारांश

3.7 बोध प्रश्न

3.8 शब्दावली

3.9 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

हम अपने जीवन के प्रारम्भ से ही मुद्रा को देखते और प्रयोग करते आये हैं। इसलिए हमें मुद्रा के वास्तविक महत्व और उसके लाभों का अनुभव नहीं हो पाता। यदि समाज के प्राचीनतम रूप को देखें जब वर्तमान युग में पाई जाने वाली मुद्रा नहीं थी तो हमें मुद्रा के न होने से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का सहज रूप से ही पूर्ण ज्ञान हो जाएगा और तभी हम मुद्रा के वास्तविक महत्व को समझ सकते हैं। इस इकाई के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. मुद्रा की प्रकृति के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
2. मुद्रा के महत्व का स्पष्ट जानकारी प्राप्त करना।

3.1 प्रस्तावना

मुद्रा की प्रकृति के बारे में प्रो. केन्ट का कहना है कि "यद्यपि मुद्रा हमारे विचारों में बहुत अधिक रहती है तथा हमारी बहुत सी क्रियाओं को प्रभावित करती है, फिर भी हमें यह निशिचित रूप से यह बताने में पर्याप्त कठिनाई होती है कि मुद्रा क्या है।" प्रो. क्राउथर का कथन है "व्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मुद्रा क्या है? परन्तु बहुत कम व्यक्ति उसे तुरन्त परिभाषित करने के लिए तैयार होंगे, जिससे उसका अन्य वस्तुओं से भेद किया जा सके।"

मुद्रा की प्रकृति पर विचार करते समय हमें निम्नांकित बातों पर ध्यान देना होगा–

1. क्या मुद्रा एक आवरण है अथवा एक वास्तविकता? (Is money a veil or a reality?)
2. क्या मुद्रा एक साधन है अथवा साध्य? (Is money a means to an end or an end in itself?)
3. मुद्रा एक तरल परिसम्पत्ति है। (Money is a liquid asset.)

4. मुद्रा सरकार की सृष्टि है।

3.2 मुद्रा की प्रकृति

मुद्रा की प्रकृति अन्य वस्तुओं से भिन्न है। लोग अनेक वस्तुएँ इसलिए चाहते हैं क्योंकि वे उनके लिए उपयोगी हैं। परन्तु मुद्रा के द्वारा मनुष्य की कोई भी आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट नहीं हो पाती। मुद्रा की इच्छा केवल इसलिए होती है कि इसमें क्रय–शक्ति है, अर्थात इसकी सहायता से आवश्यकता की वस्तुएँ एवं सेवाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस प्रकार, मुद्रा केवल साधन है साध्य नहीं। किसी भी देश का धनी होना वहाँ की मुद्रा की मात्रा पर निर्भर नहीं करता, बल्कि वस्तुओं के कुल उत्पादन की मात्रा और किस्म तथा लोगों के लिए उपलब्ध उपभोग की मात्रा पर निर्भर करता है। यह सरकार का दायित्व है कि मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखे ताकि यह देश के औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास में सहायक हो, बाधक नहीं।

मुद्रा का आधार उसकी सर्वमान्यता है। इसके लिए वैधानिक स्वीकृति का होना अनिवार्य नहीं है। वैधानिक स्वीकृति प्राप्त मुद्रा अथवा विधिग्राह्य को चलार्थ कहा जाता है, जबकि मुद्रा में सर्वमान्य साख–मुद्रा भी सम्मिलित होती है। सभी चलार्थ मुद्रा है, परन्तु सभी मुद्रा चलार्थ नहीं है।

मुद्रा के स्वरूप की व्याख्या करते समय हमने स्पष्ट किया था कि मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाने वाले साधनों में 'तरलता' का गुण होता है। कोई भी साधन जिसका मूल्य देश में प्रचलित मूल्यमापक इकाई के रूप में व्यक्त किया जाता है तथा आवश्यकतानुसार जिसे बिना किसी विलम्ब, असुविधा अथवा हानि के व्यय करने योग्य रूप (अर्थात विनिमय–माध्यम) में बदला जा सकता है, तरल साधन कहलाता है। इस आधार पर व्यय करने योग्य सभी साधन मुद्रा हैं।

किसी देश की सरकार अथवा उसकी ओर से वहां के केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की गयी सभी प्रकार की मुद्रा विधिग्राह्य मुद्रा होती है जिसे विनिमय–माध्यम के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य होता है। विधिग्राह्य मुद्रा को 'साधारण मुद्रा' भी कहा जाता है। देश की प्रमुख तथा सहायक मुद्रा इसमें सम्मिलित होती है। इसके अतिरिक्त कोई वैधानिक आधार न होने पर भी 'साख–मुद्रा' अथवा 'बैंक–मुद्रा' को विभिन्न प्रकार के भुगतानों तथा क्रय–विक्रय के माध्यम के रूप में सामान्यतः स्वीकार किया जाता है। इसे ऐच्छिक मुद्रा कहते हैं। बैंक–मुद्रा एक प्रकार से ऐसा अधिकार अथवा दावा है जिसके द्वारा बैंक से साधारण मुद्रा प्राप्त की जा सकती है। हॉम ने ठीक ही कहा है कि "साधारण मुद्रा प्राप्त करने का यह दावा उतना ही उपयोगी है जितनी कि स्वयं साधारण मुद्रा है।" इन दावों को अनेक नामों से पुकारा जाता है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इनका उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में किया जा सकता है, और यह मुद्रा ही है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बैंकों के चालू खातों में जमा राशि को ही बिना किसी पूर्व–सूचना अथवा विशेष प्रबन्ध के चैकों द्वारा निकाला जा सकता है। इस प्रकार की जमाराशियों को माँग–जमा कहा जाता है। इसके विपरीत, निश्चितकालीन खातों में जमा की गयी राशियाँ जिन्हें 'काल–जमा' कहा जाता है, एक निश्चित अवधि पूरी हो जाने पर ही बैंकों से प्राप्त की जा सकती हैं। यदि इन्हें अवधि पूर्ण होने के पूर्व निकालना हो तो उनके लिए बैंक से विशेष अनुमति लेनी पड़ती है और ब्याज के रूप में प्राप्त होने वाली आय का कुछ भाग छोड़ना पड़ता है। स्पष्ट है कि इनमें उतनी अधिक तरलता नहीं होती जितनी साधारण मुद्रा अथवा माँग–जमा में होती है। इसलिए इन्हें मुद्रा न कहकर 'अर्द्ध–मुद्रा' अथवा 'निकट–मुद्रा' कहा जाता है। इस आधार पर, बैंक–मुद्रा की मात्रा को निर्धारित करने के लिए केवल माँग–जमा को ही लिया जाता है क्योंकि अन्य जमाओं पर सामान्यतः चैक नहीं लिखे जाते। काल जमाराशियाँ देश के मौद्रिक साधनों का एक भाग, हुए जो बैंक–मुद्रा की मात्रा में प्रायः सम्मिलित नहीं की जाती हैं।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर मुद्रा की पूर्ति अथवा कुल मात्रा निर्धारित करने के लिए हमें मुख्यतः ये तीन तत्व सम्मिलित करने होते हैं–

(1) केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित विभिन्न मूल्यों के नोटों की कुल मात्रा

(2) सरकार की ओर से निकाली गयी मुद्रा, अर्थात विभिन्न प्रकार के सिक्कों की कुल मात्रा

(3) बैंकों में माँग–जमा की कुल मात्रा। इन तीनों स्रोतों से प्राप्त होने वाली मुद्रा की विभिन्न मात्राओं से किसी समय कुल पूर्ति निर्धारित होती है।

3.3 मुद्रा का महत्व

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार– प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। एडम स्मिथ ने मुद्रा को बंजर समझा, और इसकी तुलना एक ऐसी सड़क से की जिस पर तनिक भी घास नहीं उगती, परन्तु जिस पर से होकर सभी माल, व सामान बाजारों तक पहुँचता है। इन अर्थशास्त्रियों का मत था कि मुद्रा की अनुपस्थिति में जे.बी. से का सर्वव्यापी बाजार नियम– पूर्ति स्वतः माँग उत्पन्न कर लेती है– सहज ढंग से कार्य कर सकता है। जान स्टुअर्ट मिल के विचारानुसार, "यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पहले किसी वस्तु का मुद्रा से विनिमय करना और फिर मुद्रा का किसी अन्य वस्तु से विनिमय करना, विनिमय का एक नया ढंग मात्र है। इस नये ढंग के प्रचलित हाने से सौदों की वास्तविक प्रकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

वास्तव में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपनी मान्यताएँ दीर्घ काल पर ही आधारित की थीं जिसमें पूर्ति तथा माँग का समायोजन स्वतः हो जायेगा। परन्तु वर्तमान आर्थिक जीवन में तो पूर्ण स्थिरता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आर्थिक अस्थिरता पूँजीवादी व्यवस्था का एक सामान्य लक्षण है। चूँकि अस्थिरता का मुख्य कारण कीमतों का उतार–चढ़ाव होता है, इसलिए मुद्रा की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती।

मुद्रा का आवरण– प्रथम महायुद्ध से पूर्व इंग्लैण्ड में प्रचलित कुछ कहावतों का उल्लेख प्रो0 पीगू ने किया है– "मुद्रा एक आवरण है जिसके पीछे आर्थिक शक्तियों का कार्य छिपा हुआ है", मुद्रा एक आवेष्टन उत्पादन तो कुछ अन्य साधनों के सहयोग से होता है जो मुद्रा के आवरण में छिपे हैं, क्योंकि विनिमय के समय मुद्रा ही सामने होती है। यह विचार भी मिल आदि अर्थशास्त्रियों के विचारों से मेल खाते हैं, जो भ्रामक तथा अनुपयुक्त हैं। मुद्रा का महत्व केवल विनिमय के लिए ही नहीं है, अपितु उत्पादन के प्रत्येक चरण एवं साधन से सम्बन्धित प्रत्येक क्रिया के लिए मुद्रा एक सक्रिय तथा महत्वपूर्ण तत्व है।

मुद्रा भ्रम– मुद्रा को जहाँ एक ओर महत्वहीन अथवा निष्क्रिय समझने की प्रवृत्ति रही है, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो मुद्रा–भ्रम के जाल में फँसे हुए हैं। मुद्रा–भ्रम से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति से है जबकि मुद्रा की क्रय–शक्ति के बजाय स्वयं मुद्रा को ही महत्व दिया जाने लगता है। ऐसा तब होता है जबकि मुद्रा को ही धन मान लिया जाय और यह समझा जाने लगे कि मुद्रा से ही समाज में सुरक्षा, आदर अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

मुद्रा–भ्रम एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है परन्तु इसका आर्थिक व्यवहार पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मुद्रा–भ्रम में फँसा हुआ व्यक्ति मौद्रिक मजदूरी दुगुनी हो जाने पर अत्यधिक सन्तोष अनुभव करता है, भले ही इसके साथ कीमतें भी दुगुनी हो जायें (अर्थात मुद्रा की क्रय–शक्ति आधी रह जाय) और वास्तविक मजदूरी स्थिर रहे। मुद्रा–भ्रम के कारण ही मजदूर अपनी वास्तविक मजदूरी के बजाय मौद्रिक मजदूरी को अधिक महत्वपूर्ण समझने लगते हैं। मुद्रा–भ्रम का प्रभाव उपभोग–स्तर पर भी पड़ सकता है। मौद्रिक आय बढ़ने पर उपभोग स्तर ऊँचा रहने की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वास्तव में मुद्रा के प्रति जैसी लोगों की धारणा होगी वैसा ही वे इसका उपभोग भी करना चाहेंगे।

तर्कपूर्ण व्यवहार यह है कि स्वयं मुद्रा को नहीं बल्कि मुद्रा की क्रय–शक्ति को महत्व दिया जाय। हमें समृद्धि मुद्रा से नहीं, इसकी क्रय–शक्ति से प्राप्त होती है। क्या मुद्रा हम तब भी चाहेंगे जब इसके बदले में अन्य वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त न की जा सके? मुद्रा केवल एक साधन है जो तभी प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य कर पाता है जब इसके मूल्य अथवा क्रय–शक्ति में बहुत अधिक तेजी से उतार–चढ़ाव नहीं होते हैं।

आधुनिक विचार– आज के युग में यह निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि मुद्रा आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण आधार है। यदि अर्थ–व्यवस्था एक मशी न है तो मुद्रा उस मशीन को चालू रखने वाली

शक्ति है। मार्शल ने ठीक ही लिखा है कि मुद्रा वह धुरी है जिस पर अर्थ–विज्ञान चक्कर लगाता है। समस्त आर्थिक उतार–चढ़ाव कीमतों की घटा–बढ़ी का ही परिणाम होते हैं और कीमतों का घटना–बढ़ना बहुत कुछ एक मौद्रिक घटना होती है। चूँकि मुद्रा स्वाभाविक रूप से अस्थिर है और आर्थिक स्थितियाँ भी निरन्तर परिवर्तनशील हैं, इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि मुद्रा की मात्रा तथा गति पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाय। इसे एक 'सेवक' की भाँति प्रयोग में लाया जाय, यह 'स्वामी' न बनने पाये, क्योंकि मुद्रा एक उपयोगी सेवक है, परन्तु खतरनाक स्वामी। स्पष्ट है कि मुद्रा का नियन्त्रित प्रयोग करना आवश्यक है जिसे एक उपयुक्त मौद्रिक नीति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

3.4 मुद्रा के लाभ

आर्थिक क्रियाओं के प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है, बल्कि सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाओं का आधार भी बहुत बड़ी सीमा तक मुद्रा ही है। मुद्रा के लाभों का विश्लेषण मुख्य रूप से तीन आधारों को मानकर किया जा सकता है– आर्थिक क्षेत्र में महत्व, अन्य क्षेत्रों में महत्व एवं आर्थिक प्रणालियों में महत्व।

(क) आर्थिक क्षेत्र में मुद्रा का महत्व

1. उत्पादन के क्षेत्र में–

(i) आर्थिक हिसाब के आधार पर ही उत्पादन सम्बन्धी निर्णय किये जाते हैं, और आर्थिक हिसाब मुद्रा के ही माध्यम से होता है।

(ii) श्रम–विभाजन एवं विशिष्टीकरण, जो आर्थिक प्रगति के आधार हैं, मुद्रा के प्रयोग द्वारा ही सम्भव हुए हैं। बेन्हम के अनुसार, "आधुनिक जीवन जो विशिष्टीकरण पर आधारित है, मुद्रा के अभाव में सम्भव नहीं होगा।"

(iii) मुद्रा पूँजी का सबसे तरल रूप होने के कारण पूँजी को गतिशीलता प्रदान कर उसे अधिक उत्पादक बनाती है।

(iv) अधिकतम उत्पादन के लिए मुद्रा उत्पत्ति के साधन जुटाने में सहायक होती है। केवल यही नहीं, मुद्रा की सहायता से ही उत्पादक प्रतिस्थापन नियम के अनुरूप विभिन्न साधनों का अनुकूलतम संगठन कर पाता है।

(v) बचत एवं विनियोग मुद्रा द्वारा ही सम्भव होते हैं, और इनके ही आधार पर पूँजी का निर्माण होता है।

2. उपभोग के क्षेत्र में–

(i) मुद्रा की सहायता से उपभोक्ता की सत्ता बनी रहती है। वह व्यय तभी करता है जब उसकी इच्छानुसार उसे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। हाम के विचार में, "मुद्रा–रहित अर्थ–व्यवस्था को राशनिंग प्रणाली का प्रयोग करना होगा, अर्थात सामाजिक उत्पत्ति का वितरण पूर्वनिश्चित मात्रा में होगा। इस प्रकार उपभोग सम्बन्धी निर्णय की स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी।"

(ii) मुद्रा ने विनिमय–कार्य सरल बना दिया है जिससे उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली वस्तुओं की संख्या एवं मात्रा बढ़ गयी है। साथ में, उत्पादन करते समय उपभोक्ता की रुचि को ध्यान में रखा जाता है।

(iii) सम–सीमान्त उपयोगिता नियम का पालन करने में भी मुद्रा सहायक होती है। जिससे उपभोक्ता को अपने व्यय से अधिकतम सन्तोष प्राप्त होता है।

3. विनिमय के क्षेत्र में–

(i) मुद्रा वस्तु–विनिमय प्रणाली के दोषों को दूर कर विनिमय को सुगम बनाती है।

(ii) मुद्रा के द्वारा भावी सौदे वर्तमान में किये जाते हैं जिनके अन्तर्गत भावी कीमत वर्तमान में ही निश्चित हो जाती है।

(iii) मुद्रा 'कीमत–संयन्त्र' का आधार है, और कीमतों में होने वाले परिवर्तन समस्त प्रकार के आर्थिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं।

(iv) मुद्रा के प्रयोग से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई है।

(v) साख का निर्माण तथा प्रयोग भी मुद्रा पर ही आधारित है।

4. **वितरण के क्षेत्र में**– उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार निर्धारित करना तथा उत्पादन पूर्ण होने और बिकने से पहले विभिन्न साधनों के पारिश्रमिक की अदायगी कर देना मुद्रा के प्रयोग द्वारा ही सम्भव हुआ है। यह आवश्यक है कि विभिन्न साधनों में कुल आय का न्यायानुकूल वितरण हो जिससे पारस्परिक सहयोग की भावना बनी रहे और कल्याण की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रहे। यह सब मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है।

5. **राजस्व के क्षेत्र में**– एक आधुनिक राज्य द्वारा सामाजिक न्याय एवं जन–कल्याण के लिए राजस्व का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य–वित्त का महत्वपूर्ण साधन कर तथा लोक–ऋण हैं, जो मुद्रा के रूप में ही प्राप्त होते हैं। राज्य अपना व्यय भी मुद्रा के रूप में ही निर्धारित करता है। मुद्रा के बिना तो सरकार द्वारा बजट बनाना और उसके अनुसार आय–व्यय समायोजन करना सोचा भी नहीं जा सकता।

6. **मुद्रा एवं आर्थिक जीवन**– किसी भी देश के आर्थिक जीवन की रचना में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। मुद्रा आर्थिक जीवन का नियन्त्रण भी करती है। हमारा जीवन सहज है अथवा अस्त–व्यस्त, इसका अनुमन देश की मुद्रा–प्रणाली से लगाया जा सकता है। मुद्रा ने ही आर्थिक उदारतावाद को प्रोत्साहन दिया है, जो पूँजीवाद का आधार है। सत्य तो यह है कि यदि मुद्रा न होती तो आर्थिक विकास के उस शिखर तक मानव कभी न पहुँच पाता, जिस पर आज के युग में वह औद्योगीकरण एवं आर्थिक सहयोग की सहायता से पहुँच चुका है। पीगू ने ठीक ही कहा है कि "आधुनिक युग में उद्योग मुद्रा–रूपी वस्त्र धारण किये हुए है। मार्शल ने मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था के इतिहास को मानव–सभ्यता के इतिहास से सम्बन्धित किया है। वास्तव में, मुद्रा के महत्व का अनुमान तो तब लगाया जा सकता है जब किसी भी देश अथवा काल में असंगठित मौद्रिक प्रणाली के प्रभावों को देखा जाय। ट्रेस्काट के शब्दों, "यदि मुद्रा को हमारे अर्थतन्त्र का हृदय नहीं तो रक्त–स्रोत अवश्य माना जा सकता है।"

मुद्रा का चक्राकार बहाव– अर्थिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता मौद्रिक भुगतानों का चक्राकार बहाव है। उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने में जो व्यय करते हैं वह अनेक व्यक्तियों, जैसे– फुटकर विक्रेता, थोक विक्रेता और निर्माता आदि के हाथों में से होता हुआ पुनः मजदूरी, ब्याज, लगान और लाभ के रूप में उपभोक्ताओं के पास लौट आता है। इसमें से कुछ भाग सरकार के पास करों के रूप में पहुँच जाता है परन्तु वह भी सामूहिक कल्याण के लिए व्यय हो जाता है। अर्थ–व्यवस्था की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा के चक्राकार बहाव में सन्तुलन बना रहे। इसमें रुकावट पैदा होते ही सम्पूर्ण अर्थ–व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। 'तीसा' की महान् मन्दी मुद्रा तथा पूँजी–बाजारों के अस्त–व्यस्त होने का ही परिणाम थी। इसी प्रकार, युद्धोत्तर–काल में जर्मनी तथा अन्य अनेक देशों में मुद्रा–स्फीति की भयानक स्थिति का कारण भी चक्राकार बहाव में वृद्धि हो जाना था।

7. **आर्थिक प्रगति का सूचक**– चूँकि प्रत्येक आर्थिक कार्य, वस्तु या घटना को मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है इसलिए किसी देशकी आर्थिक प्रगति को भी मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है। किसी देश

में आर्थिक प्रगति का स्तर और मुद्रा–प्रणाली का स्वरूप एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हैं। आर्थिक प्रगति के क्रम में मुद्रा अनेक प्रकार से सहयक होती है। ऐसे देश जिनके निर्यात अधिक होते हैं, उनकी मुद्रा की माँग अधिक होने के कारण मुद्रा का मूल्य भी ऊँचा होता है, जो वहाँ की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था का सूचक है।

(ख) **सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में महत्व**– मुद्रा का महत्व केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य गैर–आर्थिक क्षेत्रों में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

सामाजिक क्षेत्र में–मुद्रा सामाजिक कल्याण की मापक है। इसके साथ–साथ मुद्रा एक अत्यन्त मूल्यवान सामाजिक साधन है जिसने समाज के आर्थिक कल्याण की वृद्धि की है। मुद्रा के प्रयोग से सामाजिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में वृद्धि हुई है। मुद्रा–सहित अर्थव्यवस्था में जब मजदूरी वस्तुओं के रूप में दी जाती थी, श्रमिक की स्थिति गुलामों जैसी थी। मुद्रा ने स्वतन्त्रता और प्रतिस्पर्धा स्थापित करके सामाजिक और आर्थिक दासता से मुक्ति दिलायी है। इससे सामाजिक अलगाव भी समाप्त हुआ है।

राजनीतिक क्षेत्र में– मुद्रा के प्रयोग द्वारा राजनीतिक चेतना बढ़ी है, क्योंकि जब लोगों को कर देना पड़ता है तो वे राजनीतिक व्यवस्था में अधिक रुचि लेने लगते हैं। इससे राजनीतिक स्वतन्त्रता की शक्तियों को भी बल प्राप्त हुआ है। प्रत्येक करदाता प्रतिनिधित्व भी चाहता है और सरकार से अपनी माँगें पूरी करने की आशा रखता है। व्यापारिक सम्बन्ध विस्तृत होने के कारण लोगों के सम्पर्क बढ़े हैं और राष्ट्रीय एकता करने में सहायता मिली है। यही नहीं आर्थिक हितों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी प्रोत्साहन मिलता है और आपसी तनाव कम होते हैं।

अन्य क्षेत्रों में– मानव के सभी गुणों का मूल्यांकन मुद्रा में ही किया जाता है। एक सफल एवं अच्छा कलाकार, गायक अथवा लेखक वही है जिसे अपनी कला से अच्छी मौद्रिक आय प्राप्त होती है, यहाँ तक कि 'शान्ति पुरस्कार', 'सुन्दरता पुरस्कार' अथवा अन्य किसी योग्यता के लिए पुरस्कार भी मुद्रा के ही रूप में दिये जाते हैं।

डेवनपोर्ट ने ही ठीक ही लिखा है कि "लगभग समस्त राजनीतिक प्रश्न, जटिल सामाजिक समस्याएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ एक आर्थिक मान (मुद्रा) पर ही निर्भर हो गये हैं।" मुद्रा के अस्तित्व के बिना आर्थिक जीवन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

(ग) **विभिन्न आर्थिक प्रणालियों में मुद्रा का स्थान**– मुद्रा का महत्व प्रत्येक आर्थिक प्रणाली के लिए है। अर्थ–व्यवस्था चाहे पूँजीवादी हो अथवा समाजवादी, नियोजित हो अथवा अनियन्त्रित, मुद्रा के अभाव में कार्य नहीं कर सकती।

पूँजीवादी अर्थ–व्यवस्था में मुद्रा पूँजीवादी अर्थ–व्यवस्था का जीवन है, इसके बिना इस व्यवस्था का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। पूँजीवाद आर्थिक स्वतन्त्रता, निजी सम्पत्ति तथा लाभ के उद्देश्यों पर आधारित व्यवस्था है, जिसमें मार्गदर्शन कीमत–संयन्त्र द्वारा किया जाता है। चूँकि कीमत–सयंन्त्र केवल मुद्रा के ही रूप में व्यक्त किया जाता है, इसलिए यथार्थ में मुद्रा ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संचालन के लिए जीवन–रक्त है। पूंजी ही पूँजीवाद का आधार–स्तम्भ है, जिसका संचय एवं उचित प्रयोग मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है। यह पहले ही देख चुके हैं कि मुद्रा पूँजी के निर्माण में सहायक होती है तथा आय का उचित प्रयोग करने में सहायता देती है। मुद्रा–मूल्य के परिवर्तनों का पूँजीपतियों के लाभ पर प्रभाव पड़ता है। न केवल उत्पादन सम्बन्धी निर्णय मुद्रा के आधार पर किये जाते हैं, बल्कि उपभोक्ता की सार्वभौमिकता भी मुद्रा पर ही निर्भर करती है। मुद्रा साख का आधार है, तथा वितरण को सरल बनाकर उत्पत्ति के सभी साधनों का सहयोग प्राप्त करती है। निस्सन्देह मुद्रा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आवश्यक अंग है।

समाजवादी अर्थ–व्यवस्था में मुद्रा– समाजवादी अर्थव्यवस्था एक नियन्त्रित अर्थ–व्यवस्था है जिसमें उत्पादन तथा उपभोग पूर्व–निर्धारित लक्ष्यों के आधार पर किया जाता है। समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स ने मुद्रा को श्रमिकों के शोषण का साधन बताया, क्योंकि इसी के माध्यम से पूँजीपतियों को अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होता है। वह मुद्रा के उन्मूलन के पक्ष में थे। सोवियत रूस में 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् मुद्रा के

उन्मूलन के कुछ प्रयास किये गये, किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि मुद्रा का परित्याग करना सम्भव नहीं।

समाजवादी क्रान्ति के नेताओं, लेनिन तथा ट्रॉटस्की ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया कि आर्थिक गणना के लिए मुद्रा का प्रयोग अनिवार्य है। ट्रॉटस्की के शब्दों में, "सरकारी कार्यालयों द्वारा तैयार की गयी योजनाओं को व्यापारिक हिसाब के द्वारा अपना आर्थिक औचित्य प्रमाणित करना चाहिए। किन्तु जब तक कोई सुदृढ़ मौद्रिक इकाई प्रयोग नहीं की जायेगी तब तक व्यापारिक हिसाब के प्रयास से अधिक गड़बड़ ही उत्पन्न होगी।" सोवियत रूप में आज मुद्रा ही लेखे की इकाई है, विनिमय–माध्यम तथा मूल्य–मापक है। आर्थिक योजनाएँ मुद्रा–साधनों के ही सन्दर्भ में बनायी जाती हैं।

मौरिस डॉब के विचार में, यदि सम्पूर्ण उत्पादन का निर्धारण केन्द्रीय योजना आयोग कर ले और उपभोक्ता के निर्णय पर भी कुछ प्रतिबन्ध हो, तो समाजवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य निर्धारण पद्धति की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु ऐसा होने पर भी मुद्रा की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि मूल्यों के निर्धारण का आधार चाहे कुछ भी हो, आर्थिक हिसाब तो मुद्रा में ही होंगे। हाम ने ठीक लिखा है कि "उत्पादन सम्बन्धी निर्णय एक तानाशाह द्वारा किये जाने पर भी साधनों का आवंटन मूल्य–निर्धारण पद्धति के अनुसार ही करना पड़ेगा ताकि साधनों के विभिन्न उपयोगों से प्राप्त होने वाले लाभ की तुलना की जा सके।"

नियोजित अर्थ–व्यवस्था में मुद्रा– यदि कोई भी देश अपने आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन का तरीका अपनाता है, तो उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता पर्याप्त वित्तीय साधनों की व्यवस्था करनी होती है। यह वित्तीय अथवा मौद्रिक साधन अपर्याप्त हों तो विकास के अन्य साधन बेकार ही पड़े रहते हैं। देश की विकास सम्बन्धी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा मुद्रा की मात्रा बढ़ानी पड़ती है, जिससे मुद्रा का मूल्य गिर सकता है। इसलिए एक नियोजित अर्थ–व्यवस्था के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपना मौद्रिक प्रबन्धन इस प्रकार करे कि मुद्रा–विस्तार उत्पादन में सहायक हो, बाधक नहीं। दूसरे शब्दों में, नियोजन का उद्देश्य 'स्थिरता के साथ विकास' हो। मौद्रिक साधनों का समायोजन आर्थिक नियोजन का एक महत्वपूर्ण का एक महत्वपूर्ण अंग होता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर ए.पी. लरनर का यह मत पूर्णतया उचित प्रतीत होता है कि "कोई भी अर्थव्यवस्था, उसका चाहे जो रूप हो, मूल्य–निर्धारण यन्त्र के अभाव में कुशलता–पूर्वक कार्य नहीं कर सकती है। हाम के अनुसार, "एक सामाजिक अर्थव्यवस्था मौद्रिक अर्थव्यवस्था ही रहेगी। जॉन ला ने अठारहवीं शताब्दी में लिखा था, "राजरूपी शरीर के लिए मुद्रा रक्त के समान जीवनदायिनी शक्ति है, जिससे प्रत्येक अंग को स्फूर्ति मिलती है। मुद्रा के अभाव में सर्वोत्कृष्ट विधान भी लोगों को न तो रोजगार दिला सकते हैं और नही उत्पादन में कोई सुधार कर सकते। व्यापार भी मुद्रा पर निर्भर होता है।"

3.5 मुद्रा के दोष

मुद्रा में अनेक गुणों के होते हुए भी ह मानव के लिए एक "अमिश्रित वरदान" नहीं है। जहाँ इससे अनेक लाभ हैं, इसमें कुछ दोष भी हैं–कुछ आर्थिक और कुछ सामाजिक दृष्टिकोण सें

आर्थिक दोष

(1) **धन की विश्वासघातिनी संरक्षिका**– मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रहता। पत्र–मुद्रा और बैंक–मुद्रा के प्रचलन में अस्थिरता और भी बढ़ गयी है। वास्तव में, मुद्रा के मूल्य में गिरावट की समस्या एक विश्वव्यापी समस्या बन गयी है। कभी–कभी तो स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जाती है। जर्मनी में युद्ध के पूर्व लोग दुकानों पर मुद्रा जेब में रखकर ले जाते थे और समान टोकरियों में लाते थे। युद्ध के पश्चात् स्थिति यह हो गयी कि मुद्रा तो टोकरियों में भरकर जाने लगी और माल जेबों में आने लगा। लोगों ने मुद्रा को अपने संचित धन का संरक्षण सौंपा और उनका धन ही लुट गया। प्रायः यह ताना दिया जाता है कि 'मुद्रा हमारे धन की एक विश्वासघातिनी संरक्षिका है'।

(2) **आर्थिक जीवन में अनिश्चितता**– मुद्रा व्यापार–चक्रों को जन्म देती है। व्यापार–चक्रो के अन्तर्गत कभी आर्थिक तेजी से कभी मन्दी की स्थिति उत्पन्न होती है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। वैसे तो व्यापार–चक्रो के अनेक कारण बताये जाते हैं परन्तु इन सब में मौद्रिक कारण ही अधिक प्रभावपूर्ण हैं। केन्स के अनुसार, व्यापारिक उतार–चढ़ाव बचत तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णयों में असमानता का परिणाम होते हैं। बचत तथा विनियोग दोनों ही मुद्रा से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए व्यापार–चक्र एक मौद्रिक घटना ही तो है।

(3) **शोषण–यन्त्र**– मुद्रा के विकास से ही पूँजीवाद का जन्म हुआ और पूँजी का केन्द्रीकरण कुछ लोगों के हाथों में हो गया। पूरा समाज 'हुजूर' तथा 'मजूर', दो वर्गों में बँट गया। श्रमिक पूँजीपतियों पर आश्रित हुए और मजदूरी कम देकर पूँजीपतियों ने उनका शोषण किया। धन और सम्पत्ति के वितरण में असमानताएँ बढ़ीं। परिणामतः धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन बनते गये। एकाधिकार स्थापित हो जाने से उपभोक्ता के हितों की रक्षा न हो पायी, यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में धनी देशों ने निर्धन देशों का आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण किया है।

(4) **अपव्ययता में वृद्धि**– मुद्रा ने मनुष्य को अपव्ययी बना दिया है। अति–पूँजीकरण तथा अति–उत्पादन को प्रोत्साहन मिला है जिससे अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न होता है। अनुचित रूप से उपभोग पर अनावश्यक व्यय तथा सट्टेबाजी की प्रवृत्तियाँ भी मुद्रा का परिणाम हैं। मुद्रा के उपयोग में ऋणग्रस्तता में भी वृद्धि हुई है।

(5) **सेवक नहीं स्वामी**– मुद्रा हमारे जीवन की समस्त क्रियाओं पर इस तरह छा गयी है कि हमारे अधीन नहीं रही, बल्कि हम इसके अधीन हो गये हैं। मुद्रा उपयोगी तभी होती है जब सेवक के रूप में हो, स्वामी के रूप में तो यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अस्त–व्यस्त करती है।

सामाजिक दोष– मुद्रा अनेक सामाजिक तथा नैतिक बुराइयों की जड़ है। जीवन के अभौतिक एवं नैतिक गुणों को समाप्त कर समाज का भौतिकतावादी शोषण मुद्रा के ही कारण होता है। मीसेस ने तो यहाँ तक लिखा है कि "मुद्रा को चोरी, हत्या, छल तथा प्रतिज्ञा–भंग का कारण माना गया है। जब वेश्या अपना शरीर तथा न्यायाधीश अपना न्याय बेचता है, तो मुद्रा की निन्दा होती है। चरित्रवादी जब बहुत अधिक भौतिकवाद की निन्दा करना चाहता है, तब वह मुद्रा के ही विरुद्ध कहता है। लालच को मुद्रा–प्रेम कहना और सब बुराइयों को लालच से उत्पन्न मानना अपना महत्व रखता है।" रस्किन ने कहा है कि "मुद्रा के शैतान ने आत्माओं को दबा दिया है, किसी भी धर्म या दर्शन में इसे बहिष्कृत करने की शक्ति नहीं दिखायी पड़ती है।" ऐसा लगता है कि मुद्रा ने 'साधन' के बजाय 'साध्य' का रूप धारण कर लिया है, जिससे न केवल अभौतिक कल्याण में कमी हुई है बल्कि राजनीतिक भ्रष्टाचार, रिश्वत, बेईमानी आदि को प्रोत्साहन भी मिला है।

3.6 सारांश

ऊपर बताये गये मुद्रा के दोष गम्भीर होते हुए भी वास्तव में मुद्रा के दोष नहीं, ये समस्त दोष मुद्रा के अनुचित तथा अव्यवस्थित उपयोग के हैं, जिनके लिए मानव स्वयं उत्तरदायी है। मुद्रा वरदान तभी तक है जब तक इसका नियन्त्रित उपयोग किया जाये। दुरुपयोग इसे अभिशाप बना देता है। राबर्टसन ने ठीक ही कहा है कि "मुद्रा जो मानव समाज के लिए अनेक प्रकार से वरदान का स्रोत है, यदि नियन्त्रण के बाहर हो जाती है तो संकट और भ्रम का कारण बन जाती है।"

आवश्यकता मुद्रा–उन्मूलन की नहीं बल्कि मुद्रा–नियन्त्रण की है। बेजहाट ने कहा था कि 'मुद्रा स्वयं अपना नियन्त्रण नहीं करेगी'। प्रत्येक सरकार को चाहिए कि वह मुद्रा–प्रबन्धन की उपयुक्त नीति बनाये और उसे कार्यान्वित करे।

3.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा की प्रकृति का वर्ण कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा के गुण एवं दोषों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3- "मुद्रा एक अच्छी सेविका है, किन्तु बुरी स्वामिनी भी है।" व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4- विभिन्न आर्थिक प्रणालियों मुद्रा के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

3.8 शब्दावली

मुद्रा आवरण	:	Money Vail
मौद्रिक भ्रम	:	Money Ilusion
भावी सौदे	:	Future Transactions
कीमत संयत्र	:	Price Mechanism
चक्राकार बहाव	:	Circular Flow
पूंजीवाद	:	Capitalism
आवंटन	:	Allocation

3.9 सन्दर्भ

Keynes	:	A Treatise on Money
Robertson	:	Money, Chap. 1
Coulborn	:	A Discussion on Money, Chap. 1 and 2
M. L. Jhingan	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र
एम. सी. वैश्य	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र

इकाई–4 स्वर्णमान मुद्रा

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 मौद्रिक मान का महत्व

4.3 मुद्रा मान के भेद

4.4 धातुमान

4.5 धातुमान का भविष्य

4.6 सारांश

4.7 बोध प्रश्न

4.8 शब्दावली

4.9 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्‌देश्य

प्रथम खण्ड के इकाई 4 के अन्तर्गत मौद्रिक मान, धातु–मुद्रा मान के बारे में अध्ययन किया जा रहा है। मुद्रा मान के अन्तर्गत उस प्रमाणिक मुद्रा जिसका प्रयोग देश की मौद्रिक प्रणाली में किया जाता है उसका एक अपना विशेष महत्व होता है। दुनिया में समय–समय पर अनेक प्रकार के मुद्रा मान का प्रयोग किया गया है। प्राचीन युग में वस्तु मान के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के धातुओं से निर्मित मुद्राओं का प्रयोग होता रहा है। इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मुद्रा मान के अन्तर्गत धातु–मान मुद्रा के बारे में अध्ययन करना मुख्य उद्देश्य है।

4.1 प्रस्तावना

मौद्रिक मान का अर्थ– मुद्रा मान का अर्थ वह व्यवस्था अथवा प्रणाली है जिसके अन्तर्गत मुद्रा की क्रय–शक्ति व्यक्त की जाती है। यह किसी धातु–सोना अथवा चाँदी पर आधारित हो सकता है अथवा केवल पत्र–मुद्रा के रूप में ही मुद्रा का प्रचलन हो सकता है। मुद्रा–मान देश के आन्तरिक तथा विदेशी मुद्रा–मान आदि की व्यवस्था से सम्बद्ध होता है। इस तरह वह कोई वस्तु अथवा व्यवस्था, जिसके रूप में मुद्रा की क्रय–शक्ति को व्यक्त किया जाता है, मौद्रिक मान कहलाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी देश में सोना को मुद्रा की मुख्य अथवा प्रामाणिक इकाई के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो उस देश की मुद्रा प्रणाली स्वर्ण मान कहलायेगी, यदि चाँदी का प्रयोग किया जाता है तो रजत मान कहलायेगी। मुद्रामान की धारणा इस बात का संकेत देती है कि देश में प्रमाणिक मुद्रा चलनशील है और इस मुद्रा के रूप में दूसरी सभी मुद्राएँ परिवर्तनशील है। यही नहीं, मुद्रा मान से यह भी बात स्पष्ट होती है कि देश के नागरिक वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय मूल्यों का मूल्यांकन प्रामाणिक मुद्रा में करते हैं।

4.2 मौद्रिक मान का महत्व

किसी देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति तथा विकास, पूर्ण रोजगार और मूल्य स्थिरता की व्यवस्था के लिए एक अच्छा उचित मुद्रा मान नितान्त वांछनीय है। एक अच्छा मुद्रा–मान मूल्यों में स्थिरता लाकर आर्थिक अनिश्चितता को दूर करता है और व्यापार, व्यवसाय, वाणिज्य के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करता है। मुद्रा समान की त्रुटियाँ अनेक आर्थिक बुराइयों को जन्म देती हैं। इस प्रकार मुद्रामान का अर्थशास्त्र में भारी महत्व है। किसी देश की आर्थिक और सामाजिक प्रगति उसके मुद्रामान पर निर्भर होती है। मुद्रामान ऐसी प्रगति का पथ–प्रशस्त करता है।

4.3 मुद्रा–मान के भेद

मुद्रा–मान मूलतः दो प्रकार के होते हैं–

(क) वस्तुमान अथवा धातुमान (ख) पत्र–मान

प्रथम प्रकार के मुद्रा–मान में धातु का मूल्य–मान के रूप में प्रयोग किया जाता है। परन्तू दूसरे प्रकार के मुद्रा मान में पत्र–मुद्रा ही मूल्य के मान के रूप में प्रयोग की जाती है। पत्रमान को साख मान भी कहा जाता है। इन दोनों के अपने–अपने गुण–दोष हैं।

4.4 धातुमान

धातुमान के भी कई भेद हैं।

1. **एक–धातुमान**– इस मुद्रामान में केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है। एक–धातुमान के मुख्यतः दो भेद पाये जाते हैं।

(i) स्वर्णमान (ii) रजतमान

(i) **स्वर्णमान**– स्वर्णमान वह मुद्रा–प्रणाली है जिसमें कोई देश किसी समय में अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखता है। स्वर्णमान की मुख्य विशेषताएँ ये हैं–

1. स्वर्णमान के अन्तर्गत सरकार द्वारा प्रमुख मुद्रा की इकाई के मूल्य तथा उसके भार और शुद्धता को स्वर्ण के रूप में तय किया जाता है अर्थात सोने का टकसाली मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है अथवा निर्धारित भार एवं शुद्धता के प्रामाणिक सिक्को का स्वतन्त्र टंकण होता है।
2. इस मान में सोना का आयात–निर्यात स्वतन्त्र होता है।
3. सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर अपरिमित मात्रा में स्वर्ण के क्रय–विक्रय की व्यवस्था की जाती है।
4. देश में स्वर्ण का आयात–निर्यात स्वतन्त्र होता है।
5. यह मुख्य रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा–मान होता है।

2. **रजतमान**– एक धातुमान व्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण रूप रजत मान है। रजतमान वह मौद्रिक मान है जिसमें चाँदी के एक निश्चित भार और शुद्धता के सिक्कों का प्रचलन होता है। रजत मान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

1. इस व्यवस्था में चाँदी की प्रामाणिक मुद्रा चलन में रहती है जिसकी ढलाई स्वतन्त्र होती है और जिसके माध्यम से असीमित भुगतान किया जा सकता है।
2. चाँदी की धातु तथा मुद्राओं के आयात–निर्यात पर कोई बाधा नहीं होती है।

3. चाँदी की मुख्य मुद्राओं के साथ–साथ कागज के नोट और हल्की छोटी मुद्राएँ चलन में रहती हैं जो सामान्य भुगतानों के लिए प्रयोग में आती हैं।

4. देश की सम्पूर्ण मुद्रा–व्यवस्था का आधार चाँदी होती है क्योंकि कागज के नोट अथवा अन्य मुद्राएँ चाँदी की मुद्रा में परिवर्तनशील होती हैं।

सैद्धांतिक रूप में चाहे जो मान्यताएँ हों, व्यवहार में रजतमान शुद्ध रूप में एक धातुमान ही रहता है अर्थात् इस व्यवस्था को अपनाने वाले देशों में चाँदी की प्रधान मुद्रा अनिवार्य रूप से चलन में रही है जबकि स्वर्णमान अपनाने के लिए सोने की मुद्रा चलन में रखना आवश्यक नहीं रहता है। इस प्रकार व्यवहार में रजत मान सदा ही स्वर्णमान से अधिक महँगी व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त व्यवहार में स्वर्णमान सदा अन्तरर्राष्ट्रीय रहा है जबकि रजत मान को कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय रूप नहीं मिला है। वह कुछ देशों के मुद्रामान के रूप में प्रचलित रहा है जिनमें मुद्रा सम्बन्धी कोई सहयोग नहीं रहा है।

2. **द्वि–धातुमान**– इस प्रणाली में एक–ही साथ दो धातुओं को प्रामाणिक धातुओं के रूप में उपयोग किया जाता है। इसमें दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक तथा असीमित विधि–ग्राह्य मुद्रा होते हैं और दोनों के बीच विनिमय–दर नियम द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। ऋणदाता को दोनों धातुओं में अथवा इनमें से किसी में भी ऋण का भुगतान करने का अधिकार होता है। इस प्रकार एक धातुमान व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही धातु (सोना या चाँदी) की प्रधान मुद्रा चलन में रहती है और देश के सभी लेन–देन उस मुद्रा के माध्यम से होते हैं। लेकिन यदि किसी समय दो धातुओं की प्रधान मुद्राएँ चलन में रहें और सम्पूर्ण लेन–देन में उन दोनों मुद्राओं का समान महत्व हो तो इस प्रकार की स्थिति को द्वि–धातुमान कहा जाता है। सरलतम रूप में, यदि कोई देश एक ही साथ स्वर्णमान तथा रजतमान अपना ले तो ऐसी मुद्रा–व्यवस्था को द्वि–धातुमान कहा जायेगा।

द्वि–धातुमान के विभिन्न रूप– द्वि–धातुमान के तीन रूप प्रचलित रहे हैं।

(क) **विशुद्ध अथवा पूर्णकाय द्वि–धातुमान**– इसका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

(ख) **पंगु द्वि–धातुमान अथवा लंगड़ा मान**– यह द्विधातुमान की एक विशेष दशा होता है। यदि किसी देश में सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधि–ग्राह्य रखे जाते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है परन्तु एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र हो और दूसरे की स्वतन्त्र नहीं हो तो ऐसा मान 'लगड़ा मान' अथवा 'पंगु–मान' कहालाता है। इस प्रकार की व्यवस्था को लंगड़ा मान इसलिए कहा जाता है कि जिस सिक्के की स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती है वह कठिनाई के साथ चालू रहता है और केवल अपना पैर घिसटता रहता है। इस प्रकार मुद्रा–मान की एक टाँग बेकार रहती है। पंगु द्वि–धातुमान और विशुद्ध अथवा पूर्णकाय द्वि–धातु में केवल एक ही अन्तर है। पूर्णकाय द्वि–धातुमान में दोनों धातुओं की मुद्राओं की स्वतन्त्र ढलाई होती है जबकि पंगुमान में दो धातुओं की प्रधान मुद्राएँ चलन में तो रहती हैं किन्तु दोनों में से केवल एक धातु की मुद्रा की ढलाई ही स्वतन्त्र होती है।

(ग) **वैकल्पित अथवा समानान्तर द्वि–धातुमान**– इस मान को समानुपाती मान पद्धति भी कहा जाता है। यह पद्धति द्वि–धातुमान का ही एक रूप है। इसमें भी दो धातुओं के सिक्के प्रचलन में रहते हैं और दोनों ही प्रामाणिक मुद्रा तथा अपरिमित विधि–ग्राह्य होते हैं। दोनों धातुओं के सिक्कों की ढलाई भी स्वतन्त्र रहती है। परन्तु द्वि–धातुमान तथा व्यकल्पित मान में यह अन्तर होता है कि पहले तो दोनों धातुओं के बीच का विनिमय अनुपात नियमानुसार निश्चित कर दिया जाता है जबकि दूसरे में ऐसा नहीं किया जाता। विनिमय अनुपात को बाजार मूल्यों के आधार पर स्वयं निश्चित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार के निर्धारित होने वाले अनुपात के आधार पर टकसाली विनिमय अनुपात निश्चित किया जाता हैं यह टकसाली अनुपात स्थिर नहीं होता बल्कि दोनों धातुओं के मूल्यों में परिवर्तन के साथ–साथ बदलता रहता है।

3. **बहुमान–धातुमान**– बहुधातुमान में कई धातुओं के प्रामाणिक सिक्के एक साथ चलन में होते हैं। ये सभी सिक्के असीमित विधि–ग्राह्य होते हैं तथा इसका स्वतंत्र टंकन होता है। इन सभी के बीच विनिमय–दर सरकार निश्चित करती है। यह एक काल्पनिक मुद्रामान है जिसका अभी तक किसी देश में प्रयोग नहीं किया गया है।

4. **मिश्रित धातुमान**– द्वि–धातुमान में सिक्कों के बाजार मूल्य अनुपात में परिवर्तन के कारण एक धातु की मुद्रा का सापेक्ष मूल्य एक साल के सापेक्ष मूल्य से अधिक तथा दूसरी का कम हो जाता था। इस कारण एक प्रकार के सिक्कों की माँग मौद्रिक कार्यों तथा दूसरे प्रकार के सिक्कों की माँग अमौद्रिक कार्यों और सग्रह के लिए होती थी। इस प्रकार द्वि–धातुमान में ग्रेशम का नियम लागू होता था। इस प्रभाव से बचने के लिए ब्रिटेन जगत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० अल्फ्रेड मार्शल ने एक सुझाव दिया, जिसके अनुसार चलन में दो प्रकार की प्रामाणिक मुद्रा होनी चाहिए परन्तु वह मुद्रा दोनों धातुओं के मिश्रण से बननी चाहिए। इन धातुओं का प्रयोग एक निश्चित अनुपात में होना चाहिए। मुद्रा की परिवर्तनशीलता भी दोनों धातुओं के निश्चित मिश्रण से बनी छड़ों में होनी चाहिए।

5. **प्रादिष्ट मान**– प्रादिष्ट मान में मुद्रा की इकाई का मूल्य स्वर्ण अथवा किसी अन्य धातु अथवा धातुओं की एक निश्चित मात्रा के बराबर नहीं रखा जाता है। प्रो• केन्ट के अनुसार प्रादिष्ट मान की विशेषताएँ तीन होती हैं–

   1. वस्तु के रूप में मुद्रा का मूल्य लगभग नही ंके बराबर होता है।
   2. इसको ऐसी किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसका मूल्य उस मुद्रा के अंकित मूल्य के बराबर हो।
   3. इसकी क्रय–शक्ति को स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु के मूल्य के बराबर नहीं रखा जाता।

   किसी भी मुद्रा को प्रादिष्ट मान उस समय तक कहना कठिन होगा जब तक उसमें चलन की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखा जाता है यद्यपि वह स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं है।

6. **सूचीबद्ध अथवा सूचक अंकमान**– इस प्रकार के मुद्रा मान का सुझाव प्रो० फिशर ने दिया है। फिशर का विचार है कि एक अच्छे मुद्रा–मान में देश के अन्दर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों की स्थिरता बनाये रखने का गुण होना चाहिए। इस पद्धति के अनुसार एक आधार वर्ष चुन लिया जाता है और इस वर्ष के मूल्यों के आधार पर देश में सामान्य मूल्यों के निर्देशांक बनाये जाते हैं। इन र्दिशंकों के अनुसार भविष्य में मुद्रा का मूल्य नियत किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा का एक बार निश्चित किया हुआ मूल्य सदा के लिए स्थिर नहीं रहता। मूल्य परिवर्तनों के साथ–साथ उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि स्थगित शोधनों अथवा लेन–देन में समता बनी रहती है। ऋण–दाता अथवा ऋणी दोनों में से किसी को भी हानि नहीं होती है। उदाहरणस्वरूप, यदि मूल्यों का निर्देशांक 5 प्रतिशत ऊपर चढ़ जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि मुद्रा अथवा स्वर्ण के मूल्य 5 प्रतिशत घट गये हैं। ऐसी दशा में सरकार सोना के निर्धारित मूल्यों में 5 प्रतिशत कमी कर देगी। फल्स्वरूप चलन की मात्रा घटेगी और साख–मुद्रा में भी कमी आ जायेगी। इस कारण मुद्रा के मूल्य नीचे गिर सकेंगे। इसी प्रकार मूल्यों के घटने की दशा में मुद्रा के मूल्यों को आवश्यक अनुपात में बढ़ा देने से मुद्रा के मूल्यों को और आगे घटने से रोका जा सकता है।

7. **क्षतिपूरक मान**– इस मुद्रामान में चलन की इकाई के धातु–भार में मूल्यों में परिवर्तन के अनुपात में परिवर्तन कर दिया जाता है जिससे मुद्रा की क्रय–शक्ति समान बनी रहती है। यदि वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य बढ़ जाता है अर्थात मुद्रा की इकाई की क्रयशक्ति में परिवर्तन हो जाता है तो मुद्रा की इकाई में धातु की मात्रा में इस प्रकार से परिवर्तन किया जाता है कि इसकी क्रय–शक्ति पूर्ववत् बनी रहे। इसी तरह क्षतिपूरक मान में मुद्रा की इकाई के धातु–भार में समय–समय पर परिवर्तन कर मुद्रा की क्रय–शक्ति को समान बनाये रखा जाता है।

8. **संयुक्त वस्तुमान**– समय–समय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा ऐसी मुद्रा व्यवस्थाओं का सुझाव दिया गया है जिनमें कई वस्तुओं को कोष में रख कर मुद्रा निकाली जाय। इस व्यवस्था की श्रेष्ठतम रूप–रेखा बेन्जामिन ग्राहम द्वारा प्रस्तुत की गयी है जिनकी मुख्य बातें निम्नलिखत हैं–

   1. वस्तु कोष– एक कोष की स्थापना की जाय जिससे समाज की अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह किया जाय।

   2. व्यवसाय में स्थायित्व– वस्तुओं के इस कोष का प्रयोग व्यापारिक स्थितियों में स्थायित्व लाने तथा भविष्य के सम्भावित अथवा आकस्मिक संकटों से मुक्त होने के लिए किया जाना चाहिए।

   3. वस्तु मूल्य– कोष में संग्रह की गयी वस्तुओं का मूल्य उसी प्रकार निश्चित किया जाना चाहिए जिस प्रकार स्वर्ण का डालर में मूल्य निर्धारित किया गया था।

   4. मुद्रा– इस वस्तु–संग्रह को कोष मान कर जो मुद्रा निर्गमित की जायेगी वह वर्तमान मुद्रा से अधिक शक्तिशाली और विश्वसनीय होगी क्योंकि इसकी पीछे उन वस्तुओं का कोष होगा जो सामान्य व्यवहार में काम आती है।

4.5 धातुमान का भविष्य

आधुनिक विश्व में मुद्रा का स्थान निरन्तर सांकेतिक होता जा रहा है। अतः आधुनिक युग में किसी भी प्रकार का धातुमान अपनाना उचित और सम्भव नहीं है। इसके निम्नलिखित कारण हैं–

1. **महँगापन**– धातुमान को अपनाने में धातुमान मुद्रा का चलन करना पड़ता है जो निश्चित रूप से बहुत महँगी है।

2. **धातु की अधिक मात्रा की आवश्यकता**– आधुनिक युग में प्रायः सभी देशों में आर्थिक विकास के दबाव के कारण निवेश तथा प्रबंध के लिए अधिक–से–अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। अतः मुद्रा की इस बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करने के लिए यथेष्ट मात्रा में धातु की व्यवस्था करना सम्भव नहीं है।

3. **असुविधाजनक**– आधुनिक युग में जनता हल्की मुद्रा को ही लेन–देन का माध्यम बनाना चाहती है। धातु–मुद्रा भारी होती है, अधिक जगह घेरती है और इसके माध्यम से भुगतान करने में समय अधिक लगता है। धातु मुद्रा को खोटी–खरी परखने की असुविधा भी होती है।

4. **कोष निधि में प्रयोग**– विश्व में सभी देशों में मुद्रा–स्फीति बढ़ रही है। फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में निरन्तर गिरावट आ रही है। अतः आधुनिक मुद्रा का एक महत्वपूर्ण कार्य– 'संग्रह का आधार'– धीरे–धीरे लुप्त होता जा रहा है। इसलिए लोग सोना–चाँदी आदि धातुओं को ही भविष्य निधि के रूप में रखना पसन्द करते हैं।

4.6 सारांश

धातुमान अब एक भूतकाल की व्यवस्था मात्र रह गया है। अब उसका केवल शास्त्रीय अथवा शैक्षणिक महत्व ही रह गया है। सुदूर भविष्य में भी इस प्रकार के मुद्रा मान को अपनाये जाने की कोई सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि अनेक विकासशील देशों को आर्थिक विकास के सामान्य स्तर पर आने में भी अभी अनेक वर्ष लगेंगे। तब तक कागजी मान ही अपनाया जाता रहेगा।

4.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा मान क्या है? उदाहरण देकर एक अच्छे मुद्रा मान के आवश्यक तत्वों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 2- द्विधातु मान के आवश्यक तत्वों का विवेचन कीजिए। क्या आधुनिक जगत में द्विधातु मान अपनाया जा सकता है? कारण लिखिए।

4.8 शब्दावली

स्वर्ण मान	:	Gold Standard
रजत मान	:	Silver Standard
द्वि–धातुमान	:	Bi-Metallism
मिश्रित धातुमान	:	Symmetallism
प्रादिष्ट मान	:	Fiat Standard

4.9 सन्दर्भ सूची

D. H. Robertson	:	Money
D. H. Robertson	:	Essays in Monetary Theory
G.Halm	:	Monetary Theory
Coulborn	:	A Discussion on Money
G. Crowther	:	An Outline of Money
Agsan	:	The Problems of Foreign Exchange
Chapman	:	An Outline of Political Economy edited by Prof. A. C. Pigou

इकाई–5 पत्र–मुद्रामान, मुद्रा का आधुनिक स्परूप

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 पत्र मुद्रामान की विशेषताएं
5.3 पत्र मुद्रामान के गुण
5.4 पत्र मुद्रामान के दोष
5.5 एक अच्छे मुद्रामान के आवश्यक गुण
5.6 भारत का मुद्रामान
5.7 सारांश
5.8 बोध प्रश्न
5.9 शब्दावली
5.10 सन्दर्भ सूची

5.0 उद्देश्य

पत्र–मुद्रा मान प्रथम महायुद्ध काल की उत्पत्ति है। यद्यपि परिवर्तनशील पत्र–मुद्रा का प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध से पहले भी किया गया, तथापि अपरिवर्तनशील पत्र–मुद्रा का प्रयोग प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ही शुरू किया गया। पत्र–मुद्रा मान को साख मान भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत देश की मुद्रा व्यवस्था सरकार की साख पर निर्धारित होती है। अतः इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य देश के मुख्य मुद्रा करेन्सी नोटों अथवा कागजी नोटों के बारे में जानकारी प्राप्त करना है।

5.1 प्रस्तावना

स्वर्णमान के पतन के पश्चात् पत्र–मुद्रामान विश्व के सभी देशों द्वारा अपना लिया गया है। केन्स ने इसे प्रबन्धित मुद्रा–प्रणाली का नाम दिया है तथा कुछ शर्तों के साथ उसे सर्वश्रेष्ठ माना है। इस मान में प्रमुख मुद्रा किसी धातु में परिवर्तनशील नहीं होती। इसमें कागज के नोटों का चलन होता है जिनका निर्गमन निर्धारित पद्धति के अनुसार होता है। पत्र–मुद्रा मान का अभिप्राय उस मुद्रा प्रणाली से है जिसमें देश की 'प्रधान मुद्रा' कागजी नोटों के रूप में होती है। यह अपरिमित विधिग्राह्य होती है। इसका मूल्य न तो किसी धातु से निर्धारित होता है, और न यह किसी धातु में परिवर्तनशील ही होती है। इसके साथ–साथ छोटे–छोटे सौदे के भुगतान हेतु निक्रिष्ट धातुओं के प्रतीक सिक्के भी प्रचलित होते हैं, जो सभी सीमित विधिग्राह्य होते हैं। पत्र मुद्रा मान को 'प्रबन्धित चलनमान' भी कहा जाता है, क्योंकि इसके मौद्रिक–प्रबन्धन द्वारा मुद्रा मूल्य को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। पत्र–मुद्रा मान अपनी योग्यता के आधार पर प्रचलित रहने की बजाय सरकारी आदेश के आधार पर प्रचलित रहता है। सरकारी आदेश या सरकार की साख के आधार पर प्रचलित रहने के कारण पत्र–मुद्रा मान को 'साख–मान' भी कहा जाता है। पत्र–मुद्रा मान के अन्तर्गत मौद्रिक प्राधिकारी (केन्द्रीय बैंक) देश की परिवर्तित मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा कुल पूर्ति को मुद्रा की कुल मांग के साथ समायोजित करता है।

5.2 पत्र मुद्रा मान की विशेषताएँ

1. पत्र मुद्रा देश में प्रामाणिक तथा अपरिमित विधि ग्राह्य मुद्रा होती है।
2. पत्र–मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप में निश्चित होता है। स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु द्वारा उसका मूल्य निश्चित नहीं होता है।
3. पत्र–मुद्रा को अन्य किसी धातु में बदलने की व्यवस्था नहीं होती है और पत्र–मुद्रा ही विनिमय के माध्यम का कार्य करती है।
4. पत्र–मुद्रा मान में भी विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए स्वर्ण कोषों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि विदेशी लोग इस देश के चलन को स्वीकार नहीं करते हैं। इस कार्य के लिए सोना जमा किया जाता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद अब अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के लिए सोने की आवश्यकता नहीं रह गयी है।
5. पत्र–मुद्रा मान में चलन का प्रबन्ध अथवा नियमन मुद्रा नियन्त्रक द्वारा किया जाता है। उद्देश्य यह होता है कि मूल्य–स्तर की स्थिरता बनी रहे। इसके लिए मुद्रा संचालक चलन की मात्रा को आवश्यक अंश तक बढ़ाता–घटाता रहता है। चलन की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर बनाए रखकर मूल्यों की स्थिरता प्राप्त की जाती है। वस्तुतः इस मान में मुद्रा की मात्रा परनियन्त्रण रखने के कारण ही इसे प्रबन्धित मुद्रा मान कहा जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध अथवा नियन्त्रण की कोई आवश्यकता स्वर्ण अथवा रजतमान में नहीं होती।
6. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में विदेशी विनिमय की दर का निर्धारण पत्र चलन वाले देशों की चलन–इकाई की क्रय–शक्ति के आधार पर होता है। आजकल विदेशी विनिमय दर का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय`मुद्रा कोष को सूचित की हुई समता दरों के आधार पर किया जाता है।

पत्र–मुद्रा मान को प्राविष्ट मुद्रामान भी कहा जाता है। कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि 'पत्र–मुद्रा मान सामान्यतः मान–विहीनता की स्थिति है।' इस धारणा के कारण निम्नलिखित है।

1. पत्र–मुद्रा मान में कागजी मुद्रा का मूल्य किसी भी वस्तु के तुल्य निश्चित नहीं किया जाता।
2. सरकार कागज के नोटों के बदले कुछ भी देने का वादा नहीं करती।
3. पत्र–मुद्रा मान के अन्तर्गत जो मुद्रा चलन में रहती है उसका अपना कोई आन्तरिक मूल्य नहीं होता।
4. पत्र–मुद्रा मान में मुद्रा की क्रय–शक्ति को किसी वस्तु के तुल्य रखने की चेष्टा भी नहीं की जाती।

संक्षेप में, पत्र मुद्रा–मान एक सांकेतिक मुद्रा व्यवस्था है जो सरकार की साख पर निर्भर है। यदि जनता का सरकार में विश्वास है तो मुद्रा में भी उसका विश्वास बना रहता है अन्यथा मुद्रा के मूल्यों में तीव्र गति से उतार–चढ़ाव होने लगते हैं। इस विशेषता के कारण ही पत्र–मुद्रा मान को साख मान भी कहा जाता है।

5.3 पत्रमुद्रा मान के गुण

1. **लोचदार**– इस व्यवस्था में सरकार आवश्यकतानुसार नोट निकाल सकती है क्योंकि नोटों के पीछे प्रायः सरकारी प्रतिज्ञा–पत्रों की आड़ या धरोहर रखी जाती है। इसमें कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। इस लोच के कारण ही कुछ व्यक्ति पत्र मुद्रा–मान को संकट का साथी कहते हैं। अतः विकासशील देशों के लिए पत्रमुद्रा मान विशेष रूप में उपयोगी और सहायक है।

2. **सरल मुद्रा प्रणाली**– पत्र–मुद्रा मान एक अत्यन्त सरल मुद्रा–प्रणाली है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक प्रचलित नियमों के अनुसार नोट निकाल कर सरकार की सहायता करता है। इस व्यवस्था में धातु मुद्रा मान की भौतिक तथा व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयाँ नहीं होती हैं।

3. **मितव्ययतापूर्ण**– पत्र–मुद्रा मान एक ऐसी मुद्रा व्यवस्था है जिसे गरीब–से–गरीब देश भी बिना विशेष कठिनाई से अपना सकते हैं क्योंकि इसमें न तो धातु प्राप्त करने की कठिनाई होती है, न धातु कोष रखने की परेशानी।

4. **आर्थिक विकास में सहायता**– आर्थिक विकास के लिए बड़ी मात्रा में वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है। पत्र–मुद्रा का सबसे बड़ा गुण यह होता है कि इसका प्रयोग आर्थिक नीति के एक साधन के रूप में (सस्ती मुद्रा नीति अथवा महँगी मुद्रा नीति के रूप में) किया जा सकता है। स्वर्णमान की भाँति इसमें मौद्रिक नीति अन्य देशों की नीति पर निर्भर नहीं होती वरन् इसमें देश अपनी स्वतंत्र मौद्रिक नीति अपना सकता है। केन्स ने मुद्रा के गतिशील कार्यों का संकेत दिया है जिसका अर्थ केवल यह है कि आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति– जैसे, पूर्ण रोजगार की स्थापना, नियोजित विकास, मूल्य–स्तर में स्थिरता आदि– के लिए मुद्रा को एक यन्त्र के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसा केवल पत्र–मुद्रा मान में ही सम्भव है।

5. **स्वर्णमान की कठिनाइयों से मुक्ति**– पत्र–मुद्रा के अन्तर्गत देश को उन कठिनाईयों से छुटकारा मिल जाता है जो स्वर्णमान के अन्तर्गत झेलनी पड़ती है। स्वर्णमान के अन्तर्गत देश की मुद्रा किसी दूसरे देश की मुद्रा पर निर्भर होती है। अतः स्वर्णमान देश को अपनी निजी अर्थव्यवस्था के हित में आर्थिक नीति अपनाने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान में देश से सोने का आयात–निर्यात होने के कारण मुद्रा–संकुचन या मुद्रा–प्रसार तथा इन प्रवृत्तियों से उत्पन्न दोष जन्म लेते हैं। परन्तु पत्र–मुद्रामान के अन्तर्गत देश को अपनी निजी अर्थव्यवस्था के हित में आर्थिक नीति अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

6. **प्रतिकूल परिस्थिति मित्र**– स्वर्णमान को एक अनुकूल परिस्थिति–मित्र कहा गया है क्योंकि यह मान केवल साधारण परिस्थितियों में ही सफलता से क्रियाशील रह सकता है। इसके विपरीत पत्र–मुद्रामान एक ऐसा प्रतिकूल परिस्थिति मित्र है जो युद्ध, मंदी आदि आर्थिक राजनीतिक संकटों के समय सरकार की सहयता प्राप्त करता है। ऐसे समय में सरकार बिना किसी विशेष कठिनाई के पत्र–मुद्रा का प्रसार कर सकती है।

7. **सामान्य मूल्य–स्तर में स्थिरता**– पत्र–मुद्रामान के अन्तर्गत सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक देश की अर्थ–व्यवस्था की आवश्यकतानुसार मुद्रा तथा साख के परिमाण को घटा–बढ़ा कर देश के सामान्य मूल्य–स्तर में स्थायित्व लाने में सफल होते हैं। इस कार्य हेतु इसे स्वर्ण कोष रखने की आवश्यकता नहीं होती।

8. **सस्ता मुद्रामान**– पत्र–मुद्रा मान को संसार का काई भी निर्धन देश सरलता से अपना सकता है क्योंकि इस मान को अपनाने के लिए उसे किसी धात्विक कोष को अपने पास रखने की आवश्यकता नहीं होती।

9. **विनिमय**– दर का क्षमतामान नियमन– पत्र–मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय दर का अधिक क्षमतामान नियमन हो जाता है। एगसन ने पत्र–मुद्रामान के इस गुण की प्रशंसा करते हुए लिखा है– "पत्र–प्रणाली की मनोहरता इस बात में है कि जैसे ही माँग–पूर्ति में असाम्य उत्पन्न होता है विनिमय–दरों के तीव्र परिवर्तन स्वयं आयातों और निर्यातों को प्रभावित करके साम्य स्थापित कर देते हैं। इस पत्र–मुद्रामान में माँग पूर्ति तथा मूल्य–सम्बन्धी नियम स्वतन्त्रता तथा विनिमय बाजार में लागू होते हैं, जिससे माँग–पूर्ति में तीव्र अल्पकालीन उच्चवचन होते रहते हैं।"

5.4 पत्र मुद्रामान के दोष

1. **मुद्रा–प्रसार का भय**– इस मान के अन्तर्गत मुद्रा का किसी धात्विक कोष से सम्बन्ध नहीं रहने के कारण मुद्रा प्रसार का भय सदा बना रहता है। बहुधा सरकार अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग करके अर्थात आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा की निकासी करके देश में मुद्रा–स्फीति की स्थिति उत्पन्न कर देती है जिसके फलस्वरूप अधिकांश देशों में अति–स्फीति की समस्या का सम्बन्ध पत्र–मुद्रा के अधिक प्रचलन से रहा है।
2. **विदेशी विनिमय दर में अस्थिरता**– चूँकि पत्र–मुद्रा का सम्बन्ध किसी भी धातु से नहीं होता इसलिए देश की मुद्रा–प्रणाली से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता और विदेशी विनिमय–दर का निर्धारण विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन द्वारा होता है। आंतरिक क्रय–शक्ति तथा विनिमय–दर में परिवर्तन एक दूसरे को प्रमाणित करते हैं। अतः देश के आन्तरिक मूल्यों की तरह इस मान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश को अस्त–व्यस्त कर देती है। इस कारण संसार में आर्थिक सहयोग और शांति भंग हो जाती है।
3. **सामान्य मूल्य स्तर में अस्थिरता**– वस्तुतः पत्र–मुद्रा मान का मूल्य–स्थिरता सम्बन्धी तर्क भी शंकाजनक है। आर्थिक इतिहास के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी, आस्ट्रिया, सोवियत रूस तथा यूरोप के अन्य देशों में पत्र–मुद्रा के अत्यधिक प्रचलन के कारण ही अतिस्फीति का संकट पैदा हुआ था तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ग्रीस, चीन और पोलैंड आदि देशों में पत्र–मुद्रा के अत्यधिक प्रचलन के कारण अतिस्फीति की समस्या पैदा हुई थी।
4. **व्यापार–चक्रीय परिवर्तनों से विमुक्ति नहीं**– स्वर्णमान के सदृश पत्र–मुद्रा मान में भी एक देश की आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन का प्रभाव दूसरे देशों की आर्थिक दशाओं पर पड़ता है क्योंकि आज की विषम आर्थिक परिस्थितियों में किसी एक देश के लिए अपनी निजी अर्थ–व्यवस्था को दूसरे देशों की अर्थ–व्यवस्थाओं से विलग रखना सम्भव नहीं है।
5. **पूँजी के अन्तर्राश्ट्रीय आवागमन में बाधा**– पत्र–मुद्रा मान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पूँजी के स्वतन्त्र आवागमन में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं क्योंकि विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ इसमें बाधा उत्पन्न करती हैं।
6. **खतरापूर्ण**– वस्तुतः पत्र–मुद्रामान केवल उसी दशा में उपयोगी सिद्ध होता है जब उसका प्रबन्ध ठीक ढंग से किया जाता हो। यदि इसके प्रबन्ध नियन्त्रण में लेसमात्र भी त्रुटि रह जाती है तो इसके बड़े भयंकर परिणाम उत्पन्न होते हैं।

सत्यतः पत्रमुद्रा मान एक सरल, सुविधाजनक तथा श्रेष्ठ व्यवस्था है। इस पर उचित नियन्त्रण न रखने पर ही यह हानिकारक हो सकती है अन्यथा यह विकास के लिए सहायक ही सिद्ध होती है।

5.5 एक अच्छे मुद्रामान के आवश्यक गुण

प्रत्येक देश अपनी सुविधाओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रामान अपनाता है। वास्तव में सभी देशों की आर्थिक स्थितियाँ तथा साधन समान नहीं हो सकते। इसलिए सभी देशों के लिए एक सर्वमान्य मुद्रा–व्यवस्था की सिफारिश नहीं की जा सकती। पर साामान्य रूप में कुछ ऐसे तत्वों की ओर संकेत किया जा सकता है जो किसी देश के मुद्रामान के आधार हो सकते हैं। एक अच्छे मुद्रामान अथवा चलन–प्रणाली में निम्नलिखित गुणों की पाया जाना वांछनीय है–

1. **मूल्य स्थायित्व**– एक अच्छे मुद्रामान के अन्तर्गत मुद्रा के आन्तरिक और बाह्य मूल्य में स्थिरता रहती है। एक अच्छी मुद्रा–प्रणाली का यह लक्षण नहीं है कि देश के अन्दर वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक

उच्चावचन हो। इसी प्रकार एक अच्छी मुद्रा–पद्धति वह है जो विदेशी विनिमय–दरों में स्थिरता रखती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति की स्थापना हो सके।

2. **सरलता**– एक अच्छी मुद्रा–प्रणाली में सरलता का गुण भी होना आवश्यक है ताकि व्यापारी, उद्योगपति और जनसाधारण इसकी सरलता से समझ सके तथा इसके प्रचलन में कुशलता या त्रुटियों का कोई भय न रहे। जिस मुद्रामान में सरलता का गुण निहित होगा उसमें जनता का विश्वास भी पर्याप्त होगा।

3. **लोचपूर्णता**– मुद्रा–प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि इसके अन्तर्गत देश की अर्थ–व्यवस्था में उद्योग, व्यापार, कृषि, वाणिज्य की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की पूर्ति को सरलता से घटाया–बढ़ाया जा सके।

4. **मितव्ययता**– विनिमय का माध्यम सस्ता होना चाहिए ताकि देश को इसके प्रचलन में अधिक व्यय न करना पड़े। एक निर्धन देश के लिए तो धात्विक मुद्रा–प्रणाली को अपनाना बहुत भारपूर्ण बन जाता है।

5. **परिवर्तनशोलता**– एक अच्छे मुद्रामान का उद्देश्य यह होना चाहिए कि इसमें पत्र–मुद्रा स्वर्ण या रजत में परिवर्तनीय हो। मुद्रा प्रणाली में निहित इस विशेषता के दो मुख्य लाभ होते हैं–

   (क) मुद्रा–प्रणाली में जनता का विश्वास बना रहता है तथा

   (ख) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सुविधा रहती है। किसी देश की सरकार को इतना स्वर्ण–कोष अपने पास अवश्य रखना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में कोई कठिनाई उत्पन्न हो पाये।

6. **स्वयं संचालकता**– एक अच्छी मुद्रा–प्रणाली वही होगी जिसमें सरकारी हस्तक्षेप के बिना ही देश की अर्थ–व्यवस्था की मौलिक आवश्यकता के अनुसार स्वतः परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है। जिस मुद्रा–प्रणाली के प्रचलन में सरकारी हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता पड़ती है उसमें जनता का विश्वास कम हो जाता है। फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है।

7. **निश्चितता**– मुद्रामान सम्बन्धी सभी तत्व कानून द्वारा स्पष्ट होना चाहिए अन्यथा उसमें जनता का विश्वास कम हो जायेगा तथा सरकार मुद्रा–प्रचलन सम्बन्धी अधिकार का कभी भी दुरुपयोग कर सकेगी।

8. **प्रबन्ध में सुविधा**– एक अच्छे मुद्रामान में मुद्रा का निर्गमन तथा संचालन प्रायः सरल होता है। यदि इसके प्रबंध में कोई कठिनाई या जटिलता हो तो उसे उत्तम नहीं कहा जा सकता।

9. **विश्वास**– मुद्रामान की श्रेष्ठता का एक महत्वपूर्ण मापदण्ड यह भी है कि उसमें जनता का र्प्याप्त विश्वास हो। सामान्यतः जनता का विश्वास शासन–व्यवस्था पर निर्भर है न कि मुद्रामान पर। यदि शासन व्यवस्था कुशल, स्थायी और न्यायपूर्ण हो तो उसमें जनता का विश्वास रहेगा और मुद्रामान का संचालन भी कुशलता तथा सुविधापूर्ण होता रहेगा।

मुद्रामान की मितव्ययता तथा मुद्रा मूल्य में स्थायित्व– ये दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिस मुद्रा के मूल्यों में स्थायित्व रहता है वह प्रायः महँगी होती है जबकि सस्ती मुद्रा–व्यवस्था में मुद्रा का मूल्य निरन्तर गिरता रहता है। व्यवहारिक जीवन में किसी मुद्रामान में ये दोनों तत्व एक साथ नहीं मिल सकते। अतः सरकार यह देख लेती है कि उसकी आवश्यकताएँ किस प्रकार की हैं और मुद्रा के मूल्य स्थायित्व तथा मितव्ययता में कितना संतुलन देश के लिए आवश्यक है। इन दोनों बातों पर ध्यान रख कर ही मुद्रामान अपनाया जाता है। लोच, मितव्ययता और प्रबन्ध में सुविधा ऐसे गुण हैं जो किसी श्रेष्ठ मुद्रामान में आवश्यक हैं। किन्तु मूल्य में स्थायित्व तथा जन विश्वास मुद्रामान के मूल तत्व नहीं हैं। इसका सम्बन्ध प्रशासन की नीति और कुशल संचालन से है। अतः असकी सफलता प्रशासन की नीतियाँ तथा व्यवस्थाओं पर निर्भर है।

5.6 भारत का मुद्रामान

ब्रिटिश शासन काल में भारतीय रुपये की कभी भी स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला। रुपये का स्टर्लिंग से नियमित गठबंधन रखा गया और रुपये तथा पौंड की विनिमय–दर निर्धारित स्तर पर बनी रहे, इस बात को ही सदा महत्व दिया गया। इस काल की अधिकांश अवधि में (प्रथम महायुद्ध के आरम्भ से सन् 1924 तक के वर्षों को छोड़कर) ब्रिटेन स्वर्णमान पर था। अतः स्टर्लिंग विनिमय मान तथा स्वर्ण विनिमय मान में कोई अन्तर नहीं था। अतः मुद्रा इतिहासकार उस समय के भारतीय मुद्रामान को स्वर्ण विनिमय मान ही प्रचलित था। सन् 1926 में हिल्टन यंग आयोग ने भारत में स्वर्ण धातुमान स्थापित करने की सिफारिश की। तत्कालीन भारत सरकार ने सिद्धांत में तो स्वर्ण धातुमान स्थापित किया परन्तु इस अवधि में भी व्यवहार में स्टर्लिंग विनिमय मान ही अपनाया गया क्योंकि जब कभी भी विदेशी भुगतान की आवश्यकता होती थी सरकार स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिंग ही देती थी। सन् 1931 में जब ग्रेट ब्रिटेन में स्वर्णमान का अन्त हो गया तब तो भारत में स्पष्ट रूप से स्टर्लिंग विनिमय मान अपनाने की घोषणा कर दी गयी। सन् 1931 में अधिकृत रूप में अपनाये गये स्टर्लिंग विनिमय मान की दो मुख्य विशेषताएँ थीं।

1. रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर 1 शि० 6 पेंस निर्धारित की गयी और रिजर्व बैंक को असीमित मात्रा में स्टर्लिंग खरीद–बेच कर इस दर को बनाये रखने के लिए उत्तरदायी ठहराया गया था। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व यह कार्य भारत सरकार करती थी।

2. सन् 1935 में जब रिर्जव बैंक की स्थापना की गयी और उसे पत्र–मुद्रा जारी करने का एकाधिकार दे दिया गया तो यह व्यवस्था की गयी कि वह नोट के पीछे स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ कोष में रख सकेगा।

द्वितीय विश्व युद्ध काल (1936-45) में भी भारत स्टर्लिंग विनिमय मान को अपनाये रहा। इस काल में पौंड पावनों की पर्याप्त रकम भारत के खाते में जमा होने के कारण रिजर्व बैंक द्वारा उनकी जमानत पर बड़ी मात्रा में नोट निर्गमित किये गए। इससे देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी। यह मुद्रा स्फीति स्टर्लिंग विनिमय मान को अपनाये रखने का परिणाम थी। सम्पूर्ण ब्रिटिश काल में भारतीय रुपया स्टर्लिंग के दासत्व पाश में जकड़ा रहा। रुपये की विनिमय दर का निर्धारण तथा उसमें परिवर्तन स्टर्लिंग की स्थिति पर ही निर्भर रहा। सरकार विनिमय–दर निश्चित करने में स्टर्लिंग के हित का ही ध्यान रखती थी।

जब सन् 1945 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई तो भारत ने कोष की सदस्यता ग्रहण करने का निश्चय किया। इस निश्चय के परिणामस्वरूप भारत में जो मुद्रा मान स्थापित हुआ उसे निम्नलिखित विभिन्न नामों से पुकारा जाता है–

1. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान
2. अन्तर्राष्ट्रीय डालर विनिमय मान
3. अन्तर्राष्ट्रीय विदेशी विनिमय मान
4. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण समता मान।

यह मुद्रा मान निश्चित विनिमय दर पर आधारित था। परन्तु निश्चित विनिमय दर प्रणाली प्रचलित हुई। इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विभिन्न सदस्य अपनी मुद्रा के समता मूल्य को कुछ प्रमुख मुद्राओं की टोकरी के संदर्भ में निर्धारित करते हैं। 1975 से भारतीय मुद्रा का स्टर्लिंग से सम्बन्ध टूट गया और भारतीय रुपया अब एक स्वतन्त्र मौद्रिक इकाई बन गया है।

क्या भारत का वर्तमान मुद्रामान श्रेष्ठ है?

भारत में वर्तमान समय में विदेशी विनिमय मान प्रचलित है। इसकी अनेक दृष्टिकोणों से श्रेष्ठ कहा जा सकता है–

1. **स्वतन्त्र मान**– भारतीय मुद्रा–व्यवस्था अब किसी देश की मुद्रा व्यवस्था पर निर्भर नहीं है। अब यह किसी देश में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती है। इस दृष्टि से यह मुद्रामान एक स्वतन्त्र मुद्रामान है। इसका सम्बन्ध मुद्राकोष के सदस्य देशों से है। किन्तु यह सम्बन्ध किसी बन्धन या सीमा का द्योतक नहीं बल्कि मुद्रामान की व्यापकता और इसके अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का परिचायक है।
2. **लोचदार**– वर्तमान भारतीय मुद्रामान पर्याप्ततः लोचदार है। अब भारतीय मुद्रा स्वर्णकोष की अनिवार्यता से जुड़ी हुई नहीं है। देश की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। यदि ऐसा नहीं होता तो भारत की योजनाओं में सफलता सर्वथा संदिग्ध रहती।
3. **विनिमय दर में स्थायित्व**– कुछ लोग मानते हैं कि वर्तमान भारतीय मुद्रामान में स्फीति को प्रोत्साहन देने वाले तत्व निहित है। इसीलिए देश में निरन्तर मुद्रा–प्रसार हो रहा है और रुपये का दो बार अवमूल्यन भी करना पड़ा है। परन्तु वास्तव में यह स्थिति इस बात का परिचायक नहीं है कि भारतीय मुद्रामान घटिया है। विकास योजनाओं के अन्तर्गत जितनी रकमें विकास के लिए खर्च की गयी हैं उनसे एक जनतान्त्रिक देश में स्फीति का होना स्वाभाविक ही है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सहायता से रुपये की विनिमय–दर को र्प्याप्त सीमा तक स्वायित्व मिला है। यदि ऐसा न होता तो रुपये की विनिमय–दर में भयानक गिरावट आने की आशंका थी। दक्षिण अमेरिका, एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में भारत की अपेक्षा अधिक स्फीति हुई है और उनकी मुद्राओं की विनिमय–दरों में अधिक गिरावट आयी है। फिर भी यह अवश्य मानना होगा कि भारतीय रुपये की विनिमय–दर को उचित स्तर पर बनाये रखने के लिए अधिक सावधानी की आवश्यकता है।
4. **विश्वास**– वर्तमान भारतीय मुद्रामन के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के कारण ही भारतीय रुपये में देश–विदेश की जनता और विशेष कर व्यवसायी वर्ग का र्प्याप्त विश्वास बना हुआ है क्योंकि भारत प्रायः अपने भुगतान दायित्वों को समय पर निभाता रहा है। विद्यमान मुद्रामान इस में विशेष उपयोगी रहा है।

5.7 सारांश

किसी देश की मुद्रा की साख या प्रतिष्ठा उस देश की व्यापार–नीति, औद्योगिक कुशलता, व्यावसायिक साहस और सरकारी प्रयत्नों पर ही बहुत अधिक निर्भर होती है। वर्तमान समय में भारत में प्रचलित मुद्रामान में लोच तथा अन्तर्रा"ट्रीयता के महत्वपूर्ण गुण हैं जिसमें देश के आर्थिक विकास के प्रयत्नों में सहयोग मिला है। किन्तु भारत में विदेशी व्यापार, औद्योगिक क्षमता तथा सरकारी प्रयत्नों में बहुत ढील रही है। इससे मुद्रा–व्यवस्था को आघात पहुचे हैं। अतः भविष्य में सावधान और सजग रहने की आवश्यकता है। कोई भी मुद्रामान साहस और क्रियाशीलता का इन सभी दिशाओं में स्थान लेने में समर्थ नहीं है। वह केवल एक उपकरण मात्र ही होता है, जिसके सदुपयोग पर ही देश की प्रगति निर्भर होती है। इस महान् और नग्न सत्य को आधार मान कर अर्थिक नीति का निर्माण करना और उसे सही अर्थों में क्रियाशील करना ही देश को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सकता है, सैद्धान्तिक नारेबाजी से नहीं।

5.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- प्रबंधित मुद्रामान से क्या तात्पर्य है? इसके लाभ तथा हानियों को बताइये।

प्रश्न 2- प्रबंधित मुद्रा मान की मुख्य विशेषतओं को बताइयें और इसके गुण दोषों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3- भारत की वर्तमान पत्र मुद्रा निर्गमन व्यवस्था का वर्णन कीजिए। क्या भारत की वर्तमान व्यवस्था एक श्रेष्ठ मुद्रा प्रणाली है?

5.9 शब्दावली

आंतरिक मूल्य	:	Internal Value
लोचपूर्णता	:	Elasticity
स्वयं संचालकता	:	Automation
स्वर्णमान	:	Gold Standard
वैधानिक निश्चितता	:	Legal Certainity

5.10 सन्दर्भ सूची

D. H. Robertson	:	Money
D. H. Robertson	:	Essays in Monetary Theory
G.Halm	:	Monetary Theory
Coulborn	:	A Discussion on Money
G. Crowther	:	An Outline of Money
Agsan	:	The Problems of Foreign Exchange
Chapman	:	An Outline of Political Economy edited by Prof. A. C. Pigou

खण्ड–2

इकाई–01 मुद्रा पूर्ति की अवधारणा और घटक

<u>रूपरेखा</u>

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति

1.3 मुद्रा का प्रचलन वेग

1.4 मुद्रा की चलन गति के निर्धारक तत्व

1.5 सारांश

1.6 बोध प्रश्न

1.7 शब्दावली

1.8 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

खण्ड 2 के इकाई 1 मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाएं और घटक के अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाओं के बारे में अध्ययन करना मुख्य उद्देश्य है। मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत घरेलू मुद्रा की उस कुल मात्रा से है जो राष्ट्र की जनता द्वारा स्वीकृति या उसके पास होती है। यहां जनता से अभिप्राय अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित व्यक्तियों, व्यावसायिक फर्मों, राज्य तथा स्थानीय सरकारों से है। इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. चलन के मुद्रा के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
2. मांग जमा के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
3. मुद्रा पूर्ति के विभिन्न घटकों के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
4. मुद्रा पूर्ति की स्टॉक तथा प्रवाह के बारे में जानकारी प्राप्त करना।

1.1 प्रस्तावना

मुद्रा वह है जिसे लोग भुगतान के माध्यम या ऋण को चुकाने में सामान्यतः स्वीकार करते हैं। इस रूप में मुद्रा का कार्य अनेक प्रकार से सम्पन्न होता है। लोग करेंसी तथा चेक का उपयोग करते हैं, युद्धबन्दी शिविर में सिगरेट का उपयोग इसी रूप में हुआ है, आदि। अतः एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मुद्रा के अन्तर्गत किस–किस को सम्मिलित किया जाए तथा किसी देश की मुद्रा की पूर्ति का अनुमान किस प्रकार लगाया जाता है।

मुद्रा पूर्ति से हमारा आशय किसी विशेष समय में अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल मात्रा से है। मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में तीन प्रकार के विचार या परिभाषाएं उल्लेखनीय हैं।

प्रथम परिभाषा के अनुसार मुद्रा की पूर्ति का तात्पर्य लोगों के पास नकद मुद्रा एवं व्यापारिक बैंकों के पास मांग जमा राशि से है। मांग जमा राशि का अर्थ चालू खातों में जमा वह राशि है जिसकी मांग होने पर बैंकों को तत्काल भुगतान करना होता है। इसे M_1 द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह मुद्रा पूर्ति की संकुचित परिभाषा है।

द्वितीय परिभाषा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से मुद्रा की पूर्ति को परिभाषित करते हुए प्रो. फ्रीडमेन कहते हैं कि "किसी विशेष समय में मुद्रा की पूर्ति का आशय सही अर्थों में डॉलरों की वह राशि है जो लोगों की पाकिट में होती है। डॉलरों की वह मात्रा होती है जो लोगों के खाते में बैंकों में जमा होती है।" डॉलर के स्थान पर किसी भी देश की मुद्रा को लिया जा सकता है। इस परिभाषा में मुद्रा के मूल्य संचय कार्य का महत्व दिया गया है। इसे अमेरिका में M_2 तथा ब्रिटेन में M_3 के नाम से जाना जाता है। भारत में इसे M_3 कहा जाता है।

मुद्रा पूर्ति की तीसरी परिभाषा सबसे अधिक विस्तृत है तथा अर्थशास्त्री गुर्ले एवं शा से सम्बन्धित है। उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति में उपरोक्त M_2 के साथ बचत बैंकों की जमा राशि एवं अन्य साख तथा संस्थाओं की जमा राशि भी शामिल होती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में किसी विशेष देश या स्थिति में परिभाषा की उपयुक्तता मौद्रिक नीति पर निर्भर रहती है अर्थात् जिसके आधार पर मौद्रिक नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सके। यदि हम मुद्रा के विनिमय माध्यम को महत्व दे ंतो विश्लेषणात्मक दृष्टि से पहली परिभाषा अच्छी है। दूसरी परिभाषा भले ही विश्लेषणात्मक दृष्टि से अच्छी न हो, किन्तु मौद्रिक नीति की क्रियाशीलता की दृष्टि से यह अधिक अनुकूल है, क्योंकि इसमें केन्द्रीय बैंक अधिक विस्तृत मौद्रिक नियन्त्रण अपना सकता है। जहां तक तीसरी परिभाषा का प्रश्न है, यह बहुत अधिक विस्तृत होने के कारण असन्तोषजनक है।

उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या के आधार पर मुद्रा की पूर्ति अथवा कुल मात्रा निर्धारित करने के लिए मुख्यतया तीन तत्वों को सम्मिलित किया जाता है–

1. केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित विभिन्न नोटों की कुल मात्रा।
2. सरकार द्वारा निर्गत की गई मुद्रा अर्थात विभिन्न प्रकार के सिक्कों की कुल मात्रा।
3. बैंकों की मांग जमा।

इस तरह, किसी देश में मुद्रा की कुल पूर्ति चलन मुद्रा और बैक मुद्रा द्वारा निर्घारित होती है।

1.2 मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति

मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति से तात्पर्य मुद्रा की उस मात्रा से है जो किसी समय परिचलन में होती है। मुद्रा की कुल पूर्ति अथवा मात्रा को कार्य अथवा प्रभाव के आधार पर दो भागों में बांटा जा सकता है। एक भाग वह है जो केन्द्रीय सरकार के खजाने, केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों के पास 'आधार' अथवा 'आरक्षित मुद्रा' के रूप में रखा जाता है। यह मद्रा कोषों में रखी रहती है, परिचलन में नहीं रहती। मुद्रा की मात्रा का दूसरा भाग जो कि अधिक विस्तृत है, परिचलन में रहता है। परिचलन में मुद्रा विनिमय सम्बन्धी तथा अन्य भुगतानों के माध्यम के रूप में उपयोग किए जाने के लिए जनता को उपलब्ध होती है। जनता के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों, व्यावसायिक फर्मों, राज्य सरकारों, स्थानीय संस्थाओं एवं निगमें, आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति से तात्पर्य मुद्रा की कुल मात्रा के दूसरे भाग से है जो व्यय योग्य रूप में जनता के पास किसी समय उपलब्ध होती है। इस तरह मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति ज्ञात करने के लिए मुद्रा की कुल पूर्ति अथवा मात्रा (विधिग्राह्य एवं बैंक मुद्रा) में से धात्विक पत्र मुद्रा की वह मात्रा निकाल दी जाती है जो सरकार, केन्द्रीय बैंक अथवा व्यापारिक बैंकों के कोषों के आधार अथवा आरक्षित मुद्रा के रूप में पड़ी रहती है। मुद्रा के निर्धारण में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

1.3 मुद्रा का प्रचलन वेग

मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति किसी निश्चित समय में मुद्रा के व्यय योग्य स्टॉक से सम्बन्धित है। स्टॉक के साथ ही मुद्रा में प्रवाह का गुण भी होता है। विनिमय की प्रक्रिया में मुद्रा की विभिन्न इकाइयां एक निश्चित समयावधि में कई बार से गुजरती हैं और हर बार मुद्रा का कार्य करती हैं। एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई जितनी बार भुगतान करने के काम में लाई जाती है वह मुद्रा की उस इकाई की चलन गति (अथवा वेग) कहलाती है। किसी निश्चित अवधि में मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति की मात्रा केवल प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के बराबर ही नहीं होती बल्कि मात्रा व प्रचलन वेग के गुणनफल (प्रचलन में मुद्रा की मात्रा मुद्रा का प्रचलन वेग) के बराबर होती है। उदाहरण के लिए, यदि 10 रुपए का नोट दिन में 5 बार विनिमय माध्यम के रूप में एक के बाद दूसरे हाथ में जाता है तो उसका दैनिक प्रचलन वेग 5 होगा। इस अवधि में मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति रुपए होगी।

हाम के अनुसार, "मुद्रा का प्रचलन वेग व्यक्तियों, व्यापारिक फर्मों तथा अन्य लोगों के बीच किसी निश्चित अवधि में होने वाले मौद्रिक हस्तान्तरणों की संख्या की ओर संकेत करता है। इस संख्या में प्रत्येक हस्तान्तरण को सम्मिलित करते हैं। चाहे वह उपभोक्ता द्वारा किए गए क्रयों, उत्पादकों द्वारा किए गए क्रयों अथवा अन्य वित्तीय लेन–देन से सम्बन्धित हो।" स्पष्टतया मुद्रा के प्रचलन वेग का सम्बन्ध केवल उसी मुद्रा से होता है जो "चलायमान मुद्रा" कहलाती है। व्यक्तियों, संस्थानों एवं बैंकों में संचित मुद्रा 'स्थिर मुद्रा' कहलाती है और उसमें प्रचलन वेग नहीं होता। मुद्रा के प्रचलन वेग का यह स्वरूप मुद्रा के नकद भुगतान वेग को व्यक्त करता है। मुद्रा के मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित इर्विंग फिशर द्वारा दी गई व्याख्या में इसी का प्रयोग किया गया है।

व्यवहार में मुद्रा की सभी इकाइयों का प्रचलन वेग एक समान नहीं होता। अलग–अलग मूल्य के सिक्कों तथा नोटों का प्रचलन वेग अलग–अलग होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य मुद्रा तथा बैंक मुद्रा के प्रचलन वेग में भी अन्तर होता है। मुद्रा की विभिन्न इकाइयों, विभिन्न रूपें व प्रयोगों के अनुरूप प्रचलन वेग के भिन्न–भिन्न औसत निकाले जा सकते हैं। इन औसतों के आधार पर प्राप्त सामूहिक औसत कुल मुद्रा के प्रचलन वेग को व्यक्त करता है।

मुद्रा के प्रचलन वेग को राष्ट्रीय आय के माध्यम से भी ज्ञात किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत मुद्रा के प्रयोग को केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय–विक्रय में देखा जाता है जो किसी निश्चित समयावधि में राष्ट्र की कुल वास्तविक आय में सम्मिलित होती हैं। प्रचलन वेग का यह रू‍ मुद्रा का आय प्रचलन वेग कहलाता है। मुद्रा के मूल्य–निर्धारण सम्बन्धी कैम्ब्रिज दृष्टिकोण में इसी को अपनाया गया है। मुद्रा का आय प्रचलन वेग किसी वर्ष में मुद्रा की पूर्ति का उस वर्ष की राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। चूंकि वास्तविक आय में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं के लेन–देन का आकार समस्त प्रकार के लेन–देन अथवा भुगतानों के आकार से छोटा होता है, अतः आय प्रचलन वेग–मुद्रा के नकद भुगतान वेग की तुलना में छोटा होता है।

वास्तविक आय में सम्मिलित वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए मुद्रा का प्रयोग तभी होगा ज बवह किसी व्यक्ति द्वारा अपनी

आय के रूप में प्राप्त किया जाए। इस तरह, आय प्रचलन वेग उस औसत संख्या को व्यक्त करता है जितनी बार मुद्रा की इकाई एक निश्चित अवधि, सामान्यतया एक वर्ष में, अन्तिम आय प्राप्तकर्ताओं के नकद शेषों में प्रविष्ट होती है अथवा उनसे बाहर निकलती है। हॉम ने इसे मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग कहा और इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है। "चक्रीय प्रचलन वेग उस औसत समय विस्तार को व्यक्त करता है जो एक अन्तिम आय प्राप्तकर्ता से दूसरे अन्तिम आय प्राप्तकर्ता के बीच मुद्रा के प्रवाह के लिए आवश्यक होता है अथवा यदि आय प्राप्ति की अवधि को एक वर्ष मान लिया जाए तो इस अवधि में विविध आय–प्राप्तकर्ताओं के बीच मुद्रा प्रवाह के जितने चक्र पूरे होते हैं, मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग होगा।"

राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओं की कुल मात्रा (Q) को यदि सामान्य कीमत स्तर (P) से गुणा कर दिया जाए तो चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय (NNP at current prices) ज्ञात की जा सकती है। इसे मुद्रा की पूर्ति (M) से भाग देने पर प्रचलन वेग (V) ज्ञात होता है।

1.4 मुद्रा की चलन गति के निर्धारक तत्व

मुद्रा का प्रचलन वेग कभी स्थिर नहीं रहता। इसे निम्न घटक प्रभावित करते रहते हैं।

1. **मुद्रा की मात्रा**– यदि मुद्रा की मात्रा चलन में कम है तो इसकी गति अधिक होगी, क्योंकि वही मुद्रा बार–बार प्रयोग में लाई जाएगी। इसके विपरीत, यदि चलन में मुद्रा अधिक है तो इसकी गति कम होगी।
2. **जनता में बचत की आदत**– यदि जनता की बचत प्रवृत्ति अधिक है तो चलन गति कम होगी और यदि बचत की आदत कम है तो चलन गति अधिक होगी।
3. **क्रय की किस्म**– यदि नकद क्रय विक्रय की प्रथा प्रचलित है तो मुद्रा का प्रचलन वेग अधिक होता है। उधार क्रय–विक्रय की प्रवृत्ति होने पर प्रचलन वेग कम होता है।
4. **उधार चुकाने की अवधि**– यदि उधार का भुगतान कई बार में थोड़ी–थोड़ी मात्रा में किया जाता है तो चलन गति अधिक होगी। यदि भुगतान की अवधि लम्बी है तो चलन गति कम होगी।
5. **तरलता अधिमान**– यदि जनता में तरलता अधिमान की प्रवृत्ति तीव्र है अर्थात लोगों में नकद धन रखने की प्रवृत्ति अधिक है तो मुद्रा का प्रचलन वेग कम होगा। इसके विपरीत, तरलता पसन्दगी कम होने पर प्रचलन वेग अधिक होगा।
6. **मजदूरी भुगतान की रीति**– मजदूरी भुगतान की अवधि लम्बी होने पर मजदूरों को नकद धन बचाकर रखना पड़ता है, इससे मुद्रा का प्रचलन वेग कम हो जाता है। मजदूरी का भुगतान दैनिक अथवा साप्ताहिक होने पर प्रचलन वेग अपेक्षाकृत अधिक होगा।
7. **यातायात एवं संचार की सुविधा**– यदि देश में यातायात एवं संचार की व्यवस्था अच्छी है तो व्यावसायिक सीमा का विस्तार होगा, क्रय–विक्रय बढ़ेगा। इसके फलस्वरूप मुद्रा को चलन गति बढ़ेगी।
8. **आर्थिक विकास का स्तर**– जिस देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ तथा विकास का स्तर ऊंचा होगा वहां विनिमय का स्तर भी ऊंचा होगा और मुद्रा की चलन गति अधिक होगी। पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था में चलन गति अपेक्षाकृत कम होगी।
9. **जनसंख्या का घनत्व**– यदि किसी देश की जनसंख्याअधिक है तो वहां मुद्रा की चलन गति अधिक होगी, क्योंकि मुद्रा बहुत से व्यक्तियों के हाथों में हस्तान्तरित होगी। जनसंख्या के कम होने पर मुद्रा की चलन गति भी कम हो जाएगी।
10. **साख की गतिशीलता**– साख मुद्रा की गतिशीलता अधिक होने पर साख मुद्रा के प्रचलन वेग में भी वृद्धि होती है। देश की आर्थिक प्रगति एवं बैंकिंग प्रणाली का विकास साख मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ा देते हैं।
11. **राजनीतिक दशा**– देश में राजनीतिक स्थिरता एवं शान्ति विद्यमान होने पर परस्पर प्रेम एवं विश्वास बढ़ता है। उधार की प्रथा बढ़ती है और मुद्रा का प्रचलन वेग कम हो जाता है। राजनीतिक अस्थिरता से परस्पर विश्वास घटता है और नकद भुगतान की प्रवृत्ति बढ़ती है। इससे मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ जाता है।
12. **कीमतों का भावी अनुमान**– यदि भविष्य में कीमतों में वृद्धि की प्रत्याशा है तो व्यापर अधिक तेजी से होगा। इसके फलस्वरूप मुद्रा की चलन गति बढ़ जाएगी।

उपरोक्त तत्वों के प्रभाव से मुद्रा का प्रचलन वेग निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। अतः प्रचलन वेग की मात्रा निर्धारित करना और इसकी सही माप करना सहज नहीं है। वास्तविकता यह है कि किसी निश्चित समय में मुद्रा की पूर्ति का अनुमान लगाना किसी निश्चित अवधि के लिए अनुमान लगाने से अधिक सरल है।

1.5 सारांश

मुद्रा की पूर्ति तीन मुख्य स्रोतों से प्राप्त होती है– सरकार, केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक ये तीनों विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियां प्राप्त करते हैं और उनके आधार पर मुद्रा का निर्माण करते हैं जो उनके लिए दायित्व बन जाता है। यह दायित्व मांग पर देय होने के कारण ऋणों तथा अन्य भुगतानों के माध्यम के रूप में सामान्यतः स्वीकार किया जाता है। साधारण मुद्रा का निर्माण सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है और मुद्रा का निर्माण व्यापारिक बैंकों द्वारा। इन तीनों की मुद्रा सम्बंधी नीति और कार्यवाही का देश में मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है।

1.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा पूर्ति की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा का प्रचलन वेग किसे कहते हैं? इनको प्रभावित करने वाले कारणों की व्याख्या कीजिए।

1.7 शब्दावली

तरल साधन	:	Liquid Asset
साधारण मुद्रा	:	Common Money
प्रभावकारी पूर्ति	:	Effective Supply
आय प्रचलन वेग	:	Income Velocity of Money
मुद्रा का चक्रीय वेग	:	Circular Velocity of Money

1.8 संदर्भ सूची

W. M. Dacey	:	Money under Review (1960) chs 1-3
R. S. Sayers	:	Modern Banking, 7th ed (1967) chs 1-5, 7, 8.
B. Tew	:	Monetary Theory (1969) chs 1-2
Gerald Surkin	:	Interoduction to Macro Economic Theory

इकाई–2 मुद्रा पूर्ति का निर्धारक एवं मुद्रा गुणक

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्व

2.3 मुद्रा स्टॉक और मुद्रा प्रवाह

2.4 वित्तीय मध्यस्थता एवं मुद्रा पूर्ति

2.5 उच्च शक्ति मुद्रा

2.6 सारांश

2.7 बोध प्रश्न

2.8 शब्दावली

2.9 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

किसी देश में मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने में केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक, सरकार तथा जनता की बचत की प्रवृत्ति का प्रमुख हाथ होता है। ऐसे में इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्वों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के साथ–साथ मुद्रा गुणक की भूमिका का पता करना है।

2.1 प्रस्तावना

अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति किस प्रकार निर्धारित होती है, इसके बारे में दो सिद्धान्त हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति, केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित होती है। इसे बाह्य कारण कहा जा सकता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति का निर्धारण आर्थिक क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों द्वारा होता है। इन्हें आन्तरिक कारण कहा जा सकता है। साधारणतः केन्द्रीय बैंक को ही नोट निर्गमन का अधिकार होता है परन्तु कुछ देशों में छोटे नोट या सिक्के कोषागार भी निर्गमित करता है।

उपर्युक्त तत्वों को दृष्टि में रखते हुए मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्वों को निम्न प्रकारों से विभाजित किया जा सकता है–

2.2 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्व

1. **न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात**– केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों को उधार देने तथा उनके बिलों की कटौती की सुविधा देते हैं। इसके बदले में सदस्य देशों को चालू तथा स्थाई जमा का कानून द्वारा निर्धारित एक निश्चत प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। इसे ही न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात कहते हैं। अन्य शब्दों में, आवश्यक या न्यूनतम रिजर्व अनुपात व्यापारिक बैंकों का चालू एवं समय जमा दायित्वों का नकद अनुपात है। भारत में न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात के अतिरिक्त कानूनी ढंग से कोषानुपात को मुद्रा पूर्ति नियन्त्रित करने हेतु एक अतिरिक्त उपाय के रूप में अपनाया गया है।

इसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को अपनी कुल सम्पत्ति का एक भाग तरल रूप में रखना आवश्यक होता है।

यदि केन्द्रीय बैंक, न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात में वृद्धि करता है तो बैंकों के पास मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है और जब उक्त अनुपात में कमी की जाती है, तो मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। इस अनुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक देश में साख की मात्रा को नियन्त्रित करता है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति को निर्धारित करने में न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात की महत्वपूर्ण भूमिका है।

2. **बैंक रिजर्व का स्तर**– बैंकों द्वारा रखे जाने वाले रिजर्व का भी मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास रिजर्व राशि रखनी पड़ती है तथा अपने पास भी एक निश्चित अनुपात में नकद की मात्रा रखनी पड़ती है। देश का केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंकों की रिजर्व मात्रा को प्रभावित कर, मुद्रा को निर्धारित करता है। केन्द्रीय बैंक के निर्देशानुसार, व्यापारिक बैंक को अपनी सावधि एवं मांग जमा का एक निश्चित अनुपात नकद के रूप मे रखना पड़ता है। इसका निर्धारण न्यूनतम नकद अनुपात एवं जमाओं के स्तर से होता है। उदाहरण के लिए, यदि जमा राशि एक करोड़ रुपया है तथा न्यूनतम नकद अनुपात 20 प्रतिशत है तो आवश्यक रिजर्व 20 लाख रुपए होगा। जहां तक मुद्रा की पूर्ति का प्रश्न है, इसका निर्धारण अतिरेक रिजर्व द्वारा होता है। कुल रिजर्व की मात्रा एवं आवश्यक रिजर्व की मात्रा में जो अन्तर है, उसे अतिरेक रिजर्व की मात्रा कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में कुल रिजर्व एक करोड़ रुपया है तथा आवश्यक रिजर्व 20 लाख रुपए है तो अतिरेक रिजर्व की मात्रा 80 लाख होगी। यदि आवश्यक रिजर्व की मात्रा कम हो जाए तो अतिरेक रिजर्व की मात्रा बढ जाती है जिसका मुद्रा पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् ऐसी स्थिति में व्यापारिक बैंक अतिरेक रिजर्व की मात्रा के बराबर ऋण दे सकता है।

3. **लोगों की नकद राशि एवं जमा रखने की इच्छा**– मुद्रा की पूर्ति इस बात पर निर्भर रहती है कि लोग बैंकों में अपनी जमा राशि के किस अनुपात में, अपने पास नकद राशि रखना चाहते हैं। यदि लोग अपने पास नकद कम रखते हैं तथा बैंकों में जमा राशि अधिक रखते हैं तो मुद्रा की पूर्ति अधिक होगी इसका कारण यह है कि अधिक जमा राशि के आधार पर बैंक अधिक मुद्रा का निर्धारण कर सकते हैं।

4. **उच्च शक्ति मुद्रा**– मुद्रा पूर्ति को निर्धारित करने वाले जिन तीन कारणों का ऊपर विवेचन किया गया है, उनमें बाद के दो कारणों को उच्च शक्ति मुद्रा कहा जाता है। इन कारणों को संयुक्त रूप से मौद्रिक आधार के अन्तर्गत शामिल किया जाता है। व्यापारिक बैंकों के पास जो रिजर्व की मात्रा होती है और लोगों के पास सिक्के और नोटों के रूप में जो चलन की मात्रा होती है, इन दोनों के योग को उच्च शक्ति मुद्रा कहा जाता है। इसी के आधार पर बैंक जमाओं का विस्तार किया जाता है एवं मुद्रा का निर्माण किया जाता है जिसमें मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। मुद्रा की पूर्ति एवं उच्च शक्ति मुद्रा में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात उच्च शक्ति मुद्रा के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है एवं उसके घटने से मुद्रा की पूर्ति घटती है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

5. **मुद्रा के चलन वेग का मुदा की पूर्ति पर प्रभाव**– एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई का जितनी बार भुगतान करने के लिए प्रयोग किया जाता है, उसे मुद्रा का चलन वेग कहते हैं। मुद्रा के चलन वेग का भी मुद्रा की पूर्ति पर वही प्रभाव पड़ता है जो मुद्रा की मात्रा के बढ़ाने का होता है। उदाहरण के लिए, यदि एक दस रुपए का नोट एक दिन में दस बार विनिमय का कार्य करता है, तो वह सौ रुपए के बराबर कार्य करता है अतः मुद्रा की पूर्ति में 10 रुपए के स्थान पर 100 रुपए गिनी जानी चाहिए, किन्तु यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मुद्रा की पूर्ति को निकालते समय हम मुद्रा की प्रत्येक इकाई का चलन वेग नहीं लेते वरन् मुद्रा की औसत चलन वेग को लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा की कुल पूर्ति पर मुद्रा के कुल चलन वेग का भी प्रभाव पड़ता है।

2.3 मुद्रा स्टॉक और मुद्रा प्रवाह

किसी एक समय के बिन्दु पर अर्थव्यवस्था में चलन की जो मात्रा होती है, उसे मुद्रा का स्टॉक कहते हैं। कभी–कभी मुद्रा स्टॉक को ही मुद्रा की पूर्ति मान लिया जाता है, किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि मुद्रा स्टॉक की तुलना में मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है और देश की आर्थिक गतिविधियों में मुद्रा की पूर्ति का काफी प्रभाव पड़ता है। किसी निश्चत समयावधि में मुद्रा की पूर्ति, उसके कुल प्रवाह के बराबर होती है। यदि हम मुद्रा–स्टॉक को मुद्रा की औसत चलन गति से गुणा का दे ंतो हम मुद्रा के प्रवाह को जान सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि मुद्रा का स्टॉक 100 करोड़ रुपए है तथा एक निश्चित समयावधि में उसका औसत चलन–वेग 10 है तो मुद्रा की पूर्ति 1000 करोड़ रुपया के बराबर होगी और यही मुद्रा का प्रवाह है। देश में मुद्रा के स्टॉक का नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है, किन्तु उसके द्वारा मुद्रा के चलन–वेग पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह लोगों के हाथों में होता है कि मौद्रिक इकाई का कितनी बार विनिमय के लिए प्रयोग करते हैं।

2.4 वित्तीय मध्यस्थ एवं मुद्रा पूर्ति

वे समस्त संस्थाएं जो बचतों को गतिमान करने तथा उनका विनियोग करने में देश की वित्तीय प्रणाली की सहायता करती हैं, वित्तीय मध्यस्थ कहलाती हैं। ये संस्थाएं समाजजनित बचतों को एकत्र कर उन्हें उन सभी के बीच वितरित करती हैं जो विनियोग हेतु इन बचतों की मांग करते हैं। ये वित्तीय मध्यस्थ अपने ग्राहकों के हित में एकत्रित बचतों को मुद्रा एवं पूंजी बाजार में विनियोग करते हैं। इस तरह ये संस्थाएं साख का सृजन कर मुद्रा पूर्ति में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। ये संस्थाएं विभिन्न अधिनियमों एवं नियमों द्वारा शासित एवं नियन्त्रित होती है। भारत में ये संस्थाएं भारतीय रिजर्व बैंक तथा भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड आदि अभिकरणों द्वारा नियन्त्रित हैं।

2.5 उच्च शक्ति अथवा शक्तिशाली मुद्रा

व्यापारिक बैंकों के पास रिजर्व की जो मात्रा होती है तथा लोगों के पास मुद्रा (नोटों की मात्रा एवं सिक्के) की जो मात्रा होती है, उसके योग को ही शक्तिशाली मुद्रा कहते हैं। बैंकों में जमा राशि का आधार यही उच्च शक्ति मुद्रा होती है अर्थात् यदि लोग बैंकों में अधिक राशि जमा करते हैं तो बैंक जमा राशियां बढ़ जाती हैं तथा इसी आधार पर बैंक अधिक साख का निर्माण करते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि साख निर्माण का आधार भी शक्तिशाली मुद्रा में वृद्धि से मुद्रा की पूर्ति में भी वृद्धि होती है, किन्तु रिजर्व अनुपात का मुद्रा की पूर्ति में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात् रिजर्व अनुपात में वृद्धि होने पर मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है।

उच्च शक्ति मुद्रा का महत्व इस बात में निहित है कि यह

(i) मौद्रिक नीति के निर्माण में सहायक

(ii) राजकोषीय नीति का आधार

(iii) मौद्रिक विस्तार की दर का निर्धारक

(v) आर्थिक विकास का आधार है।

शक्तिशाली मुद्रा का प्रयोग

शक्तिशाली मुद्रा का प्रयोग, उसकी मांग में निहित है तथा शक्तिशाली मुद्रा की मांग तीन कारणों से की जाती है जो निम्नलिखित है–

1. व्यापारिक बैंकों द्वारा शक्तिशाली मुद्रा की मांग देश के केन्द्रीय बैंक में अपनी वैधानिक सीमा अथवा निर्धारित रिजर्व को बनाए रखने के लिए की जाती है।

2. उपर्युक्त के साथ ही अतिरिक्त रिजर्व के लिए भी शक्तिशाली मुद्रा की मांग, व्यापारिक बैंकों द्वारा की जाती है।

3. लोगों द्वारा नकद मुद्रा की मांग की जाती है।

उपर्युक्त तीन कारणों को सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :

जहां H = शक्तिशाली मुद्रा

C = जनता द्वारा नकद मुद्रा की मांग

RR = बैंकों द्वारा रिजर्व अनुपात के लिए मांग

ER = बैंकों द्वारा अतिरिक्त रिजर्व की मांग

2.6 सारांश

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्वों को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

1. देश में उपलब्ध बहुमूल्य धातुओं की मात्रा–
   - (i) सोने का संग्रहित भंडार
   - (ii) सोने का वर्तमान उत्पादन
   - (iii) सोने का आयात निर्यात
   - (iv) अमौद्रिक कार्यों में प्रयोग किया जाने वाला स्वर्ण
2. मुद्रा की एक इकाई के लिए स्वर्ण का आवश्यक परिमाण
3. निक्रिष्ट करेन्सी की मात्रा और बैंक जमा के लिए सापेक्षिक वरीयता
4. बैंकों का नगद जमा कोष अनुपात
5. केन्द्रीय बैंक के कुल शेष ऋणों की मात्रा
6. मुद्रा का प्रचलन वेग

2.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा पूर्ति को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2- उच्च शक्ति मुद्रा को स्पष्ट कीजिए।

2.8 शब्दावली

सापेक्षिक वरीयता : Relative Preference

नगद जमा अनुपात	:	Cash Reserve Ratio
वैधानिक तरलता अनुपात	:	Statutory Liqiuidity Ratio
अतिरिक्त रिजर्व	:	Extra Reserve

2.9 संदर्भ सूची

W. M. Dacey	:	Money under Review (1960) chs 1-3
R. S. Sayers	:	Modern Banking, 7th ed (1967) chs 1-5, 7, 8.
B. Tew	:	Monetary Theory (1969) chs 1-2
Gerald Surkin	:	Interoduction to Macro Economic Theory

इकाई–3 साख मुद्रा का सृजन एवं मुद्रा गुणक

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 बैंक द्वार साख निर्माण

3.3 साख निर्माण की विधियाँ

3.4 साख निर्माण की सीमाएँ

3.5 मुद्रा गुणक

3.6 सारांश

3.7 बोध प्रश्न

3.8 शब्दावली

3.9 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

देश के मुद्रा के निर्माण में अप्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक बैंकों का भी योगदान होता है। व्यापारिक बैंक साख निर्माण के द्वारा मुद्रा का निर्माण करते हैं। इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. साख निर्माण की प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
2. साख निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्वों की जानकारी प्राप्त करना।
3. साख निर्माण की सीमाओं का पता लगाना।
4. मुद्रा गुणक की भूमिका का पता करना।

3.1 प्रस्तावना

अर्थशास्त्र में साख का आशय केवल देनदारी या शोधन क्षमता के विश्वास से होता है। वर्तमान में मुद्रा या मूल्यवान वस्तुएँ तथा सेवाएँ भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर प्राप्त करना ही साख है। इस प्रकार व्यवहारिक रूप में, केवल व्यावसायिक लेन–देन तथा बैंकों से ऋण आदि की क्रियाओं को ही साख के सौदों में शामिल किया जाता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने 'साख' की निम्नांकित परिभाषाएं दी हैं–

विंग फील्ड स्ट्रेटफोर्ड के अनुसार, "साख विश्वास से अधिक या कम कुछ भी नहीं है अर्थात् विश्वास का दूसरा नाम ही साख है।" इस परिभाषा से स्प्ष्ट है कि विश्वास के बिना साख का कोई अस्तित्व नहीं है। प्रो. जैक्स के अनुसार, "साख शब्द का अर्थ भुगतान को स्थगित करना है।" प्रो. जैक्स के अनुसार, "साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् भुगतान करने पर पूरा हो जाता है।" साख देने या प्राप्त करने का आधार क्या है? अधिकतर अर्थशास्त्री साख का सबसे बड़ा आधार विश्वास मानते हैं। चैण्डलर के अनुसार, "किसी व्यक्ति, व्यावसायिक फर्म या सरकार की साख प्राप्त करने की क्षमता समभाव्य ऋणदाताओं के इस विश्वास पर निर्भर करती है कि ऋणी ऋण का भुगतान करने के लिए समय तथा तत्पर दोनों ही रहेगा। प्रो. चैण्डलर ने साख के तीन आधार निश्चित किये हैं– साख प्राप्त करने वाले का व्यक्तिगत चरित्र, उसकी ऋण

चुकाने की शक्ति तथा उसके अधिकार में पूंजी की मात्रा। कुछ अर्थशास्त्री ऋणी का आय, ऋण की सुरक्षा या जमानत, समयावधि, ऋण की राशि तथा ऋण के उद्देश्य को भी महत्वपूर्ण आधार मानते हैं। स्प्ष्ट है कि ये आधार विश्वास को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार साख का प्रमुख आधार विश्वास ही है।

3.2 बैंकों द्वारा साख–निर्माण

वर्तमान अर्थव्यवस्था में साख निर्माण बैंकों का महत्वपूर्ण कार्य है परन्तु विभिन्न अर्थशास्त्रियों में इस बात को लेकर मतभेद है। प्रो. वाल्टरलीफ तथा प्रो. कैनन जैसे कुछ अर्थशास्त्री यह कहते है। इसके विपरीत कीन्स, विदर्स और सेयर्स आदि अनेक अर्थशास्त्रियों का मानन है कि बैंक ही साख निर्माण का कार्य करते हैं। सेयर्स के अनुसार "बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली संस्थाएँ नहीं हैं, अपितु एक महत्वूर्ण अर्थ में वे मुद्रा की निर्माता भी हैं।" इसी प्रकार इनके समर्थक विदर्स ने कहा है कि, "ऋण जमा को उत्पन्न करते हैं तथा इनके निर्माण का क्षेत्र बैंक है।" प्रो. कीन्स एवं सी. ए. फिलिप्स ने जमा दो प्रकार के बताये हैं, प्रारम्भिक जमा तथा व्युत्पन्न जमा। प्रारम्भिक जमा वह जमा है जिसे जमाकर्ता बैंक में नकद रूप में जमा करते हैं। यदि बैंक किसी को ऋण देने के उद्देश्य से किसी व्यक्ति के खाते में रकम जमा करता है तो इसे व्युत्पन्न निक्षेप कहते हैं। प्रो. हॉम का कथन है कि, "व्युत्पन्न जमा या निक्षेप का निर्माण ही साख का निर्माण है।"

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि बैंक जितना अधिक ऋण देता है उतना ही अधिक साख–जमा उत्पन्न होती है तथा ऋण का निर्माण होता है। इसलिए कहा जाता है कि जमा राशियाँ साख को जन्म देती हैं और साख जमाराशियों को जन्म देती हैं।

3.3 साख निर्माण की विधियाँ

साख निर्माण की प्रमुख विधियां निम्न प्रकार हैं–

(I) **नोट निर्गमन द्वारा**–वर्तमान अर्थव्यवस्था में विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों में नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त है। अतः नोट निर्गमन द्वारा साख निर्माण का कार्य केवल केन्द्रीय बैंक ही करता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित पत्र मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष न रखा जाकर केवल कुछ भाग के पीछे ही धातु कोष रखा जाता है एवं शेष भाग का निर्गमन प्रतिभूतियों या बैंक साख के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार निर्गत पत्र मुद्रा का वह भाग जिसके पीछे धातु कोष नहीं होता है, बैंक द्वारा निर्मित की गई साख ही होती है। इस प्रकार नोट निर्गमन द्वारा साख का निर्माण या सृजन होता है।

(II) **निक्षेपों द्वारा साख निर्माण**– प्रो. हॉम के अनुसार निक्षेप दो प्रकार के होते हैं–

1. **प्रारम्भिक या निष्क्रिय जमाराशियाँ (Primary or Passive Deposits)-**बैंक उस समय निष्क्रिय जमाराशियों का सृजन करता है जब कोई ग्राहक बैंक में जमा खाता खोलकर उसमें नकदी या चेक जमा कर देता है। इस स्थिति में बैंक की भूमिका विशुद्धतया निष्क्रिय ही होती है। बैंक ने ग्राहक द्वारा लायी गयी नकदी एवं चैकों को उसके खाते में ही जमा कर दिया है। इस प्रकार की जमाराशियों के आधार पर आगे चलकर बैंक अन्य ग्राहकों को ऋण देता है। इन प्राथमिक या निष्क्रिय राशियों से मुद्रा का वास्तविक सृजन नहीं होता। इन जमा राशियों का जो प्रतिशत बैंक द्वारा नकदी के रूप में अपने पास रखा जाता है, उसको नकदी को आरक्षण अनुपात (Cash Reserve Ratio) कहा जाता है।

2. **व्युत्पन्न या सक्रिय जमाराशियाँ (Nerivative or Active Deposits)-**इस प्रकार की जमाराशियाँ बैंक द्वारा अधिक सक्रिय ढंग से सृजित की जाती हैं। इनका सृजन उस समय होता है जब कोई ग्राहक बैंक से ऋण प्राप्त करता है। तब बैंक उसके नाम खाता खोलकर ऋण–राशि उसमें जमा कर देता है। चूंकि इस प्रकार की जमाराशियों के सृजन में बैंक अधिक सक्रिय भूमिका निभाता है, इसीलिए इन्हें सक्रिय जमा राशियों की संज्ञा दी जाती है। इन्हें व्युत्पन्न जमा इसलिए कहते हैं क्योंकि यह प्रारम्भिक जमा का

परिणाम होती हैं। नकद जमा ही वह आधार है जिसके द्वारा साख जमा का अधिकार निर्धारित होता है। बैंकों द्वारा साख जमा या व्युत्पन्न जमा का निर्माण करने से मांग जमा का आकार बढ़ जाता है और अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है। इस प्रकार व्युत्पन्न जमा का निर्माण ही साख–मुद्रा का निर्माण है।" हार्टले विदर्स का यह कथन सही है कि "ऋण जमा का निर्माण करते हैं।"

साख निर्माण की प्रक्रिया–साख निर्माण की प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है–मान लिया कि किसी ग्राहक बैंक में 10,000 रुपये जमा किये। बैंक यह जानता है कि किसी एक समय में उसका जमाकर्ता 10 प्रतिशत से अधिक राशि नहीं निकालेगा। अतः 10,000 रुपये नकद कोष में रखकर 9,000 रुपये का ऋण स्वीकृत कर दिया जायेगा तथा बैंक में ऋणी का खाता खोलकर 9,000 रु. जमा कर दिया जायेगा। अब बैंक द्वारा 9,000 रुपये को 10 प्रतिशत नकद कोष में रखकर शेष 8,010 रुपये पुनः किसी को ऋण दे दिया जायेगा।

इस प्रकार, यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक अन्तिम जमा राशि नगण्य न रह जाये। इस प्रक्रिया के अधीन कुल जमाराशि निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है–

जमाराशि = प्रारम्भिक जमाराशि

$$= 10{,}000\left(\frac{1}{10\%}\right) = 10{,}000\left(\frac{100}{10}\right)$$

$$= 10{,}000(10)$$

= 1,00,000 रुपये।

इस प्रकार बैंक 10,000 रुपये की प्रारम्भिक जमाराशि से कुल 1,00,000 रुपये की जमाराशि प्राप्त कर लेगा।

साख गुणक– साख गुणक से आशय मूल जमाराशि तथा व्युत्पन्न जमा राशियों की कुछ मात्रा के बीच पाये जाने वाले अनुपात से है। इसे निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

उपर्युक्त उदाहरण में,

साख गुणक $= \frac{1{,}00{,}000}{10{,}000} = 10$

साख गुणक को इस प्रकार भी ज्ञात किया जा सकता है–

उर्प्युक्त उदाहरण में साख गुणक $= \frac{1}{10}\%$

$$= \frac{1}{\left(\frac{10}{100}\right)} = \frac{100}{10} = 10$$

बैंकों की साख निर्माण क्षमता साख गुणक पर निर्भर करती है। साख गुणक जितना अधिक होगा, बैंकों की साख निर्माण क्षमता उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिए, यदि साख गुणक 10 है तो साख निर्माण 10 गुना होगा, यदि साख गुणक 15 है तो साख निर्माण 15 गुना होगा। साख गुणक नकद कोष अनुपात (CRR) पर निर्भर करता है। नकद कोष अनुपात (Cash Reserve Ratio) जितना कम होगा, साख गुणक उतना ही अधिक होगा।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण–माना कि एक बैंक के पास नकदी में केवल 10,000 रुपये हैं और उसके A, B, C, D, E पाँच ग्राहक हैं, जिनमें से प्रत्येक को वह 8-8 हजार रुपये का ऋण देती है। बैंक की ऋण देने की नीति यह होती है कि प्रत्येक ऋण लेने वाले का खाता खोल दिया जाता है जिनमें ऋण दी गयी राशि जमा दिखायी जाती है। यही साख निक्षेप है जिसमें वह साधारण जमाधारी की भाँति धन निकाल सकता है या जमा कर सकता है। इन पाँचों ग्राहकों का आपस में लेन–देन है। माना कि A 5,000 रुपये का चैक लिखता है और

बैंक को यह आदेश देता है कि यह राशि B को चुका दे। बैंक इतनी राशि A कि खाते से निकाल कर B के खाते में जमा कर देगी। इतनी ही राशि का चैक C के लिए लिख सकता है। C फिर D के लिए आगे D चलकर E के लिए। अन्त में E राशि का चैक A के लिए लिख सकता है। प्रत्येक बार जब चैक बैंक को भेजा जाता है। इस प्रकार यद्यपि दिखने के लिए पाँच बार पाँच–पाँच हजार रुपये का भुगतान करके बैंक ने 25,000 रुपये की राशि का साख निर्माण हुआ।

बैंक प्रत्येक ऋण लेने वाले को निक्षेपधारी समझता है। इस प्रकार बैंक अधिक ऋण देती है उतनी अधिक मात्रा में उसे जमा प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि बहुधा कहा जाता है कि "बैंक के ऋण उसके निक्षेपों को उत्पन्न करते हैं।" बैंक के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं– (I) वे जो निक्षेपधारियों ने रुपया जमा करके उत्पन्न किए हैं, अर्थात् साख, निक्षेप और (II) वे जो ऋण लेने वालों ने ऋण लेकर उत्पन्न किए हैं, अर्थात् साख निक्षेप। बैंक साख का निर्माण अधिविकर्ष सुविधाएँ देकर, प्रतिभूतियाँ खरीदकर अथवा उन्हें भुनाकर भी करती है।

क्या बैंक वास्तव में साख का निर्माण करते हैं? (Do Banks really create Credit)-इस प्रश्न पर विवाद रहा है कि क्या बैंक साख का निर्माण करते हैं? एक ओर हार्टले विदर्स का कहना है कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं और इनके सृजन का श्रेय बैंक को है।" यह ठीक है कि ऋणी और ऋणदाता अपनी रकम को बैंक से निकालने अथवा उसे अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं लेकिन व्यवहार में अधिकांश भुगतान चैकों द्वारा किये जाते हैं जो या तो उसी बैंक में जमा हो जाते हैं अथवा किन्हीं अन्य बैंकों में जमा होकर नये निक्षेप उत्पन्न करते हैं और ये निक्षेप पुनः साख का निर्माण करते हैं। बैंक की क्रियाओं में ऐसे निक्षेपों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। दूसरी ओर डा. वाल्टर लीफ तथा प्रो. केनन के विचार है कि साख का निर्माण बैंक द्वारा नहीं वरन् निक्षेपधारियों द्वारा किया जाता है।

3.4 साख निर्माण की सीमाएँ

वाणिज्य बैंकों की जमा अथवा साख निर्माण की शक्ति असीमित नहीं है। वैसे तो देश का केन्द्रीय बैंक उनकी साख निर्माण की शक्ति पर नियन्त्रण रखते हैं, परन्तु व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण कोई भी बैंक पूर्णतया स्वतन्त्र रहने पर भी असीमित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर पाता। साख निर्माण की अपनी सीमाएँ हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. बैंकों द्वारा साख निर्माण की शक्ति इस बात में प्रभावित होती है कि जनता में अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति कैसी है। यह साख मुद्रा पर ही आधारित होती है। मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर बैंकों की जमाराशियाँ बढ़ती हैं जिनके आधार पर अधिक साख का निर्माण सम्भव होता है।

2. बैंक द्वारा साख निर्माण की शक्ति इस बात में प्रभावित होती है कि जनता में अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति कैसी है? यदि जनता में अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति अधिक है तो बैंक के पास नकद जमा कम रहेंगे और साख का निर्माण कम होगा। इसके विपरीत यदि जनता में बैंकिंग प्रवृत्ति अधिक है तो बैंकों के पास नकद जमा अधिक आयेगी और साख का निर्माण अधिक होगा।

3. कुल जमाराशियों का न्यूनतम अनुपात जो बैंकों द्वारा नकद कोष के रूप में रखा जाता है, बैंक की साख निर्माण की शक्ति को प्रभावित करता है। कुछ देशों में इस प्रकार का अनुपात केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। कुल जमा के अनुपात में नकद कोषों की मात्रा कम रहने पर बैंक अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं।

4. बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अपने कुल निक्षेपों का एक भाग रक्षित कोष में रखना पड़ता है। यह कोष का भाग जितना अधिक होता है, बैंकों की साख निर्माण करने की क्षमता उतनी ही सीमित होती जाती है।

5. केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व साख की मात्रा को नियन्त्रित करना है। अतः बैंक की साख नीति भी इस बात को प्रभावित करती है कि बैंक अपनी साख सृजन क्षमता का कहाँ तक प्रयोग कर सकते हैं।

6. बैंकों की साख–निर्माण की सीमा इस बात से भी प्रभावित होती है कि बैंक से ऋण प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति ऋण के लिए कितनी अधिक अच्छी प्रतिभूति प्रदान करने की स्थिति में हैं। वे जितनी अधिक अच्छी प्रतिभूति प्रदान कर सकते हैं बैंक साख का सृजन उतना ही अधिक कर सकते हैं।

7. मन्दी काल में व्यापारियों व उद्योगपतियों की ऋणों की माँग कम होने पर बैंक अधिक साख का निर्माण नहीं कर पाते हैं परन्तु तेजी काल में ऋणों की माँग अधिक होती है तथा बैंक अधिक साख का निर्माण करते हैं।

3.5 मुद्रा गुणक

मुद्रा गुणक से अभिप्राय उस संख्या से है जिससे यह ज्ञात होता है कि उच्च शक्ति मुद्रा (या मौद्रिक आधार) में परिवर्तन होने पर मुद्रा की पूर्ति में कितने गुना परिवर्तन होगा। मान लीजिए उच्च शक्ति मुद्रा में 10 करोड़ रुपए के परिवर्तन होने के कारण मुद्रा की पूर्ति में 30 करोड़ रुपए का परिवर्तन होता है तब मुद्रा गुणक 3 होगा।

मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च शक्ति मुद्रा के बीच सम्बन्ध को निम्न चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है :

चित्र में OX-अक्ष पर उच्च शक्ति मुद्रा की पूर्ति तथा OY-अक्ष पर उच्च शक्ति मुद्रा को प्रदर्शित किया गया है। HS उच्च शक्ति मुद्रा की पूर्ति रेखा है। यह OX के समानान्तर है, क्योंकि H का निर्धारण मुद्रा प्राधिकरण द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार होता है तथा यह मुद्रा के सम्बन्ध में पूर्णतया बेलोच होता है। वक्र Hd मुद्रा पूर्ति के प्रत्येक स्तर से सरुबद्ध उच्च शक्ति मुद्रा की मांग को व्यक्त करता हैं साथ ही यह $\frac{\mathbf{Cr+RRr+ERr}}{\mathbf{I+Cr}}$ को भी दर्शाता है।

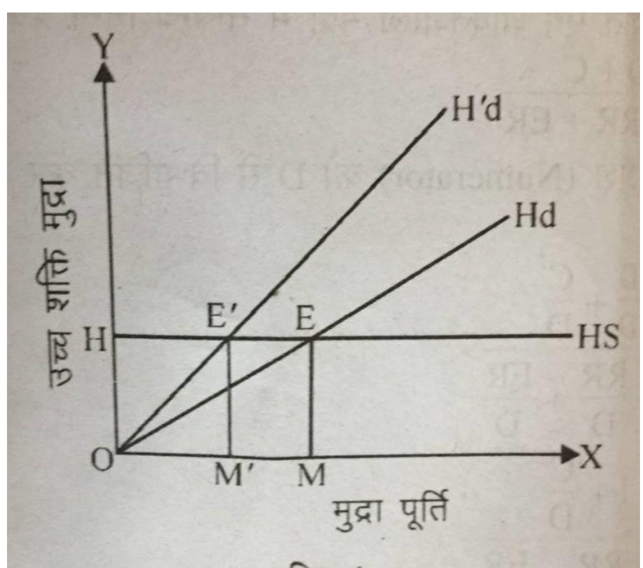

चित्र 1

Cr, RRr, Err और उच्च शक्ति मुद्रा H के दिया हुआ होने पर सन्तुलन की स्थिति में मुद्रापूर्ति OM होगी, क्योंकि Hd वक्र रेखा HS को बिन्दु E पर काटता अथवा RRr अथवा ERr अनुपातों में से किसी भी अनुपात में

वृद्धि हो जाती है तो उच्च शक्ति मुद्रा की मांग में वृद्धि हो जाएगी तथा H'd वक्र ऊपर उठकर Hd' का स्वरूप ग्रहण कर लेगा। इस तरह अनुपातों में वृद्धि होने पर H की मांग बढ़ेगी और मुद्रा की पूर्ति घटकर OM' रह जाएगी।इसी तरह H की मांग में कमी से मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाएगी। स्पष्टतया, $M = (m) . H$

3.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा की पूर्ति पर बर्हिजात और अन्तर्जात घटकों का प्रभाव पड़ता है, जिन्हें सामान्यतया इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

न्यूनतम नकदी रिजर्व अनुपात, बैंक आरक्षितियों का स्तर जमाओं की सापेक्षता में करेन्सी धारण की लोगों की इच्छा। अन्तिम दो निर्धारकों को मिलाकर उसे 'उच्च शक्ति मुद्रा' का नाम दिया गया है।

3.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- बैंक साख कैसे उत्पन्न करते हैं? साख उत्पन्न करने में बैंक की शक्ति कैसे सीमित है?

प्रश्न 2- "ऋण साख का निर्माण करते हैं"— इस मत की व्याख्या कीजिए और बतलाइए की बैंकों के द्वारा साख निर्माण की क्या सीमाएं हैं?

प्रश्न 3- मुद्रा गुणक को स्पष्ट कीजिए।

3.8 शब्दावली

मांग जमा	:	Demand Deposite
मुद्रा गुणक	:	Money Multiplier
साख गुणक	:	Credit Multiplier
व्युत्पन्न जमा	:	Derivative Deposite
नगद कोष	:	Cash Reserve

3.9 सन्दर्भ

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chap : 1
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory and Practice
C. Crowther	:	An Outline of Money. Chap. 2
R. P. Kent	:	Money and Banking, Chap. 9
G. N. Halm	:	Economics of Money and Banking

इकाई–4 भारत में मुद्रा पूर्ति का मापन

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मुद्रा पूर्ति का माप
4.3 भारत में रिजर्व बैंक का दृष्टिकोण
4.4 सारांश
4.5 बोध प्रश्न
4.6 शब्दावली
4.7 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत मुद्रा पूर्ति के विभिन्न मापों का अध्ययन किया जा रहा है। किसी भी समय पर मुद्रा के पूर्ति में मुद्रा के विभिन्न मापों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। ऐसे में इस इकाई के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. M_1 को संकुचित मुद्रा क्यों कहा जाता है? इस बात का पता लगाना।
2. M_3 विस्तृत मुद्रा कहा जाता है। इस कारण का पता लगाना।
3. मुद्रा पूर्ति के विभिन्न मापों से संशोधन और नये माप के बारे में जानकारी प्राप्त करना।

4.1 प्रस्तावना

भारत में मुद्रा पूर्ति से संबंधित आकडे भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जुलाई 1935 से प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। समय–समय पर इनका परिस्कार भी किया जाता रहा है। मौद्रिक समूहों से सम्बंधित आंकड़ों के संकलन को विश्लेषणात्मक आधार 1961 में मुद्रा पूर्ति पर प्रथम कार्यकारी दल द्वारा दिया गया। 1977 में द्वितीय कार्यकारी दल ने इसको और परिष्कृत किया। रिजर्व बैंक द्वारा संकीर्ण मुद्रा 'जनता के पास उपलब्ध मुद्रा' के रूप में तथा व्यापक मुद्रा को 'कुल मौद्रिक संसाधन' के रूप में प्रस्तुत किया गया था। द्वितीय कार्यकारी दल की सिफारशें लागू होने पर भारत में सम्पूर्ण मौद्रिक स्टॉक के लिए भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा प्रस्तुत आकड़ों में मुद्रा पूर्ति के चार माप प्रस्तुत किये गये।

4.2 मुद्रा पूर्ति का माप

मुद्रा पूर्ति के सम्बंध में प्रायः निम्नलिखित दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं–

1. **परम्परावादी दृष्टिकोण**– परम्परावादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत कुल उपलब्ध चलन मुद्रा तथा वाणिज्यिक बैंकों में रखी गई जमाओं (सावधि जमा को छोड़कर) को मुद्रा की पूर्ति में शामिल किया जाता है। इस तरह, इस दृष्टिकोण के अनुसार, मुद्रा पूर्ति के घटक निम्नलिखित हैं–

   (i) सरकार एवं केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित नोट एवं सिक्के, इन्हें चलन मुद्रा भी कहा जाता है। मुद्रा पूर्ति की यह वैधानिक स्थिति है।

(ii) बैंकों की मांग जमाएं, ये जमाएं चेक के माध्यम से चलन मुद्रा की ही तरह उपयोगी होती हैं। अतः परम्परागत दृष्टिकोण इन जमाओं को भी मुद्रा पूर्ति में समिलित करता है।

जनता के पास चलन की मात्रा तथा बैंकों की मांग जमाओं (चालू और बचत खाते पर) के योग को m_1 के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

मुद्रा पूर्ति का यह एक संकुचित दृष्टिकोण है। परम्परागत दृष्टि से M_1 विनिमय का एक निश्चित माध्यम है, परन्तु यह एक निम्नकोटि का मूल्य संचय है, क्योंकि इस पर कोई ब्याज नहीं प्राप्त होता अथवा बहुत कम ब्याज प्राप्त होता है। मौद्रिक नीति की दृष्टि से भी यह बहुत संकुचित दृष्टिकोण है।

2. **शिकागो अथवा मौद्रिक सम्प्रदाय का दृष्टिकोण**– शिकागो सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें मिल्टन फ्रीडमैन प्रमुख हैं, कुल मुद्रा पूति की एक विस्तृत अवधारणा प्रस्तुत की है। शिकागो सम्प्रदाय जिसे मौद्रिक सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है, कुल मुद्रा पूर्ति में चलन मुद्रा एवं मांग जमाओं के साथ–साथ सावधि जमाओं एवं अन्य जमाओं को भी सम्मिलित करता है।

इस सम्प्रदाय की धारणाा है कि आधुनिक एवं विकसित अर्थव्यवस्था में सावधि जमाओं को मांग जमा अथवा चलन मुद्रा में बिना किसी हानि के परिवर्तित किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, सावधि जमा चलन मुद्रा तथा मांग जमा के पूर्ण स्थानापन्न होते हैं। विकसित बैंकिंग सुविधाएं इस स्थिति को सम्भव बनाती हैं। इसके लिए जमाकर्ताओं को दण्डित ब्याज दर चुकानी पड़ती है। इस तरह, इस विचारधारा के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में M_1 के साथ–साथ व्यापारिक बैंकों की सावधि जमाओं को भी सम्मिलित किया जाता है। इस विचारधारा को भारत में M_3 से दर्शाया जाता है।

3. **गुर्ले एवं शॉ का दृष्टिकोण**– मुद्रा पूर्ति का गुर्ले एवं शॉ का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत विस्तृत दृष्टिकोण है। उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति में M_3 के अतिरिक्त बचत बैंक जमाओं, बिल्डिंग सोसाइटी की जमाओं, ऋण संघ जमाओं तथा अन्य साख एवं वित्तीय संस्थाओं की जमाओं को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

गुर्ले एवं शॉ का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत है। यह दृष्टिकोण न तो मुद्रा के विनिमय माध्यम का कार्य पूरा करता है और न ही इतना विस्तृत क्षेत्र केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण में होता है। हां, यह मुद्रा संचय का अत्यधिक तरल रूप अवश्य है। इस गुण के बावजूद गैर–बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं को मुद्रा की पूर्ति की धारणा में समिलित नहीं किया जा सकता।

4. **रैडक्लिफ समिति अथवा तरलता दृष्टिकोण**– इंग्लैण्ड की मौद्रिक प्रणाली की जांच हेतु नियुक्त की गई रैडक्लिफ समिति ने वर्ष 1959 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

रैडक्लिफ कमेटी के अनुसार, मुद्रा की पूर्ति तरलता के विस्तृत ढांचे का एक अंग है जो कि व्यक्ति के व्यय करने के निर्णय के अनुरूप होती है। उसके अनुसार, मुद्रा पूर्ति का अर्थ सामान्य तरलता से लेना चाहिए जिनमें नकद मुद्रा, बैंकों की सभी प्रकार की जमाएं, अन्य संस्थाओं की जमाएं, मौद्रिक परिसम्पत्तियां तथा उपलब्ध ऋण सुविधांए शामिल होती हैं।

इस दृष्टिकोण के आधार पर मुद्रा पूर्ति की गणना करना कठिन है, क्योंकि वित्तीय सम्पत्ति की तरलता स्वयं समय, आर्थिक स्थिति एवं वित्तीय संस्थाओं की प्रगति के साथ–साथ बदलती रहती है। अतः इस दृष्टिकोण का व्यावहारिक महत्व नहीं है।

4.3 भारत में रिजर्व बैंक का दृष्टिकोण

मुद्रा पूर्ति के द्वितीय कार्यदल की सिफारिशों पर रिजर्व बैंक ने अपने बुलेटिन के 1977 के अंक में मुद्रा पूर्ति के चार माप प्रस्तुत किए हैं। ये माप विश्लेषण और नीति प्रतिपादन के लिए नियमित रूप से प्रकाशित

किए जाते हैं। इन चारों अवधारणाओं की गणना निम्न प्रकार की जाती है–

M_1 = लोगों के पास चलन की मात्रा (चलन में नोट तथा सिक्के बैंकों के नकद–कोष छोड़कर) + सभी वाणिज्यिक बैंकों और सहाकारी बैंकों की मांग जमाएं + भारतीय रिजर्व बैंक के पास रखी अन्य जमाएं।

$M_2 = M_1$ + डाकघरों के बचत बैंकों में जमाएं

$M_3 = M_1$ + बैंकों की सावधि जमाएं

$M_4 = M_1$ + डाकघरों की समस्त जमाएं

मुद्रा पूर्ति के चारों मापों में संशोधन के लिए रेड्डी समिति का गठन किया गया जिसके सुझाव पर मुद्रा की पूर्ति के चार नये माप प्रस्तुत किये गए।

1. M_0 = चलन में करेंसी + RBI के पास बैंकों की जमाएं + RBI के पास अन्य जमाएं।
2. M_1 = चलन में करेंसी + बैंकों के पास मांग जमाएं + RBI के अन्य जमाएं।
3. $M_2 = M_1$ + बैंकों के पास बचत जमाओं की सावधि देयताएं + बैंकों द्वारा जारी जमाओं के प्रमाण पत्र + बैंकों के पास घरेलू निवासियों की 1 वर्ष तक की परिपक्वता वाली जमाएं।
4. $M_3 = M_2$ + बैंकों के पास घरेलू निवासियों की एक वर्ष से अधिक परिपक्वता वाली सावधि जमाएं + बैंकों द्वारा वित्तीय निगमों से लिए गये तुरन्त लौटाओ ऋण।

रेड्डी कमेटी ने मुद्रा पूर्ति के चारों नये मापों के आधार पर तरलता की नई धारणा के लिए तीन नये माप L_1, L_2, L_3 प्रस्तुत किये।

$L_1 = M_3$ + डाकघरों के पास समस्त जमाएं (राष्ट्रीय बचत प्रमाण पत्र छोड़कर)

$L_2 = L_1$ +वित्तीय संस्थाओं के पास सावधि जमाएं + वित्तीय संस्थाओं द्वारा जारी जमा के प्रमाणपत्र।

$L_3 = L_2$ + गैर बैंकिंग वित्तीय कंपनियों के पास सार्वजनिक जमाएं।

1998 के कार्यकारी दल द्वारा प्रस्ताविक संकलन कठिनाइयों से परिपूर्ण है, परन्तु वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से नयी श्रृंखला तैयार किये जाने की सम्भावना है। कार्यकारी दल ने सुझाव दिया कि M_0 का संकलन साप्ताहिक आधार पर तथा M_1, M_2, M_3 का संकलन अर्द्ध–मासिक आधार पर किया गया। L_1 तथा L_2 का संकलन मासिक होगा जबकि L_3 का संकलन त्रैमासिक होगा।

4.4 सारांश

उपर्युक्त माप–विधि से मुद्रा–पूर्ति के आकार का पता तो लग जाता है, परन्तु यह पता नहीं चल पाता कि यह आकार किन नीतियों अथवा उपायों के द्वारा निर्धारित हुआ है। इससे केवल इतना पता चलता है कि मुद्रा की पूर्ति कितनी है और किस रूप में है। इसको प्रभावित करने वाले कारणों की व्याख्या अलग से करनी होगी। इस सम्बन्ध में बृहदावर्द्धक अथवा शक्तिशाली मुद्रा (High Powered Money) की धारणा एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करती है।

भारत में आर्थिक नियोजन के आरम्भ के बाद से मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर तथा अधिक वृद्धि हुई है। M_1 को सबसे संकुचित मुद्रा और सबसे तरल मुद्रा कहा जाता है। वहीं दूसरी ओर M_3 को सबसे वृहद मुद्रा कहा जाता है। जिनमें सबसे महत्वपूर्ण घटक बैंको की सावधि जमाराशियां हैं जो 1999-2000 में 7,82378 करोड़ रुपये थी जो 2002-03 में 12,52,396 करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार लगभग 16 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

4.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा की पूर्ति से आप क्या समझते हैं? मुद्रा पूर्ति की माप के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाओं को समझाइए।

4.6 शब्दावली

मांग जमा	:	Demand Deposite
दावे	:	Claim
उच्च शक्ति मुद्रा	:	High Power Money
सावधि जमाएं	:	Time Deposite
प्रारक्षित मुद्रा	:	Reserve Money

4.7 संदर्भ सूची

W. M. Dacey : Money under Review (1960) chs 1-3

R. S. Sayers : Modern Banking, 7th ed (1967) chs 1-5, 7, 8.

B. Tew : Monetary Theory (1969) chs 1-2

Gerald Surkin : Interoduction to Macro Economic Theory

खण्ड–3

इकाई–1 मुद्रा मांग की प्रतिष्ठित अवधारणा

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मुद्रा पूर्ति की प्रतिष्ठित अवधारणा

1.3 सारांश

1.4 बोध प्रश्न

1.5 शब्दावली

1.6 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

मुद्रा मांग के सिद्धान्त खण्ड के अन्तर्गत इकाई 01 में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा की मांग के सन्दर्भ में व्याख्या किया जा रहा है। इसके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह है कि इस बात का पता लगाना कि मुद्रा की मांग मुख्य रूप से विनिमय के माध्यम के रूप में क्यों की जाती है? तथा इस बात का भी पता लगाना मौद्रिक सिद्धान्त का लेन–देन दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति अपनी आय का एक भाग अपने पास नगदी रूप में रखता है। इस बात का भी पता लगाना है।

1.1 प्रस्तावना

मुद्रा की मांग एक ऐसी अवधारणा है जो मौद्रिक अर्थशास्त्र के विश्लेषण के ह्नदय में स्थित है। कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को तीन प्रकार की परिसम्पत्ति (Assets) के रूप में रख सकता है, यथा,

- वास्तविक परिसम्पत्ति (मकान, भूमि, मशीन, फर्नीचर, आदि);
- वित्तीय परिसम्पत्ति (बॉण्ड, शेयर, बैंक जमा, आदि) तथा
- मुद्रा।

वास्तविक या भौतिक तथा वित्तीय परिसम्पत्तियों की निम्न दो विशेषताएं हैं :

- उनके मूल्य को मुद्रा (अर्थात् नामिक Nominal) के रूप में व्यक्त किया जाता है; तथा
- उनसे कुछ मौद्रिक आय (जैसे, ब्याज, लाभांश, किराया, आदि) प्राप्त होती है।

मुद्रा एक ऐसी परिसम्पत्ति है जिन्हें यद्यपि नामिक रूप में व्यक्त किया जाता है तथापि इससे सामान्यतः कोई आय (जैसे ब्याज) प्राप्त नहीं होती है।

इस प्रकार मुद्रा अनेक सम्भव परिसम्पत्तियों में केवल एक है जिसके रूप में सम्पत्ति का संचय सम्भव है। किसी भी निर्दिष्ट समय में लोग अपनी सम्पत्ति का संचय विभिन्न परिसम्पत्तियों के रूप में इस प्रकार करना चाहते हैं ताकि उन्हें अधिकतम आय प्राप्त हो। यह तभी सम्भव है जब विभिन्न परिसम्पत्तियों से प्राप्त सीमान्त शुद्ध प्राप्तियां समान हो जाय।

मुद्रा की मांग को "मुद्रा की वांछित वास्तविक स्टॉक" (Desired Real stock of money) के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। सन्तुलन में मुद्रा के वांछित तथा वास्तविक स्टॉक बराबर होते हैं। असन्तुलन की स्थिति में ही इन दोनों में अन्तर होता है। इस असमानता को दूर करना है और इसके लिए जो समायोजन की क्रिया आरम्भ होती है वही कीमत, वास्तविक आय तथा ब्याज दर जैसे चरों को निर्धारित करती है।

मुद्रा की वांछित मांग सम्पत्ति का वह भाग है जिसे लोग मुद्रा के रूप में रखना चाहते हैं। ऐसा सम्भव है कि किसी दिये हुए समय में उनके पास मुद्रा की जो वास्तविक मात्रा है वह वांछित मात्रा होगी तथा कुल वास्तविक मुद्रा स्टॉक का एक अंश अनचाहा होगा। अनचाहे मुद्रा से छुटकारा पाने के लिए परिसम्पत्तियों को फिर से सजाना पड़ेगा और यही मौद्रिक नीति के काम करने की कार्य विधि है।

1.2 मुद्रा माँग की प्रतिष्ठित अवधारणा

मुद्रा की माँग की व्याख्या मुद्रा की प्रकृति एवं कार्यों के आधार पर दो प्रकार से की जाती है। मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है और मूल्य का संचय करती है। मुद्रा की माँग इन दोनों कार्यों की पूर्ति के लिए की जा सकती है।

विनिमय–माध्यम के रूप में मुद्रा की माँग– प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि माँग का आधार इसकी विनिमय–माध्यम के रू॰ में उपयोगिता है। मुद्रा की माँग इसलिए की जाती है क्योंकि उसमें क्रय–शक्ति है जिसकी सहायता से बाजार में बिकने वाली वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकता है। अतः मुद्रा की माँग प्रत्यक्ष न होकर व्युत्पन्न माँग है। इस प्रकार मुद्रा की माँग किसी देश में किसी अवधि में विनिमय के लिए उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है। इस आधार पर मुद्रा की माँग का निर्धारण तीन तत्वों पर निर्भर करता है–

(1) वर्तमान उत्पादन द्वारा प्राप्त वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य।

(2) ऐसी वस्तुओं का मूल्य जिनका प्रयोग अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में होता है।

(3) ऐसी वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य जो पहले से ही मौजूद हों अथवा पुरानी वस्तुएँ जो बिक्री–साध्य हों।

किसी भी समय में विनिमय के लिए उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा अनेक बातों से प्रभावित होती है, जैसे– उत्पादन के साधनों की अल्पता अथवा बहुलता, उत्पादन के साधनों की कुशलता अथवा वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान, उत्पादन का पैमाना और व्यापारिक संगठन, उत्पत्ति के साधनों का रोजगार–स्तर, उत्पादन और उपभोग में अन्तर तथा वस्तुओं के हस्तान्तरण की गति, इत्यादि। इन बातों के अतिरिक्त जनसंख्या का आधार, देश का क्षेत्रफल और प्राकृतिक साधन तथा मुद्रा की पूर्ति आदि का भी मुद्रा की माँग पर प्रभाव पड़ता है। एक विकसित अथवा विकासशील देश में एक पिछड़े हुए देश की अपेक्षा मुद्रा की माँग अधिक होना स्वाभाविक है।

मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले उपर्युक्त कारण वस्तुनिष्ठ तत्व हैं, और व्यक्तिनिष्ठ विचारों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। दूसरे, इन सभी कारणों में प्रायः अल्पकाल में कोई परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं होती, इसलिए लेन–देन के लिए मुद्रा की माँग भी अल्पकाल में स्थिर रहती है। मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित फिशर द्वारा दी गयी व्याख्या इसी मान्यता पर आधारित है। विनिमय–माध्यम के रूप में मुद्रा की माँग की व्याख्या की तीसरी विशेषता यह है कि यह एक निश्चित अवधि से सम्बन्धित है इसलिए यह न केवल मुद्रा की मात्रा बल्कि मुद्रा के प्रचलन–वेग से भी सम्बन्ध रखती है।

नकद–कोष के रूप में मुद्रा की माँग– कैम्ब्रिज अर्थशास्त्री तथा आधुनिक विचारधारा वाले अन्य अर्थशास्त्री मुद्रा की माँग के निर्धारण में मुद्रा के मूल्य–संचय के कार्य को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। उनके अनुसार, मुद्रा की मांग से अभिप्राय वास्तविक राष्ट्रीय आय के उस अनुपात से है जिसे समाज अपने पास किसी निश्चित समय पर नकद–शेष के रूप में रखना चाहता है। इस विचारधारा के अनुसार, मुद्रा की माँग का अर्थ नकद–शेष के रूप में रखना चाहता है। इस विचारधारा के अनुसार, मुद्रा की माँग का अर्थ नकद–शेष की माँग से लगाया जाता है। इस माँग का आधार राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होने वाली वस्तुएँ और सेवाएँ होती हैं, सभी प्रकार की वस्तुएँ व सेवाएँ व सेवाएँ नहीं।

नकद–कोष के रूप में मुद्रा की माँग का मुद्रा के प्रचलन–वेग से सर्वथा विपरीत सम्बन्ध होता है। जब कभी मुद्रा की माँग विनिमय–माध्यम के रूप में प्रयोग करने के लिए की जाती है तो मुद्रा की प्रचलन–गति (V) समस्त लेन–देन से सम्बन्धित होती है। इसके विपरीत, नकद कोष के रूप में मुद्रा की माँग करने पर प्रचलन–वेग का सम्बन्ध केवल उन वस्तुओं के लेन–देन से होता है जो राष्ट्र की कुल वास्तविक आय में सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार की प्रचलन–गति को आय–प्रचनल–वेग कहा जाता है, जिसे प्रायः V_y के रूप में व्यक्त किया जाता है। यह स्पष्ट है कि आय–प्रचलन–वेग V_y का आकार लेन–देन प्रचलन–वेग (V) की तुलना में छोटा होगा।

लेन–देन तथा मूल्य–संचय के उद्देश्यों से मुद्रा की माँग की व्याख्या अलग–अलग करने से यह बताने में सहायता मिलनी है कि समाज द्वारा मुद्रा की माँग क्यों की जाती है। परन्तु व्यावाहारिक रूप में, लेन–देन के उद्देश्य से माँग की गयी मुद्रा की मात्रा को मूल्य–संचय के उद्देश्य से माँग की गयी मात्रा से अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों उद्देश्यों में भेद करना व्यर्थ है, क्योंकि यदि एक रुपया निकट भविष्य में व्यय किया जाना है तो इसे नकदी के रूप में रखा जायेगा, जिससे मूल्य–संचय का उद्देश्य अपने आप पूरा हो जायेगा। व्यावहारिक रूप में यह निर्धारित करना भी बहुत कठिन होता है कि मुद्रा की कितनी माँग लेन–देन के उद्देश्य से और कितनी मूल्य–संचय उद्देश्य से की जाती है। अतः उचित यही है कि मुद्रा की माँग का सम्बन्ध नकद–कोषों के आकार के साथ स्थापित किया जाये।

1.3 सारांश

मौद्रिक अर्थशास्त्र के प्रति फिशर का दृष्टिकोण ऐसा है जहां मुद्रा की मांग की आवश्यकता इसलिए होती है कि लोग एक–दूसरे के साथ व्यापार करते हैं। इस तरह उन्होंने मुद्रा की मांग को अर्थव्यवस्था में व्यापार के परिमाण के साथ जोड़ दिया। यह स्पष्ट रूप से मुद्रा की मांग का समष्टि सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा की मांग के विषय में एक निश्चित भविष्यवाणी की जा सकती है और इसकी जांच भी सम्भव है। मुद्रा की मांग के विषय में कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने भिन्न तरह का प्रश्न पूछा। उन्होंने फिशर की तरह यह नहीं पूछा की लेन–देन की एक निर्दिष्ट मात्रा के लिए आवश्यक मुद्रा की मात्रा का निर्धारण कौन करता है। उन्होंने यह पूछा कि कोई व्यक्ति नकद रूप में रखने के लिए मुद्रा की जो मांग करता है उसके कौन निर्धारित करता है। नकदी के रूप में मुद्रा को रखने से लेन–देन में सुविधा होती है तथा धारक को सुरक्षा प्राप्त होती है। यह व्यष्टि अर्थशास्त्र का प्रश्न है। उपभोक्ता की मांग की तरह मुद्रा की मांग में भी व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में चयन का प्रश्न उठता है। इस रूप में मुद्रा की मांग के विश्लेषण में फिशर के निर्धारक कैम्ब्रिज सिद्धान्त के र्धािरक से भिन्न होते हैं। फिशर ने "धारण करने की जरूरत" के स्थान पर महत्व कैम्ब्रिज "धारण करने की इच्छा" चला जाता है। व्यापार के परिमाण को देखते हुए फिशर के व्यक्ति को मुद्रा की कुछ मात्रा धारण करने की आवश्यकता होती है। कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों के व्यक्ति मुद्रा की कुछ मात्रा नगद रूप में रखना चाहते हैं। व्यक्ति अपनी कुल सम्पत्ति को नगद मुद्रा के रूप में रखना नहीं चाहेगा क्योंकि सम्पत्ति के संचय के वैकल्पिक साधन हैं।

1.4 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा की मांग क्यों की जाती है। इस सम्बंध में प्रतिष्ठित सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।

1.5 शब्दावली

विनिमय माध्यम	:	Exchange Medium
मूल्य मापन	:	Mesures Value
नगद शेष	:	Cash Balance
चलन गति	:	Velocity of Circulation

1.6 संदर्भ सूची

K. K. Kurihara	:	An Introduction to Keynesian Dynamics, Chap, 4.
Dudley Dillard	:	Economics of John Maynard Keynes, Chap, 8.
A. H. Hansen	:	A Guide to Keynes, Chap, 6
A. H. Hansen	:	Monetary Theory and Fiscal Policy, Chap. 4
J. M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol, 1

इकाई–2 मुद्रा मांग की कीन्स की अवधारणा

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सिद्धांत की व्याख्या

2.3 सारांश

2.4 बोध प्रश्न

2.5 शब्दावली

2.6 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

मुद्रा मांग के इस इकाई के अन्तर्गत कीन्स की अवधारणा का व्याख्या किया गया है। जिसका उद्देश्य इस बात का पता लगाना है कि मुद्रा की मांग लेन–देन के उद्देश्य, दूरदर्शिता उद्देश्य तथा सट्टा उद्देश्य के लिए क्यों की जाती है? इस सम्बंध में प्रो. कीन्स के विचार को समझना है।

2.1 प्रस्तावना

नकद व्यवसाय विचार–धारा ने मुद्रा पर चर्चा का आरंभ उसकी विनिमय का केवल एक माध्यम मान कर ही किया था। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होगा कि मुद्रा अर्थव्यवस्था में केवल एक निष्क्रिय भूमिका ही निभाती है और यह क्रय विक्रय की सुविधाजनक बनाने के लिये केवल एक मध्यस्थ के रूप में ही कार्य करती है उसी प्रकार जैसे कि फुटबाल मैच में रेफरी दोनों पक्षों के बीच निष्पक्ष रूप से कार्य करता है।

परन्तु जब हम मुद्रा की उस भूमिका पर विचार करते हैं जो वह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में अदा करती है तो हमारा अधिकतर संबंध उसके परिसंपत्ति लोग उसे न केवल ऋण चुकाने के लिये अपने पास रखते हैं परन्तु इसलिए भी रखते हैं कि वह परिसंपत्ति का एक विशेष रूप है जिसे बिना किसी विलम्ब या लागत अथवा हानि के अन्य वस्तुओं के रूप में बदला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा पूर्णतः तरल होती है।

कीन्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The General Theory* में मुद्रा की मांग के जिस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया वह कैम्ब्रिज अर्थषास्त्रियों की मुद्रा की मांग के सिद्धान्त का ही और अधिक विकास है। लोग नकद मुद्रा अपने पास क्यों रखते हैं? इसके लिए कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने जिन उद्देश्यों का विवेचन किया, कीन्स ने उन्हें और अधिक सावधानी से स्पष्ट किया।

फिशर तथा कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने बताया मुद्रा की विशेषता यह है कि यही एक ऐसी परिसम्पत्ति है जिसे लोग व्यापक रूप से विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। कीन्स ने इस धारणा को अस्वीकार नहीं किया।

2.2 सिद्धान्त की व्याख्या

कीन्स के अनुसार मुद्रा की मांग तीन उद्देश्यों से की जाती है–

1. **लेन–देन उद्देश्य**– वस्तुतः मुद्रा की मांग के लिए जिन तीन उद्देश्यों की कीन्स ने चर्चा की उनमें पहला लेन–देन उद्देश्य ही है। उन्होंने आय के स्तर तथा लेन–देन के स्तर के मध्य एक स्थिर सम्बन्ध को मान लिया। लेन–देन उद्देश्य के अन्तर्गत लोग आय की प्राप्ति (जो नियमित होती है साप्ताहिक या मासिक रूप में) तथा दिन–प्रतिदिन की आवष्यकता की पूर्ति के लिए किए गए मौद्रिक भुगतान की खाई को पाटने के लिए नकद मुद्रा रखते हैं। इस उद्देष्य के लिए कितनी मुद्रा रखी जाएगी वह आय के स्तर पर निर्भर करती है। आय के ऊंचे स्तर पर अधिक मुद्रा तथा निम्न स्तर पर कम मुद्रा। समीकरण के रूप–

$L_T = L(Y)$ जहां L_r = लेन–देन के लिए मुद्रा की मांग तथा Y = आय का स्तर।

2. **सुरक्षा उद्देश्य**– दूसरा उद्देश्य है जिसके अन्तर्गत भी लोग मुद्रा को नकद रूप में रखते हैं। यहां नकद रखने का उद्देश्य है अप्रत्याशित भुगतान करना। ऐसी स्थिति बीमारी, दुर्घटना, आदि के समय आ सकती है। इस उद्देश्य के लिए कितनी मुद्रा रखी जाएगी वह भी आय के स्तर पर निर्भर करती है– आय के ऊंचे स्तर पर अधिक मुद्रा तथा निम्न स्तर पर कम। समीकरण के रूप में,

$L_P = L(Y)$, जहां L_P = सुरक्षा के उद्देश्य के लिए नकद की मांग।

L_T तथा L_P को मिलाकर किन्स ने L_1 लिखा अर्थात् $L_T + L_P = L$, जो सक्रिय मुद्रा की मांग (Demand for Active Balance) है और यह आय के स्तर पर निर्भर करता है अर्थात् $L_1 = L(Y)$ कीन्स ने लेन–देन तथा सुरक्षा के उद्देश्य से की गई नकद मुद्रा की मांग तथा आय के स्तर के मध्य तकनीकी दृष्टि से किसी अचल (Fixed) सम्बन्ध की बात नहीं की। उन्होंने इस बात पर भी बल नहीं दिया कि मुद्रा की ऐसी मांग ब्याज दर पर भी निर्भर कर सकती है। बामोल ने अपने भण्डार सैद्धान्तिक धारणा में इस समस्या की पूरी विवेचना की। कीन्स ने केवल इतना बताया की ऊंची दर पर सक्रिय मुद्रा की मांग भी लोचदार हो सकती है।

3. **सट्टा उद्देश्य**– मार्शल तथा पीगू ने सुझाव दिया था कि भविष्य के सम्बन्ध में अनिश्चितता मुद्रा की मांग को प्रभावित करने वाला एक कारक हो सकता है। मुद्रा की मांग के विश्लेषण में केन्स ने जिस सट्टेबाजी उद्देश्य की विवेचना की उसमें मार्शल तथा पीगू के इसी सुझाव को औपचारिक रूप दिया गया। लेकिन कीन्स ने सभी प्रकार की अनिश्चितता की विवेचना न करके केवल एक ही प्रकार की अनिश्चितता पर विचार किया। वह है ब्याज की भावी दर उन्होंने नकद मुद्रा के विकल्प के रूप में बॉण्ड को लिया। बॉण्ड एक ऐसी परिसम्पत्ति है जिस पर प्रतिवर्ष मौद्रिक आय मिलती है। बाण्ड के लिए कितनी कीमत का भुगतान किया जाएगा यह ब्याज दर पर निर्भर करता है। बॉण्ड की कीमत तथा ब्याज दर के मध्य विपरीत सम्बन्ध होता है। ब्याज की दर में परिवर्तन का अर्थ है बॉण्ड की कीमत में परिवर्तन जिसके फलस्वरूप बॉण्ड के धारक को पूंजी लाभ प्राप्त होता है या पूंजी हानि उठानी पड़ती है। इस सम्बन्ध में कीन्स की निम्न दो अवधारणाएं हैं–

   - जब ब्याज दर में ह्रास होने की प्रत्याशा रहती है, लोग कम मुद्रा की मांग करते हैं, क्योंकि वे पूंजी लाभ की आशा में बॉण्ड धारण करते हैं। ऐसी प्रत्याशा तभी पूरी होती है जब ब्याज दर वस्तुतः गिर जाती है।
   - जब ब्याज दर में वृद्धि की प्रत्याशा होती है, मुद्रा की मांग अधिक होती है क्योंकि लोग बॉण्ड धारण करना पसन्द नहीं करेंगे। यदि ब्याज दर में वस्तुतः वृद्धि होती है, बॉण्ड के धारक को पूंजी हानि उठानी पड़ेगी।

लेकिन महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कब ब्याज दर में ह्रास या वृद्धि की प्रत्याशा की जाती है। कीन्स ने इसके समाधान के लिए ब्याज की एक विशेष दर को 'सामान्य' (Normal) मान लिया। यदि ब्याज की मौजूदा दर इस सामान्य दर से ऊंची है, लोग इस में ह्रास की आशा करेंगे। यदि चालू दर सामान्य से कम है, वे इसमें वृद्धि की आशा करेंगे। सट्टेबाजी के उद्देश्य से मुद्रा की मांग ब्याज की चालू दर तथा इसको सामान्य दर को सापेक्ष स्थिति पर निर्भर करती है। मानलें की L_S सट्टेबाजी के लिए मुद्रा की मांग है, अतः $L_s = L_{(r)}$, जहां r = ब्याज की दर। कीन्स ने Ls के लिए L_2 संकेत का उपयोग किया है तथा इसे निष्क्रिय मुद्रा (Idle Money) कहा है। इस प्रकार मुद्रा की कुल मांग = सक्रिय मुद्रा की मांग + निष्क्रिय मुद्रा की मांग

$(Md = L_1 + L_2)$

तथा $Md = L_1 (Y) + L_2 (r)$

या $Md = L_1 (Y, r)$

कीन्स ने मुद्रा की मांग को तरलता पसन्दगी कहा तथा इस सिद्धान्त को तरलता पसन्दगी का सिद्धान्त।

LM वक्र की व्युत्पत्ति– मुद्रा की मांग (L) तथा मुद्रा की पूर्ति (M) को समन्वित करके LM वक्र जो मौद्रिक क्षेत्र के सन्तुलन (मुद्रा पूर्ति = तरलता अधिमान) को व्यक्त करता है, को निम्नवत् व्युत्पन्न किया जा सकता है–

LM वक्र मौद्रिक क्षेत्र के सन्तुलन को व्यक्त करता है अर्थात् LM वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु पर मुद्रा की मांग एवं मुद्रा की पूर्ति सन्तुलन में होती है। विश्लेषण की सरलता के लिए मुद्रा पूर्ति को स्थिर अर्थात् ब्याज निरपेक्ष माना गया है। LM वक्र को तरलता अधिमान अनुसूची तथा मुद्रा पूर्ति अनुसूची से चित्र 1 में व्युत्पन्न किया गया है।

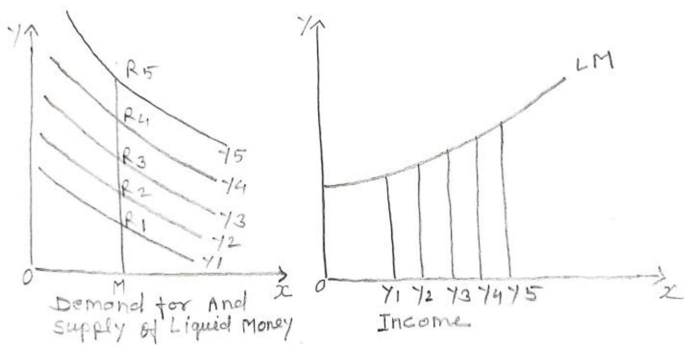

चित्र–1

चित्र 1 में आय के Y_1, Y_2 तथा Y_3 करोड़ रुपए के स्तरों पर क्रमशः L_1Y_1, L_2Y_2, तथा L_3Y_3 तरलता अधिमान वक्र है। QM मुद्रा की पूर्ति का पूर्णतया बेलोच वक्र है। चित्र में आय के Y_1 के अनुरूप OR_1 ब्याज दर पर मुद्रा की मांग L_1Y_1 तथा मुद्रा की पूर्ति QM बराबर होती है। Y_2 आय स्तर पर L_2Y_2 वक्र तथा QM वक्र OR_2 ब्याज दर पर बराबर होते हैं। इसी प्रकार Y_3 आय स्तर पर L_3Y_3 QM वक्र OR_3 ब्याज दर पर बराबर होते हैं। अब मुद्रा की पूर्ति, तरलता अधिमान, आय स्तर तथा ब्याज दर की सहायता से चित्र 1 (II) में दिखाए गए LM वक्र को खींचा जा सकता है। चित्र में आय स्तर X-अक्ष पर तथा ब्याज दर Y-अक्ष पर प्रदर्शित किया गया है। चित्र 1 (I) के E बिन्दु से जहां L_1Y_1 वक्र MQ वक्र को आपस में काटते हैं R_1E_1 रेखा को दाहिनी तरफ बढ़ाने पर वह चित्र में बिन्दु Y_1 से ऊपर लम्बवत खींची गई रेखा से बिन्दु A पर मिलती है। इसी प्रकार R_2E_2 बढ़ाए जाने पर Y_2 से ऊपर जाने वाली रेखा से बिन्दु पर तथा बढ़ाए जाने पर से ऊपर जाने वाली रेखा से बिन्दु पर मिलती है। इन सभी बिन्दुओं को एक रेखा द्वारा मिलाने से हमें वक्र प्राप्त होता है। प्राप्त वक्र का प्रत्येक बिन्दु ब्याज–आय स्तर को व्यक्त करता है जहां मुद्रा की मांग तथा मुद्रा की पूर्ति बराबर होती है। इस प्रकार, यह

वक्र विभिन्न आय स्तरों को ब्याज की दरों के साथ सम्बद्ध करता है, परन्तु यह नहीं बताता कि ब्याज की दर क्या होगी।

2.3 सारांश

LM वक्र बाएं से दाएं ऊपर की ओर चढ़ता हुआ होता है जो यह दिखाता है कि मुद्रा की मात्रा दी हुई रहने पर तरलता अधिमान बढ़ने पर ब्याज की दर बढ़ती है। यह LM वक्र धीरे–धीरे शीर्ष हो जाता है अर्थात् पूर्णतया बेलोच (Perfectly Inelastic) हो जाता है, क्योंकि जब आय के ऊंचे स्तरों पर लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग बढ़ती है तो उपलब्ध मुद्रा पूर्ति में से सट्टा उद्देश्य हेतु मुद्रा की मांग के लिए कुछ भी नहीं बचता। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि बाईं ओर LM वक्र Y-अक्ष को स्पर्श करता है इसका अर्थ है कि वह पूर्णतया लोचदार (Perfectly Elastic) है जिसका अर्थ यह हुआ कि आय स्तर में कमी होने से लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग में कमी आ जाती है। इस तरह मुद्रा की अधिक मात्रा निष्क्रिय शेषों (Idle balance) के रूप में प्राप्त होती है, परन्तु इससे ब्याज दर में कमी नहीं आती, क्योंकि एक ऐसी सीमा पर हम पहुंच होते हैं जिसके उपरान्त ब्याज दर और नहीं गिर सकती। ब्याज की दर जिस निम्न सीमा तक गिरेगी उसे केन्सीय विश्लेषण में तरलता पाश (जाल) (Liquidity Trap) की संज्ञा प्रदान की गई है।

2.4 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा की मांग के सम्बंध में कीन्स की अवधारणा की विस्तृत व्याख कीजिए।

2.5 शब्दावली

द्रवता जाल	:	Liquidity Tratp
पूर्णतयः बेलोचदार	:	Perfectly Inelasitic
तरलता पसन्दगी	:	Liquidity Preference
दूरदर्शिता उद्देश्य	:	Precautionary Motive
सट्टा उद्देश्य	:	Speculative Motive

2.6 संदर्भ सूची

K. K. Kurihara	:	An Introduction to Keynesian Dynamics, Chap, 4.
Dudley Dillard	:	Economics of John Maynard Keynes, Chap, 8.
A. H. Hansen	:	A Guide to Keynes, Chap, 6
A. H. Hansen	:	Monetary Theory and Fiscal Policy, Chap. 4
J. M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol, 1

इकाई–3 मुद्रा मांग की केन्जोपरान्त अवधारणा–बामल एवं टोबिन

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 बामोल के सिद्धान्त की व्याख्या

3.3 बामोल सिद्धान्त की श्रेष्ठता

3.4 टॉबिन का निवेशसूची चयन मॉडल

3.5 सारांश

3.6 बोध प्रश्न

3.7 शब्दावली

3.8 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

मुद्रा की मांग के सम्बंध में परिमाणवादी अर्थशास्त्रियों और कीन्स के सिद्धान्त पर एक सुधार के रूप में केन्सोत्तर अर्थशास्त्रियों ने अलग तरह से व्याख्या किया। इस इकाई के अन्तर्गत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. बामोल के मुद्रा के मांग सिद्धान्त को समझना।
2. टोबिन के मुद्रा मांग के निवेश सूची मॉडल को समझना।

बोमल का सिद्धान्त (Boumol's Theory)

3.1 प्रस्तावना

केन्ज द्वारा प्रस्तुत मुद्रा की लेन–देन मांग में विलियम बोमल ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। केन्ज मुद्रा की लेन–देन मांग को आय के स्तर का फलन मानता है और लेन–देन मांग तथा आय के बीच रेखीय एवं समानुपातिक संबंध मानता है। बोमल कहता है कि लेन–देन मांग तथा आय में संबंध न तो रेखीय है और न ही समानुपातिक, बल्कि होता यह है कि जब आय में परिवर्तन होते हैं, तो मुद्रा की लेन–देन मांग में आनुपातिक से कम परिवर्तन होते हैं। फिर केन्ज मानता था कि लेन–देन मांग प्रमुखतः ब्याज बेलोच होती है। परन्तु बामोल ने मुद्रा की लेन–देन मांग की ब्याज लोचात्मकता का वि"लेषण किया है।

3.2 बामोल के सिद्धान्त की व्याख्या

बामोल के विश्लेषण का आधार यह है कि कोई फर्म या व्यक्ति लेन–देन के लिए मुद्रा की इष्टतम मालसूची अपने पास रखता है। वह लिखता है, "फर्म के नकदी शेष का मतलब मुद्रा की वह मालसूची मानी जा सकती है जिसे उसका रखने वाला श्रम, कच्चे माल आदि के क्रय के बदले देने को तैयार है।" नकदी शेष इसलिए रखे जाते हैंकि आय तथा व्यय एक साथ नहीं होते। "परन्तु पूंजी की बड़ी राशियों को नकदी शेष के

रूप में बांध रखना महंगा पड़ता है। क्योंकि वह मुद्रा फर्म में कहीं और अधिक लाभप्रद ढंग से प्रयोग की जा सकती है............. उसे लाभप्रद रूप से प्रतिभूतियों में निवेश किया जा सकता है।" इस प्रकार नकदी शेष रखने का दूसरा तरीका बांड हैं जिन पर ब्याज मिलता है। अपनी परिसम्पत्तियों से अधिकतम लाभ कमाने के लिए फर्म हमें"ll यह प्रयत्न करेगी कि लेन–देन के लिए न्यूनतम नकदी शेष रखे जाएं। बांड़ों पर ब्याज की दर जितनी ही अधिक होगी, फर्म उतने ही कम लेन–देन शेषों को रखेगी।

बामोल यह मानकर चलता है कि किसी फर्म को प्रति समय–अवधि, जैसे एक वर्ष में Y डालरों की आय

निष्क्रिय निधियों से बांड खरीदना हमेशा लाभदायक रहेगा। लेन–देन के लिए नकदी की जरूरत पड़ने पर बांड बेचे जा सकते हैं।

फर्म के नकद धारणों और बांड धारणों का ढांचा चित्र 1 में दिखाया गया है। मान लें कि फर्म के पास 1,200 हैं जो उसे वर्ष के दौरान प्रति चार मास स्थिर दर से व्यय करने हैं। इस राशि में से वह लेनदेन के लिए 400 डालर नकदी में रख बाकी 800 डालर से बांड खरीद लेती है। खरीदे गए आधे बांडों की परिपक्वता 1/3t (चार मास) और शेष आधे बांडों की परिपक्वता 2/3t (आठ मास) होती है, मान लीजिए कि k बांडों को बेचने से निकाली गई राशि का आकार है और फर्म के औसत नकदी धारण बांडों के बेचने से प्राप्त राशि के आधे के बराबर (1/2k) है। ये मान्यताएं दी होने पर, फर्म शुरु में समय t = 0 पर अपनी 2/3 आय के बांड (800 डालर) खरीदती है और बाकी 1/3 (400 डालर) नकदी में रखती है, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। समय 1/3t पर खरीदे गए पहले आधे बांड (400 डालर) परिपक्व हो जाते हैं जो वह समय 2/3t तक शेष शून्य हैं और फर्म नए वर्ष में नकद प्राप्तियों के लिए तैयार हो जाती है।

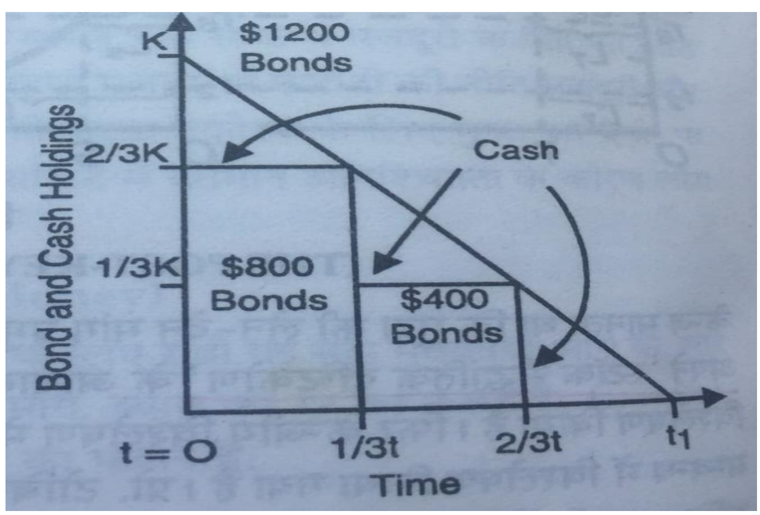

चित्र 1

इस समस्या को हल करने के लिए आवश्यक है कि वर्ष भर नकदी–शेषों को रखने की लागत न्यूनतम रखी जाए। नकदी–शेषों को रखने में ब्याज–लागतें और गैर–ब्याज लागतें सम्मिलित रहती हैं। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं ब्याज–लागतें अवसर लागत के रूप में होती हैं। क्योंकि जब कोई फर्म लेन–देन के लिए नकदी रखती है, तो उसे ब्याज–आय छोड़नी पड़ती है। दूसरी ओर, गैर–ब्याज लागतों में नकदी को बांडों अथवा बांडों को नकदी में बदलने के लिए दलाली, डाक–व्यय, बहीखाता व्यय आदि मदें शामिल रहती हैं।

इस प्रकार, जब कभी कोई लेन–देन के लिए मुद्रा रखती है, तो उसे ब्याज–लागतें और दलाली (गैर–ब्याज लागतें) उठानी पड़ती हैं। मान लीजिए ब्याज की दर r है जो वर्ष भर के लिए स्थिर मान ली गई है और दलाली b है जिसे भी स्थिर मान लिया गया है। मानलीजिए कि वर्ष प्रारम्भ में फर्म की आय Y है जो इसके द्वारा किए गये लेन–देनों के वास्तविक मूल्य के बराबर है और K अन्तरालों पर प्रत्येक बार निकाली गई राशि का आकार है जो बांड बेचने के समय निकाली गई है। इस प्रकार, वर्ष भर में Y/K बार राशि निकाली

गई है। वर्ष के दौरान दलाली पर b(Y/K) लागत आएगी। क्योंकि औसत नकदी निकास (withdrawals) K/2 हैं, इसलिए नकदी शेष रखने की ब्याज–लागत rK/2 है। इस प्रकार लेन–देन करने की कुल लागत अर्थात् C को समीकरण के रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है–

$$\mathbf{C = r\frac{K}{2} + b\frac{Y}{K}} \text{ .... (1)}$$

K का इष्टतम मूल्य वह होगा जिससे कुल मालसूची की लागत न्यूनतम हो जाए। K के सम्बन्ध में C का विभेदीकरण करने से व्युत्पन्न dC/dK शून्य के बराबर रखने से और C को हल करने पर हमें उपलब्ध होता है।

$$\frac{dC}{dK} = \frac{r}{2} + \frac{-by}{K^2} = 0$$

अथवा,

$$\frac{r}{2} = \frac{by}{K^2}$$

अथवा दोनों पक्षों को $2K^2/r$ से गुणा करने पर हमें प्राप्त होता है

$$K^2 = \frac{2bY}{r}$$

अथवा,

$$K = \sqrt{\frac{2bY}{r}} \text{ .... (2)}$$

समीकरण (2) से स्पष्ट है कि यदि दलाली बढ़ जाएगी, तो निकासों की संख्या कम हो जाएगी।

दूसरे शब्दों में इष्टतम नकदी शेष बढ़ जाएगा, क्योंकि फर्म बांडों में कम निवेश करेगी। दूसरी ओर, यदि बांडों पर ब्याज की दर बढ़ जाएगी, तो फर्म के लिए बांडों में निवेश करना अधिक लाभदायक होगा और इष्टतम नकदी शेष अपेक्षाकृत कम हो जाएंगे और विलोमशः भी।

बामोल का विश्लेषण लेन–देन की मांग के व्यवहार के प्रति एक और महत्वपूर्ण तथ्य को लक्ष्य करता है। जब कोई फर्म या व्यक्ति बड़ी संख्या में बांड खरीदता है, तो उसके पास लेन–देन शेष थोड़े रह जाते हैं और विलोमशः भी। परन्तु प्रत्येक क्रय में दलाली, डाक–व्यय इत्यादि के रूप में गैर–ब्याज लागतें पाई जाती हैं जो खरीदने वाले को देनी पड़ती हैं। इसलिए उसे बड़ी संख्या में बांड खरीदने पर होने वाले व्यय के मुकाबले कम बांड खरीदने से होने वाली आय की कमी को संतुलित करना पड़ता है। यह निर्णय बांडों पर मिलने वाली ब्याज दर पर निर्भर करता है।

ब्याज की दर जितनी ही अधिक होगी, फर्म बांड खरीदने में उतना ही अधिक खर्च खपा सकेगी। इस निर्णय को निर्धारित करने वाला एक और भी महत्वपूर्ण कारण मुद्रा की वह राशि है जो लेन–देन के लिए रखी जाती है क्योंकि बांड खरीदने और बेचने की दलाली अपेक्षाकृत स्थिर रहती है और लेन–देन की राशि की अपेक्षा अधिक नहीं बदलती। जब लेन–देन के लिए मुद्रा अधिक होगी, तो दलाली लागतें अपेक्षाकृत कम होंगी। "एक हजार डालर के बांड खरीदने पर न्यूनतम दलाली महंगी पड़ेगी। दस लाख डालर के बांड खरीदने पर दलाली नगण्य होगी। इसलिए कुल लेन–देन की राशियां जितनी ही अधिक होंगी, दलाली की लागतें उतनी ही कम होंगी, और उतने ही बार–बार इष्टतम निकास किये जाएंगे।" ऐसा नकदी प्रबन्ध अथवा मुद्रा के प्रयोग में पैमाने की बचतों के कारण होता है।

इसका मतलब है कि आय के ऊंचे स्तरों पर लेन–देन की औसत लागत अर्थात् दलाली अपेक्षाकृत कम होती है। ज्यों–ज्यों आय बढ़ती है, त्यों–त्यों मुद्रा की लेन–देन मांग भी बढ़ती जाती है पर यह वृद्धि आय में वृद्धि की अपेक्षा कम मात्रा में होती है। यदि आय चार गुणा बढ़ती है, तो इष्टतम लेनदेन शेष केवल दुगुने होते

हैं। क्योंकि बामोल मुद्रा मांग की आय–लोच ½ (आधी) मानता है, इसलिए जिस अनुपात में आय बढ़ेगी, मुद्रा की मांग उसी अनुपात में नहीं बढ़ेगी। ऐसा पैमाने की बचतों के कारण होता है। आय में वृद्धि होने के कारण जब लेन–देन में लगाई गई मुद्रा की राशि अपेक्षाकृत अधिक होती है तब पैमाने की बचतें बांडों में अधिक निवेश को प्रोत्साहन देती हैं। मुद्रा की मांग के इस स्टॉक सिद्धांत में बोमल इस बात पर भी बल देता है कि मुद्रा की मांग वास्तविक शेषों के लिए मांग होती है। क्योंकि वर्ष–भर औसत नकदी धारणों का मूल्य K/2 है, इसलिए लेन–देन के लिए वास्तविक शेषों की मांग यह होगी–

$$\frac{M_D}{P} = \frac{K}{2} = \frac{1}{2}\sqrt{\frac{2bY}{r}}$$

$$M_D = \frac{1}{2}\sqrt{\frac{2bY}{r}}P \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots (3)$$

जहां M_D मुद्रा की मांग है और P कीमत स्तर है। समीकरण (3) से पता चलता है कि लेन–देन शेषों की मांग "लेनदेनों की मात्रा के वर्गमूल के समानुपाती और ब्याज की दर के वर्गमूल के प्रतीपानुपाती होती है।" इसका मतलब है कि कीमत स्तर में परिवर्तनों और मुद्रा की लेन–देन मांग के बीच प्रत्यक्ष एवं समानुपातिक संबंध होता है। यदि फर्म के क्रय का ढांचा अपरिवर्तित रहता है, तो इष्टतम नकदी शेष (Y) ठीक उसी अनुपात में बढ़ेंगे जिस अनुपात में कीमत स्तर (P) बढ़ेगा। यदि कीमत स्तर दो गुणा हो जाएगा, तो फर्म के लेन–देन का मुद्रा मूल्य भी दो गुणा हो जाएगा। जब सब कीमतें दो गुणी हो जाएंगी, तो दलाली (b) भी दोगुनी हो जाएगी "परिणामतः निवशों और निकासों तथा उनकी दलाली लागतों से बचने के लिए अधिक नकदी शेष रखना वांछनीय होगा।" इस प्रकार के लेन–देन का मुद्रा मूल्य और दलाली बढ़ जाने से मुद्रा की इष्टतम मांग ठीक उसी अनुपात में बढ़ जाती है जिस अनुपात में कीमत स्तर बढ़ता है। इस प्रकार बामोल द्वारा प्रस्तुत वास्तविक शेषों की मांग के विश्लेषण का मतलब है कि लेन–देन के लिए मुद्रा की मांग में मुद्रा–भ्रांति नहीं है।

3.3 बामोल सिद्धान्त की श्रेष्ठता

बामोल का मुद्रा शेष की लेन–देन मांग संबंधी स्टॉक सैद्धान्तिक मत क्लासिकी तथा केन्जीय मतों से निम्न बातों में श्रेष्ठ है–

1. मुद्रा का नकदी शेष परिमाण सिद्धांत यह मान्यता लेकर चलता है कि लेन–देन मांग और आय स्तर में रेखीय एवं समानुपातिक सम्बन्ध होता है। बामोल ने स्पष्ट किया है कि यह सम्बन्ध मानना सही नहीं है। निःसन्देह यह सच है कि जब आय बढ़ती है, तो लेन–देन मांग भी बढ़ती है परन्तु नकदी प्रबन्ध में पैमाने की बचतों के कारण यह मांग आय की अपेक्षा कम अनुपात में बढ़ती है।

2. बामोल के सिद्धांत की एक श्रेष्ठता यह है कि जहां केन्ज का मत यह था कि मुद्रा की लेन–देन मांग ब्याज बेलोच होती है वहां बोमल ने सिद्ध किया है कि मुद्रा की लेन–देन मांग ब्याज लोचात्मक होती है।

3. बामोल का सिद्धांत वास्तविक शेषों के लिए लेन–देन मांग का विश्लेषण करता है, और परिणामतः मुद्रा भ्रांति के अभाव पर बल देता है।

4. बामोल का मालसूची विषयक सैद्धांतिक दृष्टिकोण क्लासिकी एवं केन्जीय दोनों ही दृष्टिकोणों से इसलिए भी श्रेष्ठ है कि यह परिसम्पत्तियों और उनकी ब्याज एवं गैर–ब्याज लागतों को ध्यान में रखकर मुद्रा की लेन–देन मांग को पूंजी–सिद्धांत में एकीकृत कर देता है।

3.4 टोबिन का निवेशसूची चयन माडल : जोखिम निवारण तरलता अधिमान सिद्धांत

जेम्ज टोबिन ने अपने "Liquidity Preference as Behaviour Towards Risk" शीर्षक प्रसिद्ध लेख में निवेशसूची चयन पर आधारित जोखिम निवारण तरलता अधिमान सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस सिद्धांत ने तरलता अधिमान के केन्जीय सिद्धांत के दो प्रमुख दोषों को दूर किया है। एक, केन्जीय तरलता अधिमान भावी ब्याज–दरों की प्रत्याशाओं की बेलोच पर निर्भर करता है, और दूसरे, व्यक्ति या तो मुद्रा रखते हैं या फिर बांड ही। टोबिन ने इन दोषों को दूर कर दिया है। उसका सिद्धांत भावी ब्याज–दरों की प्रत्याशाओं की लोच पर निर्भर नहीं करता, अपितु यह मान्यता लेकर चलता है कि ब्याज धारक परिसम्पत्तियां रखने से पूंजी लाभ अथवा हानि का प्रत्याशित मूल्य सदैव शून्य होता है। फिर, यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि किसी व्यक्ति की निवेश सूची में मुद्रा तथा बांड दोनों ही रहते हैं, यह नहीं कि एक समय में कोई एक ही रहे।

टोबिन तरलता अधिमान का अपना निवेश सूची चयन मॉडल प्रस्तुत करते हुए शुरू में ही यह मानकर चलता है कि परिसम्पत्ति धारक व्यक्ति को निवेश सूची में मुद्रा तथा बांड दोनों है। मुद्रा से उसे न तो कोई आय होती है और न ही उसे कोई जोखिम उठानी पड़ती है। परन्तु बांडों से ब्याज मिलता है और आय भी होती है। परन्तु बांडों से प्राप्त होने वाली आय अनिश्चित है क्योंकि उसमें पूंजी हानि अथवा लाभ की जोखिम सम्मिलित रहती है। बांडों में जितना अधिक निवेश होगा, उनसे पूंजी हानि की जोखिम भी उतनी ही बड़ी होगी। निवेशक यह जोखिम तभी उठा सकता है जब बांडों से पर्याप्त आय उसकी क्षतिपूर्ति करे।

यदि प्रत्याशित पूंजी लाभ या हानि g है, तो मान्यता यह है कि निवेशक इस (g) के संभाव्यता वितरण के अपने अनुमान के आधार पर कार्य करेगा और यह भी मान्यता है कि इस संभव्यता वितरण के अपने अनुमान के आधार पर कार्य करेगा और यह भी मान्यता है कि इस संभाव्यता वितरण का प्रत्याशित मूल्य शून्य है तथा बांडों पर चालू ब्याज दर r के स्तर से स्वतन्त्र है।

इसकी निवेश सूची में मुद्रा का M अनुपात और बांडों का B अनुपात रहता है, जहाँ M तथा B दोनों का योग एक है। इनका कोई मूल्य ऋणात्मक नहीं है। निवेश सूची R प्रतिफल है :

$$\mathbf{R = B\,(r + g)}$$

$$\text{जहां } \mathbf{0 \leq B \leq 1}$$

क्योंकि g यदृच्छिक चर है (random variable) है जिसका प्रत्याशित मूल्य शून्य है इसलिए निवेश सूची पर प्रतिफल है :

$$\mathbf{RE = \mu R = Br}$$

निवेश सूची से सम्बद्ध जोखिम R के मानक विचलन द्वारा मापी जाती है अर्थात टांबिन ने तीन प्रकार के निवेशकों का उल्लेख किया है। एक प्रकार के निवेशक तो वे हैं जिन्हें जोखिम उठाने में मजा आता है और वे अधिकतम जोखिम उठाने में अपना सारा धन बांडों में लगा देते हैं। बांडों से प्रत्याशित आय के बदले जोखिम उठाते हैं। वे जुआरियों जैसे होते हैं। दूसरा वर्ग गोताखोरों का है। वे या तो अपना सारा धन बांडों में लगा देते हैं या उसे नकदी के रूप में रखते हैं। ये गोताखार प्रवृत्ति के लोग या तो सब कुछ दांव पर लगा देते हैं, या बिल्कुल जोखिम नहीं उठाते।

परन्तु अधिकांश निवेशक तीसरे वर्ग के ही होते हैं। वे जोखिम निवारक अथवा विविधक होते हैं। जोखिम निवारक हानि की उस जोखिम से बचना चाहते हैं जो मुद्रा की बजाय बांड रखने से सम्बन्धित रहती है। वे केवल उस अवस्था में अतिरिक्त जोखिम उठाने को तैयार होते हैं जब उन्हें यह आशा हो कि बांडों पर कुछ अतिरिक्त प्रतिफल (आय) प्राप्त होगी, बशर्ते कि जो व्यक्ति अधिक जोखिम उठाते हैं वह अपने साथ

प्रतिफल आय में अधिक वृद्धियां लाता हो। इसलिए वे अपनी निवेश सूची को विविध बनाएंगे और मुद्रा तथा नकदी दोनों रखेंगे। यद्यपि मुद्रा रखने से न तो कोई प्रतिफल प्राप्त होता है और न ही कोई जोखिम, फिर भी यह परिसम्पत्तियों का सर्वाधिक तरल रूप है जिसे कभी भी बांड खरीदने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। जोखिम निवारक के जोखिम तथा प्रत्याशित प्रतिफल में अधिमान का पता नगाने के लिए, टोबिन धनात्मक ढलान वाले उदासीनता वक्रों का प्रयोग करता है, जो प्रकट करते हैं कि जोखिम निवारक अधिक जोखिम उठाने के लिए और अधिक प्रत्याशित प्रतिफलों की मांग करता है। इसे चित्र 2 में दिखाया गया है जिसमें क्षैतिज अक्ष जोखिम **(σR)** को तथा अनुलम्ब अक्ष प्रत्याशित प्रतिफलों **(σμR)** को मापता है। OR रेखा जोखिम निवारक की बजट रेखा है। यह जोखिम और प्रत्याशित प्रतिफल के उन संयोगों को व्यक्त करती है जिनके आधार पर वह अपने धन की निवेशसूची को मुद्रा और बांडों में लगाता है। I_1 तथा I_2 उदासीनता वक्र हैं। उदासीनता वक्र बताता है कि वह प्रत्याशित फल और जोखिम के उन सभी संयोगों के प्रति उदासीन है जो I_1 वक्र पर स्थित हैं। I_1 वक्र पर स्थित बिंदुओं की अपेक्षा वह I_2 पर स्थित बिन्दुओं को अधिक अधिमान देता है। परन्तु जोखिम निवारक को प्रत्याशित प्रतिफल के बीच संतुलन की स्थिति वहां उपलब्ध होगी जहां उसकी बजट रेखा उदासीनता वक्र को स्पर्श करेगी। बजट रेखा और वक्र I_1 पर ऐसा बिन्दु T है।

चित्र के निचले भाग में अनुलम्ब वक्र की लम्बाई उस सम्पत्ति को प्रकट करती है जिसे जोखिम निवारक अपनी निवेशसूची को मुद्रा एवं बांडों में रखता है। OC रेखा जोखिम को बांडों में रखी कुल निवेशसूची के भाग के अनुपात के रूप में व्यक्त करती है। इस प्रकार बिन्दु T से लम्ब के रूप में खींची गई इस रेखा पर बिन्दु E मुद्रा तथा बांडों का निवेश सूची मिश्रित निर्धारित करता है। इसमें OP बांड तथा PW मुद्रा है।

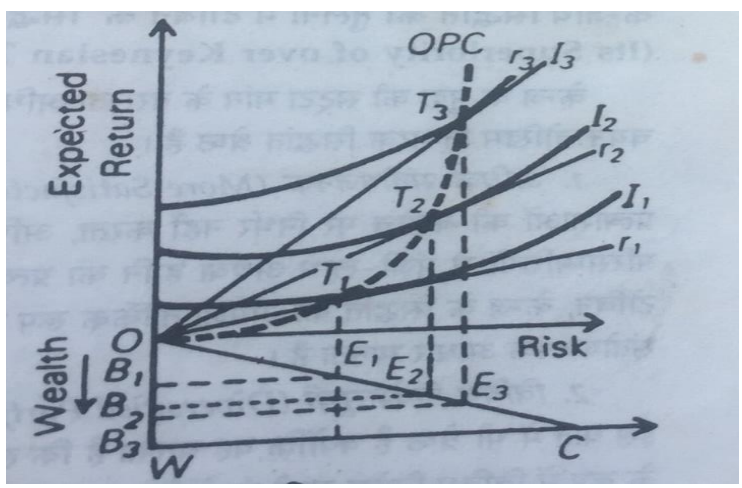

इस प्रकार जोखिम निवारक अपने कुल धन OW
को कुछ बांडों में और कुछ नकदी के रूप में रखकर अपने कुल धन को विविध करता है। यही कारण है कि उसे विविधक कहा जाता है। वह तब तक अधिक जोखिम उठाने को तैयार नहीं होता जब तक उसे अधिक प्रत्याशित प्रतिफल की आशा न हो। पर, जोखिम निवारक मन–ही–मन तरलता को अधिमान देता है जिसे केवल अधिक ऊंची ब्याज दरों से दूर किया जा सकता है। ब्याज की दर जितनी ऊंची होगी, मुद्रा की मांग उतनी ही कम होगी, परिणामतः बांड रखने की प्रेरणा उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत, ब्याज की दर जितनी कम होगी, मुद्रा की मांग उतनी ही अधिक होगी, और परिणामतः बांड रखने की इच्छा उतनी ही कम होगी। इसे चित्र 3 में दिखाया गया है। जब ब्याज की दर बढ़ती है तो बजट रेखा की ढलान बढ़ती है। इसे बजट रेखा r_1 द्वारा दिखाया गया है जो घूमती हुई ऊपर की ओर r_2 तथा r_3 पर पहुंचती है। परिणामतः ब्याज दर में वृद्धि के साथ जोखिम के अनुपात में प्रतिफल बढ़ते जाते हैं और बजट रेखा अधिक ऊंचे उदासीनता वक्रों को स्पर्श करती चलती है।

चित्र 3 में r_1, r_2 और r_3 रेखाएं I_1, I_2, I_3 वक्रों पर क्रमशः T_1, T_2, T_3 बिन्दुओं पर स्पर्श करती हैं। ये बिन्दु चित्र में इष्टतम निवेश सूची वक्र को OPC अनुरेखित करती है, जो बताता है कि ज्यों–ज्यों स्पर्श बिन्दु बाईं ओर से दाईं ओर ऊपर को बढ़ते हैं, त्यों–त्यों प्रत्याशित प्रतिफल और जोखिम बढ़ते जाते हैं।

ये स्पर्श बिन्दु जोखिम निवारक के निवेश–सूची चलन को भी निर्धारित करते हैं, जैसा कि चित्र 3 के निचले भाग में दिखाया गया है। जब ब्याज दर r_1 है तो वे OB_1 बांड तथा B_1W मुद्रा रखते हैं। ज्यों–ज्यों ब्याज की दर r_1 से बढ़कर r_2 और r_3 होती जाती है त्यों–त्यों जोखिम निवारक अपनी निवेश सूची में क्रमशः अधिक बांड OB_2 और OB_3 मुद्रा रखते चलते हैं और मुद्रा को घटाकर B_2W तथा B_3W कर देते हैं। चित्र यह भी प्रदर्शित करता है कि जब ब्याज की दर में समान मात्राओं में r_1 से r_2 से r_3 तक वृद्धि होती है तो जोखिम निवारक घटती मात्राओं में बांड रखते हैं। $B_2B_3 < B_2B_1 < OB_1$। इसका यह अर्थ भी है जब ब्याज की दर बढ़ती है तो मुद्रा की मांग अपेक्षाकृत कम मात्रा में घटती है। इसका कारण यह है कि निवेश सूची में कुल सम्पत्ति के अन्तर्गत बांड तथा मुद्रा होती है।

इस प्रकार चित्र 3 के आधार पर मुद्रा का मांग वक्र खींचा जा सकता है। इसे चित्र 3 में वक्र L_s के रूप में व्यक्त किया गया है। वक्र बताता है कि ब्याज की दर ऊंचे स्तर से गिरती है, तो मुद्रा की मांग में अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, जब ब्याज की दर r_{10} से गिरकर r_8 हो जाती है तो मुद्रा की मांग में AB वृद्धि होती है जो OA से कम है। इसका कारण यह है कि जोखिम निवारक मुद्रा की अपेक्षा बांड अधिक रखना चाहता है। परन्तु जब नीचे के स्तर पर ब्याज की दर गिरती है जैसे r_4 से गिर कर r_2 हो जाती है, तो मुद्रा की मांग में बहुत अधिक वृद्धि होती है। चित्र 4 में यह वृद्धि CD है। यह मुद्रा का मांग वक्र मुद्रा की समस्त मांग से नही अपितु मुद्रा की सट्टा मांग से सम्बन्ध रखता है।

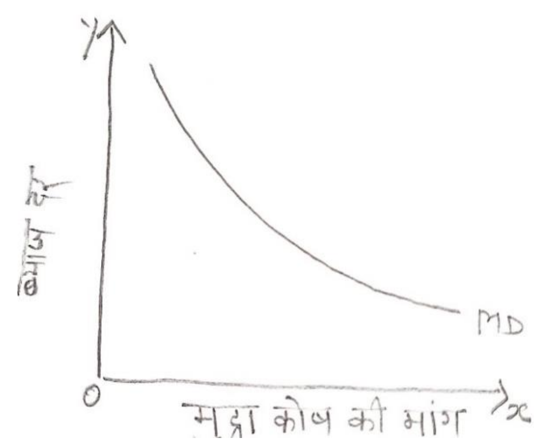

चित्र 4

3.5 सारांश

केन्ज के मुद्रा की सट्टा मांग के तरलता अधिमान सिद्धांत की तुलना में टोबिन का निवेश सूची चयन जोखिम निवारक सिद्धांत श्रेष्ठ है।

1. टोबिन का सिद्धांत भावी ब्याज दरों की प्रत्याशाओं की बेलोच पर निर्भर नहीं करता, अपितु यह मान्यता लेकर चलता है कि ब्याज धारक परिसम्पत्तियों से पूंजी–लाभ अथवा हानि का प्रत्याशित मूल्य हमेशा शून्य होता है। इस सम्बन्ध में टोबिन, केन्ज के सिद्धांत की अपेक्षा तार्किक रूप से अपने सिद्धांत को तरलता अधिमान का अधिक संतोषजनक आधार मानता है।

2. केन्ज के सिद्धांत की अपेक्षा यह सिद्धांत इस बात में भी श्रेष्ठ है क्योंकि यह बताता है कि लोग केवल बांड या मुद्रा की बजाय बांडों तथा मुद्रा के रूप में विविध निवेश सूची रखते हैं।

3. केन्ज की भांति टोबिन भी मानता है कि मुद्रा की मांग ब्याज दरों पर गहन रूप से निर्भर है और ब्याज दरों से उलट तौर से सम्बन्धित है। परन्तु वह बहुत नीची दरों पर मुद्रा की मांग की पूर्ण लोचदार तरलता पाश की चर्चा नहीं करता, और इस दृष्टि से वह केन्ज की तुलना में अधिक यथार्थवादी है।
4. निवेश सूची सिद्धांत का वास्तविक महत्व "इस बात में नहीं है कि यह प्रत्यक्ष रूप से समस्त अर्थव्यवस्था के बारे में बताता है बल्कि इस बात में है कि यह अनिर्”चतता की स्थिति में रहते मुद्रा की मांग से सम्बन्धित समस्या के विषय में रोचक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और संभवतः भविष्य में इस दृष्टिकोण के विकास की पर्याप्त गुंजाइश है।"

3.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा मांग के बामोल के मालसूची सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा के मांग के सन्दर्भ में टॉबिन के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

3.7 शब्दावली

नगद निकासी	:	Cash Withdraw
माल सूची	:	Inventory
मुद्रा भ्रांति	:	Money Illusion
लेन–देन	:	Transaction
जोखिम निवारक	:	Risk Averters
मानक विचलन	:	Standard Deviation
निवेश सूची	:	Portfolio

3.6 संदर्भ सूची

K. K. Kurihara	:	An Introduction to Keynesian Dynamics, Chap, 4.
Dudley Dillard	:	Economics of John Maynard Keynes, Chap, 8.
A. H. Hansen	:	A Guide to Keynes, Chap, 6
A. H. Hansen	:	Monetary Theory and Fiscal Policy, Chap. 4
J. M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol, 1

इकाई–4 मुद्रा मांग की मिल्टन फ्रीडमैन की अवधारणा

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 फ्रीडमैन के सिद्धान्त की व्याख्या

4.3 फ्रीडमैन के सिद्धान्त की आलोचना

4.4 सारांश

4.5 बोध प्रश्न

4.6 शब्दावली

4.7 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाओं ने विशेष रूप से 1929 की आर्थिक मंदी के बाद उसे महत्वहीन बना दिया तथा आलोचकों ने यह मत व्यक्त किया कि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त एवं मूल्य स्तर में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। 1936 में कीन्स की महत्वपूर्ण पुस्तक 'जनरल थ्योरी' प्रकाशित हुई जिसमें कीन्स ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आलोचना की और यह मत व्यक्त किया कि मुद्रा की पूर्ति, उत्पादन तथा मूल्य स्तर में कोई सीधा सम्बंध नहीं है। किन्तु 1956 में मिल्टन फ्रीडमैन ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को पुनर्स्थापित किया। इस इकाई के अध्ययन का मुख उद्देश्य फ्रीडमैन के द्वारा मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के स्पष्टीकरण को जानना है।

4.1 प्रस्तावना

प्रो० जे० एम० कीन्स की सन् 1936 में एक जनरल थ्योरी का प्रकाशन हुआ था। इस थ्योरी में उनके द्वारा प्रतिपादित मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कटु आलोचनायें की गयी। कीन्स के अनुसार मुद्रा परिमाण सिद्धान्त, जिसमें मूल्य स्तर को ही परिवर्ती मानकर माँग को निर्धारित करने का साधन बताया गया और जिनकी गतिविधियाँ मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तनों पर निर्भर ठहराई गयीं, असत्य था। कीन्स के अनुसार, मुद्रा की माँग मूल्य स्तर पर निर्भर न होकर मुद्रा की तरलता के सिद्धांत के अनुसार ब्याज दर पर निर्भर रहती है। कीन्स की जनरल थ्योरी में की गई आलोचनाओं के आधार पर मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया था।

सन् 1956 में मिल्टन फ्रीडमैन ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को एक नये रूप में प्रस्तुत किया तब से इस सिद्धान्त को विस्तृत रूप में समर्थन प्राप्त हुआ। फ्रीडमैन इस बात से सहमत है कि जनता की मुद्रा के परिमाण के लिये माँग वस्तुओं की कीमतों के साथ प्रत्यक्ष रूप में और मूल्यों के परिवर्तनों के अनुपात में ही घटती–बढ़ती है अर्थात् यदि कीमतों में 35% की कमी या वृद्धि होगी तो मुद्रा की माँग में भी 35% की ही कमी या वृद्धि होगी। उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया है कि वास्तविक आय मुद्रा की मांग को निर्धारित करने का एक साधन है, किन्तु वे इस तथ्य से सहमत नहीं हैं कि मुद्रा की माँग आय के साथ एकिक रूप में लोचदार है। उनका कहना है कि आय की लोच इकाई से अधिक है अर्थात् मुद्रा की जो मात्रा व्यक्ति अपने पास रखना चाहते हैं वह उनकी आय के अनुपात से अधिक बढ़ती है या अधिक घटती है। यदि आय 40% बढ़ती है तो मुद्रा को रखने की माँग 40% से अधिक बढ़ेगी। मिल्टन फ्रीडमैन मुद्रा को एक विलासिता की वस्तु मानते हैं।

फ्रीडमैन पीगू के इस तर्क से सहमत हैं कि जनता के लिये मुद्रा अन्य सम्पत्तियों में से एक है, जिसे उसकी सेवाओं के कारण व्यक्ति अपने पास रखते हैं।

4.2 फ्रीडमैन के सिद्धान्त की व्याख्या

फ्रीडमैन इस सिद्धांत की पूर्ण व्याख्या से आगे जाते हैं, जिसके अनुसार मुद्रा की माँग कीमत और आय के स्तर द्वारा निर्धारित होती है। फ्रीडमैन कीमत एवं आय स्तर के साथ–साथ एक और घटक को शामिल करते हैं और वह घटक है– मुद्रा को नकद रूप में रखने की लागत। इस लागत के दो स्वरूप हैं– (1) ब्याज की वह राशि जो मुद्रा को अपने पास रखने के बजाय उसे ऋण के रूप में उधार देने को मिल सकती थी, तथा (2) कीमत स्तर में वृद्धि होने से मुद्रा को व्यय करने के बजाय व्यक्ति अपने पास रखते हैं उसकी क्रय शक्ति कम घटती है। इस प्रकार मुद्रा को नकद रूप में रखने की लागत हमें दो रूपें में चुकानी होती है, एक तो ब्याज को खोकर तथा दूसरे मुद्रा की क्रय शक्ति खोकर। उपरोक्त दोनों लागतों में जैसे–जैसे वृद्धि होती है, वैसे–वैसे व्यक्ति की मुद्रा की नकद रूप में रखने की इच्छा कम होती जाती है। इसके विपरीत, इन लागतों में कमी होने पर मुद्रा को नकद रूप में अपने पास रखने की इच्छा में वृद्धि होती जाती है अर्थात् दोनों लागतों के घटने पर व्यक्ति मुद्रा की अधिक मात्रा अपने पास रखेंगे तथा वृद्धि होने पर व्यक्ति मुद्रा की कम मात्रा अपने पास रखेंगे। इस प्रकार मुद्रा की माँग एवं उसकी लागत में विपरीत सम्बन्ध रहता है।

इस प्रकार मुद्रा की माँग में चार निर्धारक तत्व फ्रीडमैन ने बताये हैं, जो इस प्रकार हैं–

(1) **मूल्यों का स्तर**– मूल्यों के स्तर एवं मुद्रा की माँग में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् मूल्यों का स्तर बढ़ जाने पर मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है तथा मूल्य स्तर में कमी आने पर मुद्रा की माँग में कमी आ जाती है।

(2) **वास्तविक आय एवं उत्पादन का स्तर**– वास्तविक आय एवं उत्पादन के स्तर में वृद्धि होने पर मुद्रा की माँग में वृद्धि होती है तथा इनमें कमी होने पर मुद्रा की माँग में कमी होती है।

(3) **ब्याज दर**– ब्याज दर एवं मुद्रा की माँग में विपरीत सम्बन्ध होता है। ब्याज दर में वृद्धि होने के साथ मुद्रा की माँग की माँग में कमी आती है तथा ब्याज की दर में कमी होने पर मुद्रा की माँग में वृद्धि होती है।

(4) **मूल्य स्तर में वृद्धि की दर**– मूल्य स्तर में वृद्धि से मुद्रा की क्रय–शक्ति घटने लगती है जिस कारण से व्यक्ति मुद्रा को अपने पास नहीं रखना चाहते हैं, जिससे मुद्रा की माँग में कमी आती है तथा मूल्य स्तर में कमी आने से मुद्रा की क्रय–शक्ति में वृद्धि होती है जिससे व्यक्ति मुद्रा को अपने रखना चाहता है। परिणामस्वरूप मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है।

फ्रीडमैन का माँग फलन (Demand Function)-

विवेचन से स्पष्ट है कि फ्रीडमैन के अनुसार, मुद्रा की माँग मुख्य रूप से पूँजी सिद्धान्त की ही एक समस्या है। इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने एक क्रमबद्ध गणितीय समीकरणों की सहायता से माँग फलन का विश्लेषण किया है। इन समीकरणों में कुछ आर्थिक मान्यताओं का सहारा लिया है तथा जिन चर राशियों का माप सम्भव नहीं है उनके अनुमानित मान का प्रयोग किया है। सरल रूप में माँग फलन निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है–

$$\boldsymbol{M = \left(p, y, \frac{1}{p}, \frac{dp}{dt}, rb, re, w, u\right)}$$

जहाँ M = मुद्रा की कुल माँग

P = सामान्य मूल्य स्तर

y = कुल आय प्रवाह

$\frac{1}{p}, \frac{dp}{dt}$ = मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण प्राप्त होने वाला प्रतिफल जो वास्तविक परिसम्पत्ति प्रति मुद्रा के रूप में प्राप्त होता है।

rb = बाण्ड पर ब्याज की बाजार दर

rc = शेयर तथा प्रतिभूतियों पर बाजार की ब्याज दर

w = मानवीय तथा गैर मानवीय धन का अनुपात

u = तुष्टिगुण को निर्धारित करने वाले कारक जो रुचि एवं अधिमानों को प्रभावित करते हैं।

इस सूत्र की सहायता से फ्रीडमैन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मुद्रा की माँग P तथा Y का फलन है। निम्न रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है–

$$\lambda M = f\left(\lambda P, \lambda Y, \frac{1}{p}, \frac{dp}{bt}, rb, re, w, u\right)$$

यदि $\mathbf{d} = \frac{1}{p}$ हो तब

$$\frac{M}{P} = f\left(\frac{Y}{P}, \frac{1}{p}, \frac{dp}{dt}, rb, re, w, u\right)$$

इस प्रकार यह समीकरण यह दर्शाता है कि मुद्रा की माँग वास्तविक कोष (Real Balances) की माँग है जो वास्तविक धटकों का फलन है और मौद्रिक मूल्यों से स्वतन्त्र है।

उनके मतानुसार मुद्रा की माँग पर ब्याज दर का क्रमबद्ध प्रभाव तो पड़ता है लेकिन इसका प्रभाव बहुत अल्प होता है। मूल्य स्तर की वृद्धि का सामान्य काल में कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। इसलिये उनका कहना है कि मुद्रा को रखने की लागत के कम होने का मुद्रा की माँग पर अल्प प्रभाव होता है, अर्थात् ये तत्व मुद्रा की माँग के निर्धारण में आर्थिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

4.3 फ्रीडमैन के सिद्धान्त की आलोचना

फ्रीडमैन के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें इस प्रकार हैं–

(1) **मुद्रा एक विलासिता की वस्तु ह, यह विचार भ्रामक है**– फ्रीडमैन का सिद्धांत उनके द्वारा दी गई परिभाषा पर आधारित है। इन्होंने अपनी मुद्रा की परिभाषा में काल निक्षेप की भी सम्मिलित किया है। इस सिद्धान्त में उन्होंने यह बताया है कि मुद्रा एक विलासिता की वस्तु है। आलोचकों ने उनके इस कथन की आलोचना करते हुए बताया कि यदि मुद्रा की परम्परागत परिभाषा को लिया जाये एवं उसमें काल निक्षेप को सम्मिलित नहीं किया जाये तो मुद्रा को माँग की आय सम्बन्धित लोच 1.8 प्रतिशत या 2 प्रतिशत न होकर एकिक लोच के निकट या कम होगी। इसका तात्पर्य यह है कि करेन्सी एवं माँग निक्षेप रूपी मुद्रा अर्थात विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा विलासिता की वस्तु नहीं है।

(2) **मुद्रा की विस्तृत परिभाषा**– फ्रीडमैन ने मुद्रा की एक अति विस्तृत परिभाषा दी है। विस्तृत परिभाषा के कारण ब्याज की दर में होने वाले परिवर्तनों का मुद्रा की माँग पर पड़ने वाला प्रभाव बहुत कम हो जाता है। करेन्सी एवं माँग ऐसी परिसम्पत्ति है जिनसे प्रत्यक्ष या स्पष्ट रूप से कोई आय नहीं होती है। वैकल्पिक सम्पत्तियों पर ब्याज उनके लिये सुयोग्य लागत है, किन्तु काल निक्षेप पर ब्याज मिलता है, इसलिये उन पर ब्याज दर सुयोग लागत नहीं है। यह लागत नहीं वरन् आय है। इसलिये ब्याज दर में

वृद्धि हो जाने पर करेन्सी एवं माँग निक्षेप की माँग घटती है, किन्तु काल निक्षेप की माँग में सामान्यतया वृद्धि होती है। यदि काल निक्षेप की वृद्धि एवं माँग निक्षेप की कमी को जोड़ दिया जाये तो इन दोनों क्षेत्र की कमी अकेले करेन्सी एवं माँग निक्षेप में होने वाली कमी से कम रहेगी। इसीलिये फ्रीडमैन के अनुसार, ब्याज दर का मुद्रा की माँग पर प्रभाव कम होता है, किन्तु मुद्रा की परम्परागत परिभाषाओं के अनुसार ब्याज दर में परिवर्तनों का मुद्रा की माँग पर भारी प्रभाव होगा।

उपरोक्त आलोचना के बावजूद भी फ्रीडमैन मुद्रा की परिभाषा में करेन्सी एवं माँग निक्षेप के अतिरिक्त काल निक्षेपों को सम्मिलित करते हैं। शायद फ्रीडमैन को विश्वास है कि राष्ट्र के उत्पादन का सम्बन्ध विस्तृत रूप में परिभाषित मुद्रा के अधिक निकटतम है। इसीलिये आर्थिक स्थायित्व लाने हेतु करेन्सी तथा बैंकों के काल एवं माँग निक्षेप पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।

मान लो कि देश में मुद्रा का सन्तुलन है। अब किसी कारण केन्द्रीय बैंक खुले बाजारों में प्रतिभूतियाँ खरीदती है, इससे मुद्रा पूर्ति बढ़ेगी, बैंक का कोष बढ़ जायेगा फलस्वरूप बैंक ऋण देकर धन का विनियोजन करके लाभ कमाना चाहेगा। इस प्रक्रिया से माँग निक्षेपों का निर्माण होगा। यह प्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक कि बैंक कोष की सीमा पूर्वानुसार घट जाये।

इस पर भी आवश्यक नहीं कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा सन्तुलन में आ जाये, क्योंकि जिन लोगों ने प्रतिभूतियाँ बेची हैं उन्होंने लाभ कमाया है, अतः जो धन उन्हें प्रतिभूतियों को बेचकर प्राप्त हुआ है उसका वे विनियोग करके अधिक लाभ कमाना चाहेंगे। इससे सभी प्रकार की सम्पत्ति की कीमतें बढेंगी, उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ेगे, उत्पादक अपना उत्पादन बढ़ायेंगे। इस प्रकार से मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि कीमतों की वृद्धि द्वारा वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करेगी।

मुद्रा की इस प्रक्रिया का अन्त तब होगा जबकि सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। फ्रीडमैन के अनुसार, जब मुद्रा की माँग की मूल्य स्तर पर लोच एकाकी है और स्थायी आय की लोच 1.8 है। ऐसी स्थिति में मुद्रा की पूर्ति में 1 प्रतिशत वृद्धि होने से मूल्य स्तर में 1 प्रतिशत की वृद्धि होगी। यदि आय लगातार हो तो मूल्य लगातार या अचर रहने पर स्थायी आय में 5/9 प्रतिशत होगी या ऐसा ही कोई अन्य सम्मिलित हो तब मुद्रा की माँग 1 प्रतिशत बढ़ेगी और मुद्रा सन्तुलन स्थापित होगा।

4.4 सारांश

फ्रीडमैन ने अर्थशास्त्र के अध्ययन से दो सामान्यानुमान (Generalisations) प्रस्तुत किये हैं–

(1) कीमतों एवं आयों में परिवर्तन के साथ मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन होता है और मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन के साथ मूल्य तथा आयों में भी परिवर्तन होते हैं।

(2) मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन कीमतों और आय के परिर्वनों से मुक्त होते हैं।

इसके आधार पर फ्रीडमैन ने यह परिणाम निकाला है कि यह प्रभाव मुद्रा पूर्ति से मुद्रा आय पर होता है। मुद्रा पूर्ति की वृद्धि दर में परिवर्तन होने पर ही कीमतों और आय की वृद्धि दर में परिवर्तन होते हैं, अतः यह निष्कर्ष निकाला कि भारी उतार–चढ़ावों में मुद्रा का महत्व ही नहीं है, बल्कि मुद्रा पूर्ति में भारी परिवर्तन द्वारा ही अर्थव्यवस्था में भारी परिवर्तन होते हैं। कुछ अर्थशास्त्री इस विचार को नहीं मानते हैं, अतः फ्रीडमैन के विचार विवादास्पद हैं।

4.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मिल्टन फ्रीडमैन के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

4.6 शब्दावली

मुद्रा की मांग	:	Demand for Money
इक्विटी	:	Equities
मानवीय सम्पदा	:	Human Resource
बॉण्ड	:	Bonds
चालू जमा	:	Current Deposite
सावधि जमा	:	Time Deposite

4.7 सन्दर्भ सूची

फिशर	:	The Purchasing Power of Money
Crowther	:	An Outline of Money, Chap III-IV
Chandler	:	Introduction to Monetary Theory, Chaps, 1-4.
Halm	:	Monetary Theory, Chap. II
Hansen	:	Monetary Theory and Fiscal Policy, Chaps. 3, 6, 9
Klein	:	The Keynesian Revolution

खण्ड–4

इकाई–1 स्फीति : आशय, कारण एवं प्रभाव

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 मुद्रा प्रसार के रूप
1.3 मुद्रा स्फीति के कारण
1.4 मुद्रा स्फीति का प्रभाव
1.5 मुद्रा स्फीति की रोकथाम के उपाय
1.6 मुद्रा संकुचन का अर्थ
1.7 मुद्रा संकुचन के कारण
1.8 मुद्रा संकुचन के प्रभाव
1.9 मुद्रा संकुचन को रोकने के उपाय
1.10 मुद्रा स्फीति एवं मुद्रा संकुचन में अंतर
1.11 संस्फीति
1.12 अपस्फीति
1.13 सारांश
1.14 बोध प्रश्न
1.15 शब्दावली
1.16 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओं के तुलना में अधिक स्थिर होता है तभी यह मूल्य संचय का काम करती है। किन्तु इस मूलभूत विशेषता के बावजूद इसके मूल्य में कभी–कभी परिवर्तन होने रहते हैं। इसके मूल्य में परिवर्तन के कारण वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य में भी परिवर्तन होते हैं। मुद्रा के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों का जो प्रभाव अर्थव्यवस्था और उसके अंगों पर पड़ता है। उसका अध्ययन करना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है जैसे मुद्रा स्फीति, विस्फीति संस्फीति और अपस्फीति के रूप में अध्ययन किया जा रहा है।

मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा पसार (Inflation)-

1.1 प्रस्तावना

मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा–स्फीति की परिभाषा भिन्न–भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न–भिन्न प्रकार में की है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं– चैम्बरलिन के 20वीं शताब्दी शब्दकोष के

अनुसार "स्फीति उस स्थिति को कहते हैं, जिसमें मुद्रा अथवा साख मुद्रा अथवा दोनों ही की मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा की तुलना में अचानक तीव्र वृद्धि हो जाती है। स्फीति हमेशा मूल्य स्तर में वृद्धि उत्पन्न कर देती है।"

क्राउथर के अनुसार– "मुद्रा प्रसार वह अवस्था है जिसमें मुद्रा की मूल्य गिरता है और पदार्थों के मूल्य बढ़ते हैं।"

क्रेमरर के अनुसार–"मुद्रा प्रसार की अवस्था उस समय विद्यमान होती है, जबकि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा बहुत कम हो।"

प्रो० पीगू के अनुसार – "मुद्रा–स्फीति की अवस्था उस समय उत्पन्न होती है, जब मौद्रिक आय उत्पादक तत्वों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही हो।"

ग्रेगरी के अनुसार – "मुद्रा–स्फीति मुद्रा की मात्रा में असाधारण वृद्धि है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा प्रसार की स्थिति में अर्थव्यवस्था के मूल्यों में वृद्धि होती है तथा विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में भिन्न–भिन्न मात्रा होने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में असुन्तलन उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि मुद्रा प्रसार का सम्बन्ध साधारणतया मूल्य स्तर में वृद्धि से होता है, परन्तु प्रत्येक वृद्धि को वास्तविक मुद्रा–स्फीति को स्थिति का सूचक नहीं माना जा सकता।"

1.2 मुद्रा स्फीति के प्रकार

मुद्रा प्रसार मुख्यतः जिन कारणों से होता है, उनके आधार पर उसके निम्नलिखित भेद हैं–

1. **चलन स्फीति (Currency Inflation)-** जब किसी देश की सरकार आर्थिक संकट काल में वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जान–बूझकर अधिक मात्रा में पत्र मुद्रायें छाप देती है तो इसे चलन स्फीति कहते हैं।

2. **पूर्व तथा आंशिक स्फीति (Full and Semi- Inflation)-** स्फीति में इस प्रकार का भेद पो. पीगू ने किया है। अर्थव्यवस्था में पूर्ण स्फीति की अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् मूल्य स्तर में वृद्धि होती है जब पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करने से पहले मूल्य की वृद्धि को हम पूर्ण स्फीति न कहकर केवल आंशिक स्फीति (Partial Inflation) कहेंगे, क्योंकि जब तक देश में पूर्ण रोजगार की अवस्था उत्पन्न नहीं होती उस समय तक मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण मूल्यों में वृद्धि होने के अतिरिक्त उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि हो पायेगी।

3. **वस्तु स्फीति (Commodity Inflation)-** उत्पादन और मुद्रा के परिमाण में होने वाले असन्तुलन द्वारा उत्पन्न मुद्रा–स्फीति को लार्ड कीन्स ने वस्तु स्फीति कहा है।

4. **लाभ स्फीति (Profit Infiation)-** अनेक बार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उत्पादन व्यय घट जाता है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों में गिरावट की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु सरकार कृ त्रिम उपायों से मूल्यों में स्थिरता रखने के लिये प्रयत्न करती है, तब इस अवस्था को कीन्स ने लाभ स्फीति की दशा कहा है।

5. **साख स्फीति (Credit Inflation)-** कभी–कभी सरकार वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये साख में विस्तार को भी प्रोत्साहित करती है। इस साख के कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे– ऋण का भार कम करने के लिये, देश की विकास योजनाओं को पूर्ण करने के लिये अथवा उत्पादन की गति को तीव्र करने के लिये। अतः जब धातु मुद्रा तथा पत्र मुद्रा की मात्रा यथा स्थिर रहते हुए साख मुद्रा का विस्तार हो जाता है तब इसे साख स्फीति की अवस्था कहते हैं।

6. **अति स्फीति (Hyper Inflation)-** अति स्फीति उस समय उत्पन्न होती है जब सरकार अत्यधिक पत्र मुद्रा निर्गमन की नीति का अवलम्बन कर लेती है और जिसके कारण मूल्य स्तर में बेहिसाब वृद्धि हो जाती है तब बढ़ी हुई कीमतों पर वस्तुयें खरीदने के लिये सरकार को पहले से अधिक मात्रा में पत्र मुद्रा का प्रकाशन करना पड़ता है जिससे कीमत स्तर में और भी वृद्धि हो जाती है। अतः जब किसी देश में मुद्रा की मात्रा में तनिक सी वृद्धि होते ही कीमतों में कई गुना वृद्धि हो जाती है तब मुद्रा–स्फीति की इस अवस्था को अति स्फीति (Hyper Inflation), अतिरिक्त स्फीति (Super Inflation) या सरपट दौड़ने वाली स्फीति (Galloping Inflation) कहते हैं।

7. **रेंगती स्फीति (Creeping Inflation)-** यह स्फीति उस समय उत्पन्न होती है, जब मूल्य स्तर में शनैः–शनैः वृद्धि होती है। इस प्रकार की स्फीति समाज के लिये विशेष घातक नहीं होती।

8. **चलता हुआ मुद्रा प्रसार (Walking Inflation)-** चलता हुआ मुद्रा प्रसार तथा रेंगते हुए मुद्रा प्रसार में सिर्फ एक अंश का अन्तर है। इस प्रकार में रेंगते हुए मुद्रा प्रसार की तुलना में कीमतों में तेजी के साथ वृद्धि होती है।

9. **दौड़ता हुआ मुद्रा प्रसार (Running Inflation)-** इसके अन्तर्गत कीमतें अधिक तीव्र गति से बढ़ने लगती हैं, जिसके कारण आर्थिक ढाँचा अस्त–व्यस्त हो जाता है।

10. **वेतन प्रोत्साहित स्फीति (Wage Induced Inflation)-** इस प्रकार की अवस्था तब उत्पन्न होती है जब श्रमिक संघों के दबाव के कारण श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि की जाती है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ जाती है और कीमतें भी ऊँची हो जाती हैं। इस प्रकार के मुद्रा प्रसार को 'वेतन प्रोत्साहित प्रसार' कहते हैं।

11. **स्वतन्त्र मुद्रा प्रसार (Open Inflation)-** जब किसी देश में मुद्रा प्रसार होते हुये भी सरकार उसको रोकने का प्रयत्न नहीं करती है और देश के निवासी मनमाने ढंग से अपनी मौद्रिक आय को व्यय करते हैं तो धीरे–धीरे उस देश में भयंकर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्फीति को खुली हुई स्फीति या निष्कंटक स्फीति कहते हैं।

12. **नियन्त्रित स्फीति (Suppressed Inflation)-** जब मुद्रा प्रसार के परिणामस्वरूप देश की जनता की आय में वृद्धि हो जाती है, परन्तु सरकार उनकी मौद्रिक आय (Money Income) को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय नहीं करने देती है तो ऐसी अवस्था को शमन या छिपी हुई नियन्त्रित स्फीति कहते हैं।

13. **उत्पादन मुद्रा–स्फीति (Production Inflation)-** उत्पादन मुद्रा प्रसार की स्फीति तब उत्पन्न होती है जब देश में मुद्रा की मात्रा और साख की मात्रा में कोई वृद्धि न हो तो उत्पादन कम हो जाये। ऐसी दशा में कीमतों में वृद्धि हो जाती है।

14. **घाटा प्रोत्साहित स्फीति (Deficit Induced Inflation)-** ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब सरकार अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय करती है। इस प्रकार बजट को पूरा करने के लिये जो मुद्रा प्रसार किया जाता है, उसे घाटा प्रेरित कहते हैं।

1.3 मुद्रा स्फीति के कारण

मुद्रा प्रसार मुख्यतः दो कारणों से होता है–

(1) मुद्रा की मात्रा में आवश्यकता से अधिक वृद्धि होने से।

(2) उत्पादन की कमी के कारण।

1. **मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण-** मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है। वह स्वतन्त्र रूप से नही होती है अपितु अनेक कारण इसे प्रभावित करते हैं। देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि निम्न प्रकार से होती है–

   (I) सरकारी नीति (Government Policy)- मुद्रा स्फीति का प्रमुख कारण सरकार की अर्थ नीति होती है। अनेक बार जानबूझ कर चलन की मात्रा वृद्धि कर तथा साख मुद्रा का विस्तार कर मूल्यों में वृद्धि करती है। युद्ध काल में सरकार को अक्सर ऐसा करना पड़ता है।

   (II) हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing)– कभी–कभी सरकार को अपने घाटे के बजट को पूरा करने के लिए पत्र मुद्रा का प्रकाशन करना पड़ता है, इससे प्रचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पूर्ववत् रहने पर लोगों की मौद्रिक आय बढ़ जाती है और मुद्रा स्फीति हो जाती है।

   (III) मुद्रा की चलन गति तथा मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि–आधुनिक काल में यह कारण महत्वपूर्ण हो गया है। प्रमुखतया साख मुद्रा के भ्रमण वेग में तीव्रता आने के कारण मुद्रा की कुल मात्रा में भी अधिक वृद्धि हो जाती है और मूल्यों में स्फीतिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रायः सम्पन्नता (Prosperity) के काल में तो बैंकों के निक्षेपों की मात्रा तथा साख मुद्रा की चलन गति काफी अधिक बढ़ जाती है और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर देती है जिससे जनता की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है।

   (iv) प्राकृतिक कारण (Natural Causes)–कभी–कभी प्रकृति भी मुद्रा प्रसार में सहायक होती है। जब कोई देश धातुमान पर आधारित होता है तो इन धातुओं की नई खानों का पता लग जाने से इन धातुओं में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होना स्वाभाविक है। वर्तमान काल में कोई भी धातुमान पर आधारित नहीं है। इस कारण मुद्रा स्फीति के प्राकृतिक कारण का केवल सैद्धान्तिक महत्व रह गया है।

   (v) व्यापरिक बैंकों की साख निर्माण सम्बन्धी नीति– व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण नीति भी मुद्रा प्रसार में सहायक होती है। यदि इनसे ऋण लेने वाले ग्राहकों की संख्या अधिक है और उनके पास उधार देने के लिए पर्याप्त पूँजी है तो वे साख का विस्तार कर सकते हैं।

2. **उत्पादन को कम करने वाले तत्व**

   उत्पत्ति की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित हैं–

   (I) उत्पत्ति के साधनों का न्यून होना– यदि देश में उत्पत्ति के साधनों की दुर्लभता है तो उत्पादन में क्रमागत साख की प्रवृत्ति लागू होगी। इसके कारण उत्पादन लागत के साथ–साथ मूल्यों में वृद्धि हो जायेगी।

   (II) औद्योगिक विवाद– औद्योगिक अशान्ति भी मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहन देती है। जब देश में श्रमिक संघ संगठित हो जाते हैं और मजदूर पर्याप्त सुविधा तथा मजदूरी में वृद्धि के लिये हड़ताल आदि करते हैं तो उत्पादक संस्थायें बन्द रहती हैं जिसके कारण उत्पादन कम हो जाता है।

   (III) प्राकृतिक कारण– देश में प्राकृतिक विपत्तियों के कारण उत्पादन कम हो जाता है, जैसे–भूचाल, बाढ़, सूखा, महामारी आदि।

   (IV) उत्पादन के शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन (Technological Changes)– आधुनिक काल में उद्योग–धन्धों में पुराने यन्त्रों के स्थान पर नये–नये यन्त्रों को स्थापित करना पड़ता है, जिसके कारण उत्पादन कार्य कुछ समय के लिये स्थगित करना पड़ता है, जिससे उस अवधि में मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

   (v) सरकार की व्यापार तथा कर सम्बन्धी नीति– अनेक बार सरकार उत्पादन तथा वस्तुओं पर

अधिक करारोपण कर देती है जिससे इन वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है और इनकी माँग में कमी हो जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन गिर जाता है। इसके अतिरिक्त जब सरकार विदेशों को अधिक निर्यात कर देती है तो वस्तुओं की कमी हो जाती है और इसका परिणाम मुद्रा प्रसार होता है।

1.4 मुद्रा प्रसार का प्रभाव

मुद्रा प्रसार विभिन्न वर्गों को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। अर्थ–व्यवस्था के सभी अंगों पर इसका प्रभाव पड़ता है। यद्यपि समाज के कुछ वर्गों के लिये स्फीति लाभदायक होती है, परन्तु कुछ वर्गों को इसके कारण अनेक आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। साधारणतया मुद्रा स्फीति के सामाजिक, आर्थक तथा राजनैतिक परिणाम इतने अधिक गम्भीर होते हैं कि व्यक्ति इससे बचने का प्रयत्न करते हैं। मुद्रा प्रसार समाज में धन व आय का अन्यायपूर्ण वितरण कर देता है। प्रो. सी० एन० वकील ने मुद्रा प्रसार की तुलना एक डाकू से की है। उन्होंने लिखा है– "Inflation may be compared to robber. Both derive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, Inflation is Invisible, the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of Inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, Inflation is legal." वास्तव में, मुद्रा स्फीति का समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि उसका विस्तृत अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

1. **विनियोगी वर्ग पर प्रभाव (Effects on the Investors)-** विनियोगी वर्ग से हमारा तात्पर्य उस वर्ग से होता है जो उद्योग व व्यवसाय में रुपये का विनियोग करता है और इस प्रकार लगाये हुये रुपये से समय–समय पर आय प्राप्त करता है। विनियोगी वर्ग को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

    (I) **निश्चित आय प्राप्त करने वाला वर्ग**–निश्चित आय वाले विनियोगियों में वे लोग आते हैं जो पूँजी वाली कम्पनियों में ऋण–पत्र धारी होते हैं और जिन्हें एक पूर्व निर्धारित रकम मिलती है। इसी प्रकार वे लोग जो अपनी पूँजी ब्याज पर उधार देते हैं उन्हें भी पूर्व निश्चित दर से ब्याज मिलता है। मुद्रा स्फीति के समय में इन लोगों को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि मुद्रा प्रसार के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति गिर जाती है।

    (II) **परिवर्तनीय आय प्राप्त करने वाले विनियोक्ता**–इस वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते है जिनकी आय तो निश्चित नहीं होती, परन्तु इनकी आय व्यवसाय की उन्नति अथवा अवनति पर निर्भर होती है। यदि व्यवसाय में अधिक लाभ प्राप्त होता है तो इस वर्ग के लोगों को भी उसी अनुपात में अधिक लाभांश प्राप्त होता है और जब व्यापार उद्योग में हानि होती है तब इनकी आय या तो होती ही नहीं है या होती है तो बहुत कम। मात्रा में मुद्रा– प्रसार की प्रारम्भिक अवस्था व्यावसायिक समृद्धि तथा सम्पन्नता की अवस्था होती है तथा मूल्य वृद्धि होने के कारण व्यवसायियों को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

2. **व्यापारी या उत्पादक वर्ग (Business and Producers)-** इस वर्ग में कृषक, उद्योगपति, खानों के मालिक, व्यापारी, मछवारे तथा अन्य उत्पादक वर्ग सम्मिलित किये जाते हैं। साधारणतया मुद्रा स्फीति के समय में इस वर्ग के लोगों को लाभ होता है। उत्पादक वर्ग को लाभ होने के निम्न प्रमुख कारण हैं–

    (I) **माँग की वृद्धि के कारण**–मुद्रा स्फीति की अवधि में वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो जाती है। परिणामतः मूल्य ऊँचे हो जाते हैं। वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री तेजी के साथ होती है, अतः उत्पादक का माल शीघ्र ही बिक जाता है जिससे उत्पादकों को एक ओर तो अधिक लाभ होता है दूसरी ओर स्टॉक को जमा करके रखने, उसकी लागत पर ब्याज देने तथा मान का विज्ञापन करने पर भी खर्च कम होता है। तीसरे प्रत्येक प्रकार के कारखाने में उत्पादन होने लगता है।

    (II) **उत्पादन व्यय में कमी**–उत्पत्ति कार्य में कुछ समय लगता है। जिस समय उत्पादक उत्पादन

करने के लिये कच्चा माल तथा औजार खरीदता है अथवा श्रमिकों की भर्ती करता है उस समय मूल्य कुछ नीचे होते हैं। जब तक माल तैयार होता है कुछ समय तो अवश्य व्यतीत हो जाता है। इस बीच में मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है जिससे तैयार माल की बिक्री ऊँचे मूल्य पर होती है और उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

(III) **मजदूरी में भी उत्पादक को बचत होती है**—यह एक आर्थिक नियम है कि "मजदूरी हमेशा कीमत—स्तर से पीछे रहती है" (Wages always lag behind prices)। मूल्य—स्तर में वृद्धि की तुलना में मजदूरी की दर में वृद्धि कम होती है इससे भी उत्पादकों को लाभ होता है।

(IV) **निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचने से**—उत्पादकों को इस कारण भी लाभ होता है कि ये लोग सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तुओं को बेचते हैं, क्योंकि प्रायः वस्तुओं का अभाव रहता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति की अवधि में उद्योगपतियों, थोक व छोटे व्यापारियों तथा उत्पादकों को बहुत लाभ होता है।

3. **श्रमिक या कर्मचारी वर्ग (The Wage Earners)-** इस श्रेणी के अन्तर्गत उन सब लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो अपने श्रम का विक्रय कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इस प्रकार इसमें खेतीहर मजदूर, कारखानों में काम करने वाले श्रमिक, मानसिक तथा बौद्धिक कार्य करने वाले सभी व्यक्ति आ जाते हैं। मुद्रा स्फीति की अवस्था में श्रमिक वर्ग पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ता है—

(I) **रोजगार में वृद्धि**—मुद्रा स्फीति की अवधि में उत्पत्ति, व्यापार तथा व्यवसाय का विस्तार हो जाता है जिससे श्रमिक को अधिकाधिक मात्रा में रोजगार उपलब्ध होता है, अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। श्रम की अधिक माँग होने के कारण श्रमिकों को सौदा करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है, अतः वे अधिक मजदूरी की माँग करते हैं और अच्छी कार्य की दशायें चाहते हैं और उन्हें प्राप्त भी हो जाती है। रोजगार के विस्तार के कारण न केवल श्रमिक को ही रोजगार मिलता है वरन् उसके परिवार के अन्य सदस्यों को भी रोजगार मिल जाता है जिससे श्रमिक परिवार की आमदनी में वृद्धि हो जाती है।

(II) **श्रम संघों का संगठन और विकास**—मुद्रा स्फीति का काल श्रम संघों के संगठन और विकास का काल होता है। इस काल में एक ओर तो श्रम की माँग अधिक होती है, दूसरी ओर मूल्य—स्तर में वृद्धि होती है तब श्रमिक सामूहिक रूप से अधिक मजदूरी की माँग करते है। यह काल प्रायः औद्योगिक तथा श्रमिक अशान्ति का काल भी होता है। श्रमिक संघों की सदस्यता में वृद्धि होती है। श्रम संगठन दृढ़ होता है। स्थान—स्थान पर हड़तालें होनी आरम्भ हो जाती है जिससे देश में औद्योगिक अशान्ति फैलती है। अन्ततः इस मूल्य वृद्धि के काल में श्रमिकों तथा श्रम संघों की बहुत सी आवश्यक माँगें पूरी होती है।

(III) **वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है**—साधारणतः मजदूरी और वेतन में कीमत स्तर की अपेक्षा मन्द गति से ऊपर उठाने की प्रवृत्ति होती है। मुद्रा स्फीति के काल में मजदूरियाँ तथा वेतन में वृद्धि होती है, परन्तु मूल्यों की अपेक्षा मन्द गति से, इसलिये श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।

4. **उपभोक्ता (The Consumers)-** समाज का प्रत्येक सदस्य उपभोक्ता होता है। मुद्रा स्फीति से देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य में वृद्धि होती है जिससे सामान्य जनता को उपभोग के सब साधन महँगे मिलते हैं। मुद्रा की क्रयशक्ति पहले की अपेक्षा कम हो जाती है और जनता को पहले की तुलना में कम वस्तुयें प्राप्त होती हैं। उपभोक्ताओं को उपभोग की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। इस कारण उपभोक्ताओं में न केवल असन्तोष फैलता है वरन् उन्हें सरकार की नीतियों में भी अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। उपभोक्ताओं के लिये मुद्रा स्फीति काल विशेष रूप से कष्टदायक होता है। वास्तव में, मुद्रा प्रसार और प्रजातन्त्र इन दोनों व्यवस्थाओं का साथ—साथ चलना कठिन है।

5. **ऋणी वर्ग तथा ऋणदाता वर्ग (The Debtors and Creditors)-** मुद्रा स्फीति के काल में ऐसे ऋणी

व्यक्ति लाभ में रहते हैं, जिन्होंने मुद्रा प्रसार से पूर्व कोई ऋण लिया हो और उसे मुद्रा प्रसार के दिनों में ब्याज सहित चुकाना पड़े, क्योंकि उन्होंने जिस समय ऋण लिया था उस समय मुद्रा की क्रय–शक्ति अधिक थी। ऐसी स्थिति में ऋणियों के पास अधिक क्रय–शक्ति आ जाने के कारण वह अपने ऋणों का आसानी से भुगतान कर सकते हैं। परन्तु इस काल में साहूकार वर्ग को हानि होती है। मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग (ऋणदाता वर्ग) को जो राशि प्राप्त होती है उसकी वास्तविक क्रयशक्ति उस समय की तुलना में बहुत कम रह जाती है जबकि ऋण दिया गया था।

यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस काल में ऋणदाता वर्ग को लाभ प्राप्त होता है और ऋणी वर्ग को हानि होती है। मूल्य स्तर में वृद्धि होने से उत्पादन क्रिया में काफी वृद्धि होती है और साख की माँग में वृद्धि हो जाती है। इसके लिये अधिक ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। इससे ब्याज की दर में वृद्धि हो जाती है और ऋणदाता के पास धन बेकार नहीं पड़ा रहता है। ऐसी स्थिति में ऋणदाता को लाभ होता है। इसके विपरीत, ऋणी को हानि होती है, क्योंकि ऋणों की माँग में वृद्धि हो जाने से ऋण मिलने में कठिनाई उत्पन्न होगी और दूसरी ओर ब्याज की दर ऊँची हो जाती है।

मुद्रा प्रसार के अन्य आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक पभाव–

समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले उक्त प्रभावों के अतिरिक्त मुद्रा स्फीति के अन्य आर्थिक, नैतिक तथा सामाजिक प्रभाव भी उल्लेखनीय है–

(1) **करों में वृद्धि**–मुद्रा स्फीति के काल में अनेक नये कर लगाये जाते हैं तथा पुराने करों की दर में वृद्धि हो जाती है।

(2) **ऋणों में वृद्धि**–मुद्रा स्फीति काल में उद्योग तथा व्यापार का बहुत विकास होता है। इस कारण व्यापारी वर्ग अत्यधिक ऋण लेकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करता है। इस समय सरकार भी अधिक ऋण लेती है जिससे उसके बजट के घाटे की पूर्ति हो सके।

(3) **बीमा व बैंकिंग पणाली का विकास**–इस काल में इन संस्थाओं की बहुत सी नवीन शाखाओं की स्थापना होने लगती है और आर्थिक दृष्टि से शक्तिहीन संस्थायें भी जीवित हो जाती हैं।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार**–मुद्रा प्रसार के कारण वस्तुओं के भाव में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप निर्यात व्यापार में कमी और आयात–व्यापार में वृद्धि हो जाती है और व्यापार सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है।

(5) **नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली**–प्रत्येक देश के सरकार ऐसी आर्थिक नीति अपनाना चाहती है, जिससे आर्थिक प्रगति तेजी से हो सके। इस काल में सरकार स्वतन्त्र आर्थिक नीति का त्याग करके नियन्त्रित आर्थिक नीति अपनाती है। जिससे देश का आर्थिक विकास होता है और लोगों का जीवन–स्तर ऊँचा उठता है।

(6) **रक्षा व्यय के लिये पर्याप्त धन**–मुद्रा स्फीति के द्वारा सरकार युद्ध–काल में देश की रक्षा के लिये पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त करने में सफल हो जाती है। यह अवश्य है कि इससे जनता को कष्ट होता है, परन्तु देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये इसका कोई महत्व नहीं रहता।

(7) **बचत की भावना को ठेस**–मुद्रा स्फीति काल में मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो जाती है। इस कारण लोगों ने जो बचत की है उसका मूल्य भी कम हो जाता है जिससे जनता को बचत करने में प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

(8) **धन का असमान वितरण**–मुद्रा प्रसार एक ऐसा शक्तिशाली यन्त्र है जो एक का धन लूटकर दूसरे को और दूसरे का धन लूटकर तीसरे को देता है, साधारणतया उद्योगपति, व्यवसायी तथा परिवर्तनशील आय वाले विनियोगकर्त्ता जो कि समाज के धनी वर्ग के होते हैं और अधिक धनी हो जाते हैं तथा समाज का निर्धन वर्ग–श्रमिक तथा वेतनभोगी व्यक्ति और निर्धन हो जाता है।

(9) **करदाताओं को लाभ**–मुद्रा स्फीति के काल में यद्यपि जनता को कर के रूप में अधिक रुपया देना

पड़ता है। परन्तु वे वास्तव में वस्तुओं के रूप में अपेक्षाकृत कम ही भुगतान करते हैं। इससे सरकार की हानि होती है।

(10) **नैतिक पतन**—आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्फीति समाज में व्यक्तियों का नैतिक पतन भी कर देती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्फीति के काल में जनता का नैतिक पतन भी हो जाता है। व्यापारी वर्ग अधिक से अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से चोर बाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी जैसे अनैतिक कार्य करने लगते हैं। यह अनैतिकता केवल व्यापरियों तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि अन्य सरकारी अधिकारियों व नेताओं में भी फैल जाती है।

(11) **सट्टेबाजी में वृद्धि**—मुद्रा स्फीति के समय जनता में धनी बनने की बहुत लालसा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

1.5 मुद्रा स्फीति रोकने के उपाय

मुद्रा स्फीति के प्रभावों की व्याख्या के आधार पर यह स्प्ष्ट हो जाता है कि मुद्रा—स्फीति एक आर्थिक रोग है। रोग चाहे कैसा ही हो, कभी अच्छा नहीं होता और उसका उपचार करना आवश्यक होता है। मुद्रा—स्फीति एक ऐसा रोग है जिसका उपचार न होने पर यह दिन—प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। अतः इसकी रोकथाम करना प्रत्येक सरकार का आवश्यक कर्तव्य होता है। स्फीति की स्थिति का आरम्भ होते ही इसे दवा देना अधिक अच्छा होता है। स्फीति—वेग को रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं।

1. **मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)**—सरकार तथा केन्द्रीय बैंक कुछ ऐसे मौद्रिक उपाय अपनाते हैं जिनका उद्देश्य मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है, अर्थात्

   (I) सरकार को चाहिए कि वह केन्द्रीय बैंक पर अतिरिक्त मुद्रा जारी करने के लिए दबाव न डाले। केन्द्रीय बैंक द्वारा भी पत्र—मुद्रा निर्गमन के प्रबन्ध में अधिक दृढ़ता तथा अनुशासन लाने की आवश्यकता होती है।

   (II) मुद्रा—स्फीति भयंकर होने की दशा में पुरानी मुद्रा समाप्त करके उसके बदले में नयी मुद्रा कम मात्रा में दे दी जाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद रूस में इसी नीति को अपनाया गया था।

   (III) साख—नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को इस प्रकार के निर्देश देता है कि वे साख का अधिक सृजन तथा प्रसार न करें। बैंक—दर में वृद्धि, प्रतिभूतियों की बिक्री, बैंकों के न्यूनतम नकद कोषों की मात्रा में वृद्धि, साख का राशनिंग इत्यादि ऐसे उपाय हैं जिससे साख का संकुचन होता है। केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंक को इस प्रकार के आदेश देता है कि वे कुछ आवश्यक वस्तुओं, जैसे अनाज इत्यादि, को गोदामों में रखकर उसके आधार पर ऋण न दें। इससे माल बाजार में आने लगता है तथा कीमतों में वृद्धि रोकने में सहायता मिलती है।

2. **राजकोषीय उपाय (Fiscal Measures)**—मुद्रा—स्फीति के उपचार के लिए मौद्रिक उपायों के साथ—साथ निम्नलिखित वित्तीय उपायों को भी अपनाना प्ड़ता है।

   (I) मुद्रा—स्फीति के नियन्त्रण के लिए यथासम्भव बजट सन्तुलित रखना आवश्यक होता है। घाटे का बजट होने पर सरकार को मुद्रा—प्रसार करना पड़ता है।

   (II) करों में वृद्धि के द्वारा सरकार अपने साधनों में वृद्धि कर सकती है तथा समाज में अतिरिक्त क्रय—शक्ति को प्रभावहीन बना सकती है।

   (III) सार्वजिनक ऋण में वृद्धि से एक ओर तो लोगों के पास तरल मुद्रा की मात्रा कम होती है, दूसरी ओर सरकार ऋणों से प्राप्त किये गये धन को उत्पादन की वृद्धि करने में प्रयोग करती है, जिससे मुद्रा—स्फीति का वेग नियन्त्रित होता है।

(IV) सरकार को अपने द्वारा किये गये उत्पादन–कार्यों में पर्याप्त लाभ प्राप्त करना चाहिए तथा ऐसे उपाय अपनाने चाहिए जिनसे इनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो सके।

(V) सार्वजनिक व्यय, विशेषकर अनुत्पादक व्यय को कम करना भी बहुत आवश्यक होता है।

(VI) वित्तीय उपायों द्वारा उपभोग को हतोत्साहित करके बचत को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

3. **व्यापार सम्बन्धी उपाय (Commercial Measures)**–मुद्रा–स्फीति की दशा में आयातों की मात्रा को बढ़ाना होता है जिससे उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो सके। परन्तु व्यावहारिक रूप में ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि बिना निर्यात बढ़े आयात नहीं बढ़ाये जा सकते, और निर्यात बढ़ाना ऐसे देशों के लिए बहुत कठिन होता है क्योंकि आन्तरिक कीमत–स्तर विदेशी कीमतों की अपेक्षा ऊँचा होता है। इन परिस्थितियों में सरकार द्वारा निरन्तर ऐसे उपाय अपनाने की आवश्यकता होती है जिनसे नियमित रूप से आयात तथा निर्यात बढ़ सकें। विदेशी विनिमय–दर को गिराना अथवा अवमूल्यन करना बहुत ही खतरनाक होता है। यदि अधिमूल्यन सम्भव न हो तो कम से कम विनिमय–दर में स्थिरता बनाये रखनी चाहिए।

4. **निवेश ढाँचे में परिवर्तन (Changes In Investment Pattern)**–स्फीति–काल में प्रायः निवेश की मात्रा बढ़ती है जिसके कारण न केवल मौद्रिक आय में वृद्धि होती है, अपितु उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि न होने के कारण मुद्रा–स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि निवेश की वृद्धि को रोक दिया जाय, परन्तु सरकार को यह अवश्य देखना पड़ता है कि बढ़ते हुए निवेश के परिणामस्वरूप उत्पादन में तत्काल तथा यथेष्ट मात्रा में वृद्धि हो। ऐसे कार्य जिनमें बहुत अधिक पूँजी का निवेश होता है तथा उत्पादन की प्राप्ति दीर्घकाल में होती है, स्फीति–काल में उपयुक्त नहीं होते।

5. **आय–नियन्त्रण सम्बन्धी उपाय (Income Control Measures)**– पिछले कुछ वर्षों से पाश्चात्य देशों में स्फीति–नियन्त्रण के लिए आय–नीति के अपनाने के पक्ष में अनेक सुझाव दिये गये हैं। आय–नीति का उद्देश्य मजदूरी–बन्धन (wage freeze) के उपाय करना होता है ताकि बढ़ती हुई मजदूरी उत्पादन की लागत में वृद्धि के द्वारा मुद्रा–स्फीति को प्रोत्साहन न दे पाये। मजदूरी बढ़ने से लागत तथा कीमतें बढ़ती हैं जिसके कारण पुनः मजदूरी को बढ़ाना पड़ता है, और इस प्रकार एक ऐसा विषम चक्र बन जाता है जिससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। बढ़ती कीमतों की स्थिति में व्यावहारिक रूप से आय अथवा मजदूरी को स्थिर रखना बहुत कठिन होता है, परन्तु फिर भी सरकार द्वारा ऐसे उपाय तो किये ही जा सकते हैं कि विभिन्न वर्गों द्वारा आय में अनुचित वृद्धि के लिए दबाव प्रभावपूर्ण न होने पाये।

6. **प्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct Controls)**– ऊपर बताये गये सभी उपाय मुद्रा–स्फीति को अप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रित कर सकती है, विशेषकर आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को तो नियन्त्रित कर ही देना चाहिए। जिन वस्तुओं की माँग पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है उनका राशनिंग करना चाहिए। विदेशी व्यापार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा देश की औद्योगिक नीति पर नियन्त्रण भी मुद्रा–स्फीति के विरुद्ध प्रयोग में लाये जाते हैं।

7. **उत्पादन–वृद्धि (Increase in Production)**–मुद्रा–स्फीति का प्रभाव कम करने के लिए उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करना भी आवश्यक होता है। ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिनमें पूँजी का निवेश तो कम हो परन्तु शीघ्र उत्पादन द्वारा उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ अधिक पूरी की जा सकें। कृ षि के उत्पादन में वृद्धि मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण में विशेष रूप से सहायक होती है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण के लिए कोई भी अकेला उपाय महत्वपूर्ण नहीं हो पाता, इसलिए एक साथ विभिन्न उपाय अपनाने पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष उपायों में मौद्रिक, वित्तीय, व्यापारिक, निवेश तथा आय सम्बन्धी विभिन्न उपाय एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं और उनको एक–दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है। अप्रत्यक्ष उपायों के साथ–साथ कुछ विशेष वस्तुओं की कीमतों को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करना भी आवश्यक होता है तथा उत्पादन–वृद्धि के प्रयास करना भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार सन्तोषजनक रूप से मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण के लिए उपर्युक्त सभी को एक साथ

अपनाना ही अधिक उपयुक्त होता है।

1.6 विस्फीति अर्थात् मुद्रा संकुचन अथवा मंदी

मुद्रा–स्फीति की विपरीत अवस्था को मुद्रा संकुचन अथवा मंदी कहते हैं। यद्यपि साधारणतया मूल्यों की प्रत्यक्ष गिरावट को मुद्रा का संकुचन कहा जाता है, परन्तु जिस प्रकार कि मूल्यों की प्रत्येक वृद्धि को स्फीति नही कहा जा सकता है, ठीक इसी प्रकार मूल्यों के प्रत्येक पतन को मुद्रा संकुचन नहीं कहा जा सकता। जब किसी देश में मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से कम होती है तब इसे मुद्रा संकुचन कहते है। प्रो. पीगू (Pigou) ने मुद्रा संकुचन की परिभाषा इस प्रकार से दी है, "जब किसी समाज की मौद्रिक आय की तुलना में वहाँ पर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है जिससे मुद्रा की क्रय–शक्ति बढ़ जाती है या वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य गिर जाता है, तब मूल्यों के कम हो जाने की इस स्थिति को मुद्रा विस्फीति कहते हैं।" पीगू की उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि मूल्यों का प्रत्येक पतन मुद्रा संकुचन नहीं होता। उनके मतानुसार निम्न दशाओं में मूल्यों का पतन मुद्रा संकुचन की श्रेणी में आता है–

1. जबकि उत्पादन बढ़ रहा हो और मौद्रिक आय स्थिर हो।
2. जब मौद्रिक आय और उत्पादन दोनों ही बढ़ रहे हों परन्तु मुद्रा आय की मात्रा उस अनुपात में नहीं बढ़ती जिस अनुपात में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़ता है।
3. जबकि उत्पादन बढ़ता है परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है।
4. जब उत्पादन इन यथास्थिर हो और मौद्रिक आय कम हो रही हो।
5. जब उत्पादन और मौद्रिक आय दोनों ही घट रहे हों, परन्तु मौद्रिक आय अपेक्षाकृत अधिक तेजी से घटती है।

1.7 मुद्रा संकुचन के कारण

किसी भी देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न होने के लिये अनेक कारण हो सकते हैं। प्रमुख कारण निम्नलिखित है–

(1) चलन की मात्रा को कम करने के लिये अपरिवर्तनशील पत्र–मुद्रा को अवैधानिक घोषित करके या प्रत्येक सरकार की मुद्रा के परिमाण में कमी करके विस्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(2) जब सरकार जनता पर कर का भार बढ़ा देती है तो मुद्रा संकुचन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(3) कभी–कभी सरकार जनता से ऋण प्राप्त कर उन्हें उत्पादन कार्यों में लगाती है। इसमें एक ओर तो जनता की क्रय शक्ति कम हो जाती है और दूसरी ओर देश का उत्पादन बढ़ता है। इससे मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) कभी–कभी आकस्मिक रूप से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है परन्तु मुद्रा की मात्रा पूर्ववत् रहती है इसलिये उनका मूल्य स्वंय ही गिरने लगता है। इस प्रकार मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(5) मुद्रा संकुचन की स्थिति बैंक दर में वृद्धि करके भी उत्पन्न की जा सकती है। जब देश का केन्द्रीय बैंक अपनी दर ऊँची दर कर देता है तो देश की अन्य बैंकिंग संस्थायें भी ब्याज की दर ऊँची बैंक दर मुद्रा संकुचन में योगदान करती है।

(6) केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर भी प्रचलन से मुद्रा की मात्रा को कम किया जा सकता है। प्रचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी होने से जनता बैंकों से अपनी जमा राशि निकाल लेती है और बैंकों के पास निक्षेप कम हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि बैंकों की साख निर्माण करने

की शक्ति कम हो जाती है और साख मुद्रा का संकुचन हो जाता है।

(7) केन्द्रीय बैंक अन्य साधन अपनाकर जैसे, सीधी कार्यवाही साख की राशनिंग, नकद कोषों के अनुपात परिवर्तन, ऋण पत्रों को बेचकर भी साख मुद्रा की मात्रा को कम कर सकती है जिससे मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(8) जब देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो और विदेशों से स्वर्ण अथवा पूँजी आयात होने पर भी न तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो और न वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने दी जाये तो संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

1.8 मुद्रा संकुचन के प्रभाव

मुद्रा संकुचन का प्रभाव भी प्रायः समाज के सभी वर्गों पर पड़ता है। मुद्रा संकुचन में मूल्य स्तर गिरना आरम्भ होता है, उत्पादन की मात्रा में कमी होने लगती है, बेरोजगारी फैल जाती है। जनता की कुल आय कम होने से वस्तुओं की माँग और अधिक कम होने लगती है और देश में भयंकर मन्दी तथा बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में निराशावाद फैल जाता है। यह स्थिति अर्थव्यवस्था को पतन की ओर ले जाती है। मुद्रा संकुचन से समाज के विभिन्न वर्गों पर जो प्रभाव पड़ता है, वह इस प्रकार है–

(1) **उत्पादन तथा व्यापारी वर्ग**–मुद्रा संकुचन की स्थिति में व्यापारी तथा उत्पादन वर्ग को हानि होती है। वस्तुओं का मूल्य कम होते हुये भी इनकी माँग में या बिक्री में कमी हो जाती है। इससे व्यापारी कुछ समय तक माल जिस किसी भी मूल्य पर बेचते रहते हैं, परन्तु जब अधिक हानि होने लगती है तब हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाते हैं। परिणामस्वरूप देश की सारी औद्योगिक तथा व्यवस्था ठप होने लगती है।

(2) **उपभोक्ता वर्ग**–वस्तुओं के मूल्यों में कमी होने से उपभोक्ताओं को लाभ होता है तथा उपभोग स्तर बढ़ जाता है। उपभोक्ताओं का जीवन–स्तर ऊँचा हो जाता है। मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है, अतः उपभोक्ताओं को मुद्राओं की प्रत्येक इकाई के बदले अधिक वस्तुओं की प्राप्ति होने लगती है।

(3) **विनियोगी वर्ग**–इस वर्ग में दो प्रकार के व्यक्ति हैं। प्रथम निश्चित आय वाले– इस वर्ग के लोगों को फायदा होता है क्योंकि मौद्रिक आय पूर्ववत् रहती है और मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों में ऋण पत्रधारियों तथा सरकारी बाँड्स आदि में पूँजी लगाने वाले विनियोग–कर्ताओं को लाभ होता है। द्वितीय परिवर्तनशील आय वाले विनियोग-कर्ता– विस्फीति की स्थिति में इस वर्ग को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि उनके विनियोगों से वास्तविक आय वस्तुओं और सेवाओं के रूप में घट जाती है। कम्पनियों का लाभांश कम हो जाने पर कम्पनी के अंशधारियों का लाभांश भी कम हो जाता है।

(4) **श्रमिक तथा कर्मचारी वर्ग**–मुद्रा विस्फीति की दशा में एक दृष्टि से इस वर्ग को लाभ होता है। सेवायोजकों के लिये मुद्रा संकुचन की स्थिति में श्रमिकों की मजदूरी में कटौती कर पना सम्भव नहीं होता है। यदि कम भी होती है तो यह मूल्यों की तुलना में ऊँची ही रहती है, क्योंकि मजदूरियाँ मूल्यों के पीछे–पीछे रहती हैं। इस प्रकार वेतनभोगी वर्ग (Salaried Persons) को भी लाभ होता है, क्योंकि उनके वेतन में भी कमी होने की भी सम्भावना नहीं रहती है, परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस वर्ग को हानि भी होती है, क्योंकि मुद्रा संकुचन के कारण जब उत्पादकों को हानि होने लगती हैं तो वे उत्पादन में कमी कर देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों तथा वेतन भोगियों की छँटनी कर दी जाती है जिससे बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। श्रमिक वर्ग में निराशा का वातावरण छा जाता है। वे संगठित होकर इसका विरोध करते हैं, हड़ताल आदि करते हैं और उसके बदले में मिल मालिक तालाबन्दी का मार्ग अपनाते हैं। इस प्रकार औद्योगिक अशान्ति का वातावरण निर्मित हो जाता है।

(5) **ऋणो तथा ऋणदाता वर्ग**– मुद्रा संकुचन के काल में ऋणी वर्ग को हानि उठानी पड़ती है तथा

ऋणदाता वर्ग को लाभ होता है। ऋणी वर्ग को इसलिये हानि उठानी पड़ती है कि मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो रकम वापस करनी पड़ती है उसका वास्तविक मूल्य बढ़ जाता है, क्योंकि मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि ऋण का भार बढ़ जाता है और वह इसका आसानी से भुगतान नहीं कर पाता है। परन्तु इस वर्ग को एक लाभ भी होता है कि माँग घट जाने के कारण ऋण सरलता से प्राप्त हो जाता है। ऋणदाता वर्ग को इस काल में सामान्यतया वस्तुओं और सेवाओं के रूप में लाभ होता है। मुद्रा की क्रयशक्ति में वृद्धि हो जाने से ब्याज तथा मूलधन के रूप में मिलने वाली राशि का वास्तविक मूल्य बढ़ जाता है। परन्तु दूसरी ओर हानि भी होती है कि व्यापारिक व औद्योगिक मन्दी के पूँजी की माँग अथवा ऋण की मांग कम हो जाती है जिससे ब्याज की दरें नीची हो जाती है।

1.9 मुद्रा संकुचन को रोकने के उपाय

1. मुद्रा संकुचन की स्थिति में सरकार की राष्ट्रीय विकास तथा निर्माण की विभिन्न योजनायें बना कर उन पर व्यय करना चाहिये। इससे बेरोजगारी में कमी होगी तथा जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि होगी। क्रयशक्ति में वृद्धि होने से वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने लगती है और अर्थव्यवस्था में सन्तुलन आने की सम्भावना बढ़ जाती है।
2. देश की केन्द्रीय बैंक अधिक मात्रा में चलन का निर्गमन कर संकुचन की स्थिति को दूर कर सकता है।
3. केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति द्वारा भी विस्फीति को रोकने में सहायता मिल सकती है। समाज में बैंकों को साख मुद्रा के निर्माण करने के सम्बन्ध में अधिक उदार सुविधायें प्रदान कर, बैंक दर घटाकर तथा खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा प्रतिभूतियों को खरीदकर समाज में विनियोग की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इस नीति की सफलता व असफलता उद्यमकत्ताओं की मनोवृत्ति पर निर्भर रहती है।
4. मुद्रा संकुचन की स्थिति में करों में कमी कर देने से उत्पादकों में लाभाँश बढ़ जाता है। परिणामस्वरूप उत्पदन को प्रोत्साहन मिलता है और बेराजगारी की समस्या कुछ हद तक हल हो जाती है। रोजगार की स्थिति में सुधार होने से लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाती है तथा वस्तुओं और सेवाओं की माँग में वृद्धि हो जाती है जिससे मूल्य–स्तर और नहीं गिरने पाता है।
5. मुद्रा संकुचन काल में पुराने ऋणों का भुगतान करके भी सरकार विस्फीति को रोकने में कुछ सीमा तक सफलता प्राप्त कर सकती है। ऋणों के भुगतान करने से ऋणदाताओं को आय प्राप्त होती है, जिससे वे व्यय में वृद्धि कर सकते हैं।
6. मुद्रा संकुचन के कारण समाप्त हो जाने वाले उद्योगों को पुनः जीवित करने के लिये सरकार उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती है जिससे वे कालान्तर में आत्मनिर्भर हो सकें।
7. आयातों पर नियन्त्रण लगाकर और निर्यातों को प्रोत्साहित कर मुद्रा संकुचन की स्थिति को रोका जा सकता है। ऐसा करने से बन्द कारखाने फिर से चालू हो जायेंगे और देश के व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा और मूल्य स्तर में वृद्धि होगी।
8. मूल्य स्तर में वृद्धि करने के लिये तथा माँग की अपेक्षा पूर्ति को घटाने के उद्देश्य से पहले उत्पादित वस्तुओं को नष्ट करने की नीति अपनाई जाती है, ताकि वस्तुओं की प्राप्ति में कमी हो जाये और अन्ततः मूल्य–स्तर उँचा हो जायेगा।
9. लगान में छूट देकर भी सरकार उत्पादन को प्रोत्साहित कर सकती है।

1.10 मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति में अंतर

मुद्रा–स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही आर्थिक रोग हैं जो सम्पूर्ण अर्थ–व्यवस्था को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। प्रो. केन्स के विचारानुसार, "मुद्रा–स्फीति अन्यायपूर्ण है तथा अवस्फीति अनुपयुक्त है। दोनों में

सम्भवतः अवस्फीति अधिक खराब है क्योंकि एक निर्धन विश्व में किराये की आमदनी पर निर्भर करने वाले अनुत्पादक व्यक्ति को निराश करने की अपेक्षा बेरोजगारी को उकसाना अधिक खराब होता है।"

मुद्रा–स्फीति अनेक कारणों से अन्यायपूर्ण है? (Why Inflation Is unjust?)

(1) बचत करने वाले लोग जो भविष्य के लिए मुद्रा बचाकर रखते हैं, उनको मुद्रा का मूल्य कम हो जाने के कारण बहुत हानि होती है। इसी प्रकार, सरकारी प्रतिभूतियों आदि के रूप में अपने धन का निवेश करने वाले लोगों को भी बहुत हानि होती है। प्रो. वकील ने इसीलिए मुद्रा–स्फीति को अदृश्य डकैती कहा है।

(2) ऋणदाता को हानि उठानी पड़ती है। अत्यधिक त्याग करके अपनी मुद्रा दूसरे को देने वाला व्यक्ति तो घाटे में रहता है, जबकि उधार लेने वाले को बैठे–बिठाये असाधारण लाभ की प्राप्ति होती है। इंग्लैण्ड में 1919 में ऋण लेने वाले व्यक्ति को 1920 में लौटाने पर लगभग 46% का लाभ हुआ था।

(3) केन्स ने मुद्रा–स्फीति को धन वितरित करने का शक्तिशाली इंजन बताते हुए कहा है कि यह इंजन बिल्कुल अन्धा होकर धन का वितरण करता है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति के गुणों तथा अवगुणों पर विचार नहीं करता।

(4) मुद्रा–स्फीति की प्रवृत्ति एक प्रकार से अदृश्य करारोपण (Invisible taxation) होती है। सरकार बजट सम्बन्धी घाटे की पूर्ति के लिए अधिक मुद्रा का निर्गमन करके मुद्रा के मूल्य को गिरा देती है जिसके कारण उपभोक्ता अनेक वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग से वंचित रह जाता है, सरकार उनकी क्रय–शक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से छीन लेती है।

(5) मुद्रा–स्फीति का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है क्योंकि आवश्यक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाने के कारण उनके लिए पेट भरना भी कठिन हो जाता है। उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग के धनी लोगों की आय में वृद्धि होने के कारण उन्हें तो मुद्रा–स्फीति से लाभ ही होता है, संकट तो केवल निर्धनों के लिए होता है। इस प्रकार स्फीति–काल में वितरण में विषमताएँ और भी बढ़ जाती हैं।

(6) मुद्रा–स्फीति से देश में जो एक प्रकार की कृत्रिम सम्पन्नता (artificial prosperty) उत्पन्न होती है वह स्थायी नहीं होती। कीमतें बढ़ते–बढ़ते उस सीमा तक जा पहुँचती है जहाँ अर्थ–व्यवस्था अस्त–व्यस्त होने लगती है तथा अवस्फीतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आर्थिक स्थिरता न होने के कारण समाज में अलग–अलग वर्गों को कभी लाभ तो कभी हानि होती रहती।

अवस्फीति अनुपयुक्त क्यों? (Why Deflation Is Inexpedient)- उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केन्स ने मुद्रा–स्फीति को अन्यायपूर्ण ठीक ही बताया है। यदि मुद्रा–स्फीति अन्यायपूर्ण है, तो अवस्फीति अनुपयुक्त है, क्योंकि–

(1) अवस्फीति बेरोजगारी की गम्भीर समस्या को उत्पन्न करती है। बेरोजगार लोग समाज के ऊपर एक भार होते हैं जिनके लिए खाने–पीने की व्यवस्था तो करनी ही होती है, परन्तु समाज को उनसे मिलता कुछ नहीं।

(2) कृषि, व्यापार तथा उद्योग सभी का पतन होता है तथा उत्पादक वर्ग निराशावादी हो जाता है। गिरती हुई कीमतें उत्पादन पर रोक लगाती हैं तथा देश को निर्धन बना देती हैं।

(3) अवस्फीति की स्थिति इसलिए भी अनुपयुक्त है कि एक बार आरम्भ होने पर इसका नियन्त्रण करना बहुत कठिन हो जाता है।

अवस्फीति की स्थिति में बेरोजगारी फैलती है, उद्योग–धन्धें ठप हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण समाज का आर्थिक पतन होता है, इसलिए केन्स ने अवस्फीति को स्फीति से भी अधिक बुरा बताया है।

वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा–स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही दोषपूर्ण तथा हानिकारक हैं। इन दोनों में से किसी एक का अच्छा तथा दूसरे को बुरा बताना एक चोर तथा डाकू में तुलना करने के समान है। स्वयं केन्स के शब्दों में, "यह आवश्यक नहीं कि हम एक बुराई को दूसरे से तोलकर देखें।

यह स्वीकार कर लेना आसान है कि दोनों ही ऐसी बुराइयाँ हैं जिसे दूर रहना चाहिए।"

1.11 संस्फीति

मुद्रा–स्फीति से मिलती एक अन्य स्थिति संस्फीति (Reflation) की होती है। आर्थिक मन्दी की दशा में अर्थ–व्यवस्था को पुनः सन्तुलित स्थिति में लाने के लिए जब नियन्त्रित रूप में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाती है, तो उसे 'संस्फीति' अथवा 'मुद्रा–प्रत्यवस्फीति' कहते हैं। कोल ने लिखा है कि "संस्फीति को मन्दी के प्रभावों को दूर करने के लिए की जाने वाली स्फीति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

स्फीति तथा संस्फीति की प्रकृति लगभग एक–सी होती है। दोनों ही में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है तथा कीमतों में वृद्धि होती है, परन्तु फिर भी दोनों के बीच कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं :

1. स्फीति के कारण स्वाभाविक होते हैं अथवा ऐच्छिक, जबकि संस्फीति सदा ही ऐच्छिक होती है। दूसरे शब्दों में, कीमतों को फिर से सामान्य स्तर पर लाने के लिए संस्फीति की नीति एक योजना के अनुसार अपनायी जाती है।
2. स्फीति का आरम्भ कीमतों के स्तर से ऊपर उठ जाने पर होता है, जबकि संस्फीति का उद्देश्य कीमतों को सामान्य स्तर पर लाना होता है। संस्फीति उद्धार–काल (period of recovery) से सम्बन्धित होती है तथा कीमतों को सामान्य स्तर पर लाने के पश्चात् समाप्त हो जाती है। इसके आगे बढ़ने पर स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
3. स्फीति के परिणाम हानिकारक होते हैं तथा यह विनाशकारी हो सकती है, परन्तु संस्फीति निर्माणात्मक होती है क्योंकि इसका उद्देश्य मन्दी के स्थिति का उपचार करना होता है।

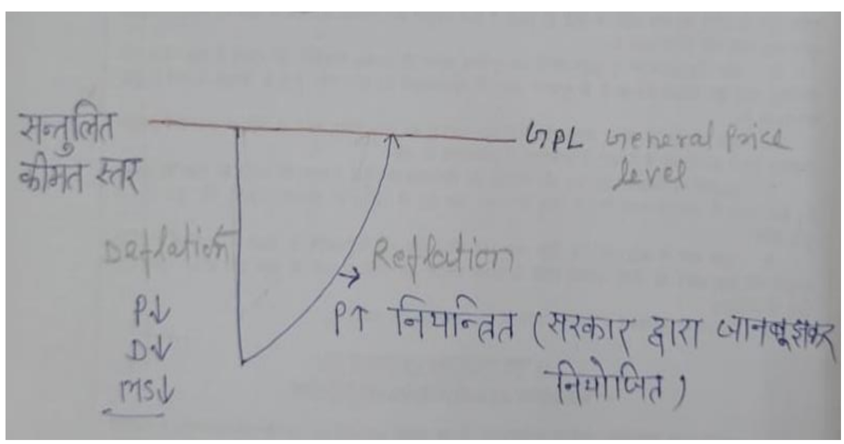

चित्र– 1.11 संस्फीति

मुद्रा स्फीति व संस्फीति में अंतर–

मुद्रास्फीति	संस्फीति
अनियन्त्रित	नियन्त्रित
परिस्थिति जन्य	सरकार द्वारा जानबूझकर
नकारात्मक	सकारात्मक
अर्थव्यवस्था का हानि	अर्थव्यवस्था को लाभदायक
कीमत स्तर सामान्य कीमत स्तर से ऊँचा	कीमत बढ़कर सामान्य कीमत स्तर पर

	पहुंच जाता है।

1.12 अपस्फीति

जिस प्रकार अवस्फीति का सुधार संस्फीति है, उसी प्रकार मुद्रा–स्फीति का सुधार अवस्फीति अथवा विस्फीति है। मुद्रा–स्फीति के उग्र रूप धारण कर लेने पर कीमतों में इस प्रकार की कमी करना कि उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा में किसी प्रकार की कमी न हो, 'अपस्फीति' की स्थिति कहलाती है। इसका उद्देश्य मुद्रा–स्फीति को बिना अवस्फीति की स्थिति उत्पन्न किये समाप्त करना होता है। कॉलबोर्न के अनुसार, "कीमतों, आय तथा व्यय में जो भी गिरावट लाभकारी होगी, वह अपस्फीति होगी।" द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मुद्रा–स्फीति पर नियन्त्रण के लिए विभिन्न सरकारों ने अवस्फीति को अपनाया है।

अवस्फीति तथा अपस्फीति दोनों ही गिरती हुई कीमतों की सूचक होती हैं तथा दोनों की प्रकृति लगभग एक–सी होती है किन्तु फिर भी दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं–

1. अवस्फीति स्वाभाविक कारणों से हो सकती है अथवा ऐच्छिक होती है, जबकि अपस्फीति सदा ऐच्छिक ही होती है, जिसे सरकार एक योजनाबद्ध नीति के आधार पर करती है।
2. अवस्फीति की स्थिति में कीमतें सामान्य स्तर से नीचे गिर जाती हैं, जबकि अपस्फीति का उद्देश्य बढ़ी हुई कीमतों को सामान्य स्तर पर लाना होता है।
3. अवस्फीति मन्दी की दशाएँ उत्पन्न करती है परन्तु अपस्फीति केवल असाधारण आर्थिक स्थिति को सन्तुलित करती है। दूसरे शब्दों में, अपस्फीति के अन्तर्गत उत्पादन तथा रोजगार में कमी नहीं होती।
4. कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार यदि अर्थ–व्यवस्था पूर्ण–रोजगार के बिन्दु पर है और कीमतें घटायी जाती हैं, तो यह अपस्फीति है। परन्तु पूर्ण–रोजगार के बिन्दु से पूर्व ही यदि कीमतें घटती हैं तो यह अवस्फीति होती है।

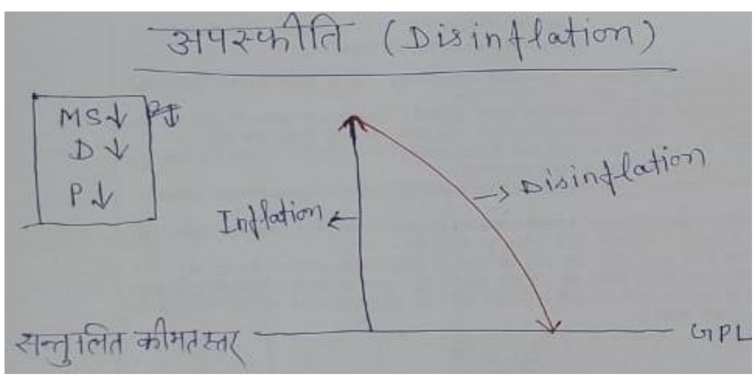

चित्र–1.12 अपस्फीति

अपस्फीति एवं अवस्फीति में अंतर–

अपस्फीति	अवस्फीति
नियन्त्रित	अनियन्त्रित
सकारात्मक	नकारात्मक
सरकार द्वारा जानबूझकर	परिस्थिति जन्य
अर्थव्यवस्था का लाभ	अर्थव्यवस्था को हानि

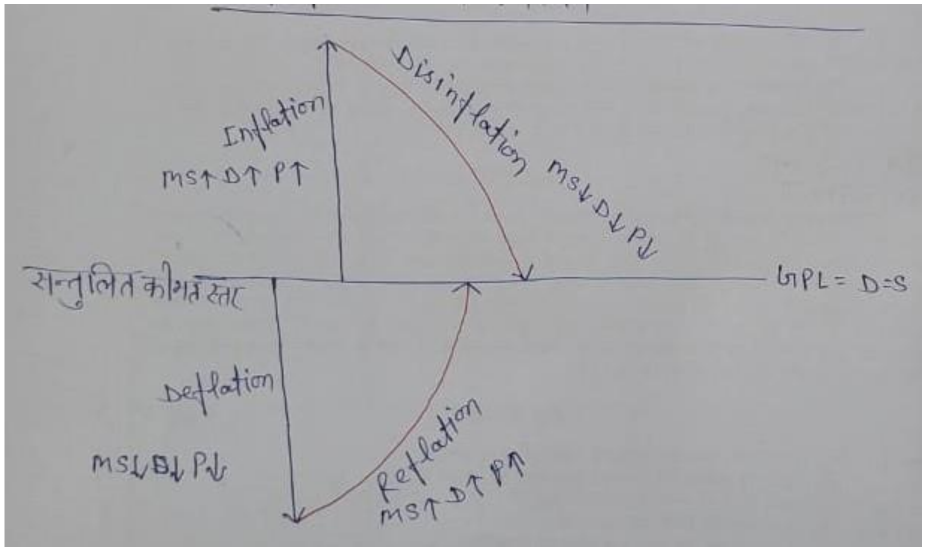

चित्र–1.13 मुद्रास्फीति (Inflation), अवस्फीति (Deflation), अपस्फीति (Disinflation) एवं संस्फीति (Reflation) की चित्रीय व्याख्या

1.13 सारांश

विस्फीति अथवा मन्दी के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और मूल्य स्तर में ह्रास तथा मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है। विस्फीति कुल पूर्ति की तुलना में कुल मांग में कमी की स्थिति है। मन्दी यदि अनेक कारणों से अत्यधिक खतरनाक होता है तो कुछ स्थिति में लाभदायक भी होता है। कुछ लोग कहते हैं कि मन्दी हमारे धैर्य की परीक्षा है। परन्तु व्यावसायिक उतार–चढ़ाव नैतिक पतनों से परिपूर्ण है। अतएव इस नैतिक आधार पर मन्दी को उचित नहीं ठहराया जा सकता है। मन्दी आविष्कारों को जन्म देती है। किन्तु मन्दी काल में बेरोजगारी चरम पर होने पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के ध्वस्त होने का भय रहता है क्योंकि मुद्रा संकुचन का क्रम एकबार शुरू होने पर धीरे–धीरे भयंकर रूप धारण कर लेता है। लोगों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन अस्त–व्यस्त हो जाता है, उत्पादन साधन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं तथा देश की अर्थव्यस्था खोखली हो जाती है।

1.14 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा स्फीति किसे कहते हैं? स्फीति के कारण को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा स्फीति का विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 3- मुद्रा स्फीति रोकने के उपाय का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4- मन्दी किसे कहते हैं? इसके क्या कारण हैं?

प्रश्न 5- मन्दी से विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभाव को समझाइये।

प्रश्न 6- "मुद्रा–स्फीति अन्यायपूर्ण है और अवस्फीति अनुपयुक्त। इन दोनों में अवस्फीति अधिक खराब है।" विवेचना कीजिए।

1.15 शब्दावली

संस्फीति : Reflation

अपस्फीति	:	Disiflation
अवसाद	:	Recession
अति उत्पादन	:	Over Production
समग्र पूर्ति	:	Aggregate Supply
उत्पत्ति ह्रास नियम	:	Law of Diminishining Returns

1.16 संदर्भ सूची

G. Ackley	:	Macro Economic Theory (1961) Chap. 16
F. S. Brooman	:	Macro Economics (4th ed, Chap. 13)
A. Day	:	Outline of Monetary Economics (1957, Chap. 18-22)
R. F. Harrod	:	Money (1969) Chap, 6
M. Stewart	:	Keynes and After (1961) Chap. 8

इकाई–2 स्फीति के सिद्धान्त

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 स्फीतिक अन्तराल
2.3 स्टैगफ्लेशन
2.4 फिलिप्स वक्र
2.5 मुद्रा स्फीति तथा आर्थिक विकास
2.6 सारांश
2.7 बोध प्रश्न
2.8 शब्दावली
2.9 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत मुद्रा स्फीति के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया जा रहा है जिसके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है।

1. इस बात का पता लगाना कि मांग में अत्यधिक वृद्धि से कीमतें क्यों बढ़ती हैं?
2. इस बात की जानकारी प्राप्त करना कि लागत में वृद्धि कीमत वृद्धि को किस प्रकार प्रभावित करती है?
3. इस बात की जानकारी प्राप्त करना कि मुद्रा स्फीति दर और बेरोजगारी दर के बीच किस प्रकार का संबंध पाया जाता है?
4. जब मुद्रा स्फीति और बेरोजगारी दर दोनों साथ–साथ होती है तो आर्थिक विकास किस प्रकार शिथिल हो जाता है?
5. मुद्रा स्फीति का आर्थिक विकास के साथ किस प्रकार का संबंध होता है? इस बात का पता लगाना।

माँग–प्रेरित स्फीति एवं लागत प्रेरित (Demand Pull Inflation and Cost Push Inflation)-

2.1 प्रस्तावना

कुछ अर्थशास्त्रियों ने स्फीति के कारणों से सम्बन्धित मुख्य रूप से दो विचारधाराओं को प्रस्तुत किया है। एक के अनुसार मुद्रा–स्फीति अतिरिक्त माँग की शक्ति द्वारा खींची जाती है। दूसरी विचारधारा के अनुसार उत्पादन की लागतों में वृद्धि मुद्रा–स्फीति के क्रम को धकेलती (Cost Push) है। परन्तु वास्तव में माँग तथा लागत दोनों में ही वृद्धि एक–दूसरे से सम्बन्धित होती हैं और सम्मिलित रूप से मुद्रा स्फीति को बढ़ाती है। दोनों शक्तियों के स्वरूप को अलग स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) माँग प्रेरित स्फीति (Demand Pull Inflation)– कुछ व्यक्तियों की धारणा यह है कि माँग प्रेरित स्फीति का काल युद्ध समाप्ति के पश्चात् होता है, क्योंकि युद्धकालीन नियन्त्रणों के समाप्त होने से विशाल क्रय शक्ति मुक्त हो जाती जिससे प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि हो जाती है। माँग–प्रेरित स्फीति सिद्धान्त के अनुसार स्फीति की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब वर्तमान कीमतों पर वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग इनकी कुल उपलब्ध पूर्ति की तुलना में अधिक होती है। ऐसी स्थिति में अर्थव्यस्था में कुल माँग वक्र ऊपर दाहिनी ओर खिसक जाता है, जबकि कुल पूर्ति वक्र नीचे दाहिनी ओर नहीं खिसक पाता। फलस्वरूप नई स्थिति में नये माँग वक्र तथा पुराने पूर्ति वक्र के मध्य सन्तुलन ऊँचे मूल्य स्तर पर स्थापित होता है। इसे संलग्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

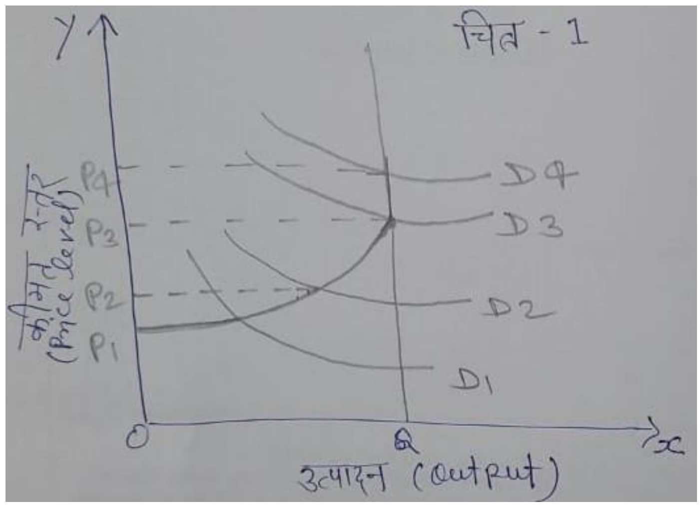

चित्र– 1 माँग प्रेरित स्फीति

उपरोक्त रेखाचित्र में जब पूर्ति वक्र S की स्थिति स्थिर होती है, तब माँग वक्र D_1 क्रमशः माँग वक्र D_2 D_3 तथा D_4 तथा D_5 की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, परिणामस्वरूप मूल्य स्तर P_1 से बढ़कर P_2, P_3, P_4 व P_5 हो जाता है, परन्तु मूल्य वृद्धि सभी परिस्थितियों में समान नहीं है। जब कुल माँग वक्र D_1 से ऊपर की ओर खिसककर D_2 तथा D_3 माँग वक्र की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब मूल्य स्तर तथा कुल उत्पादन में साथ–साथ वृद्धि होती है, परन्तु D_3 की स्थिति प्राप्त हो जाने के पश्चात् पूर्ण रोजगार उत्पादन OQ प्राप्त हो जाने के कारण माँग में और वृद्धि होने पर केवल मूल्यों में ही वृद्धि होती है यह पूर्ण स्फीति की स्थिति है। D_1 से D_3 के मध्य अपूर्ण स्फीति या आंशिक स्फीति की स्थिति है।

अर्थशास्त्री विक्सेल (Wicksel) तथा कीन्स (Keynes) ने भी माँग की स्फीति वृद्धि के कम को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

कीन्स के विचारानुसार स्फीति की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब पूर्ण रोजगार के स्तर पर कुल माँग, कुल पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है। यदि माँग में वृद्धि के साथ–साथ उत्पादन में भी वृद्धि होती है तो अतिरिक्त माँग की स्थिति कीमतों पर अधिक प्रभाव नहीं डालेगी। परन्तु पूर्ण रोजगार के स्तर पर माँग बढ़ने से उत्पादन नहीं बढ़ेगा, अतिरिक्त माँग बढ़ेगी और पूर्ण स्फीति की स्थिति उत्पन्न होगी।

लागत–प्रेरित स्फीति (Cost-Push Inflation)– लागत–प्रेरित स्फीति की स्थिति किस प्रकार उत्पन्न होती है, उसका वर्णन पॉल एवं हॉरविट्ज (Paul and M. Horvitz) ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि– "लागत प्रेरित स्फीति उस समय उत्पन्न हुई कही जाती है जब लागत में वृद्धि होने के कारण व्यापारिक संस्थायें वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ा देती हैं, यद्यपि मौद्रिक मूल्य स्तर पर उस वस्तु की माँग में कोई वृद्धि नहीं हुई है।"

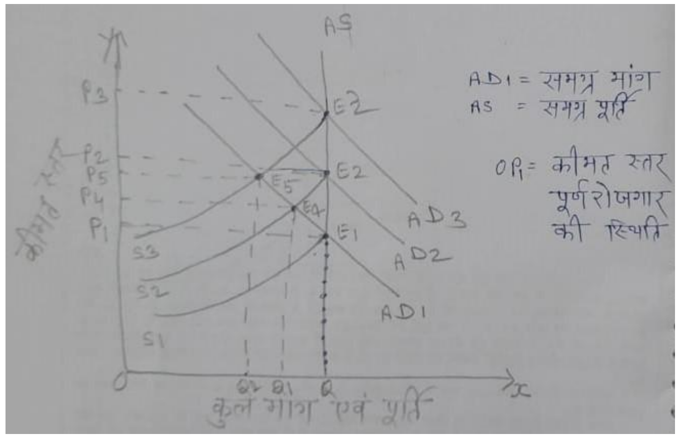

चित्र– 2 लागत प्रेरित स्फीति

लागत–प्रेरित स्फीति, मजदूरी प्रेरित स्फीति (Wage-Induce Inflation) के समान होती है, श्रमिक संघ अधिक शक्तिशाली होने के कारण मजदूरी में वृद्धि कराने में सफल हो जाते हैं। यद्यपि उनकी उत्पादन क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई है और न ही वस्तुओं की माँग में कोई वृद्धि है। व्यापारिक वर्ग बढ़ी हुई मजदूरी का भुगतान अपने लाभ में से न करके उत्पादन लागत को बढ़ाकर ही सहन करना चाहते हैं जिसका परिणाम वस्तु की पूर्ति लागत का बढ़ जाना होता है, क्योंकि माँग स्थिर है इसलिये मूल्यों के बढ़ जाने के कारण बिक्री की सम्भावनायें कम हो जाती है और बेरोजगारी का भय उत्पन्न हो जाता है इस विचारधारा का स्पष्टीकरण उपरोक्त चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

उपर्युक्त चित्र में मूल्य में वृद्धि होने के कारण पूर्ति वक्र S से ऊँचा होकर S_1 हो जाता है तथा उत्पादन Q_0 से घटकर Q_1 हो जाता है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाकर माँग को D_1 तक ला सकती है, परन्तु ऐसा मुद्रा–स्फीति की लागत पर ही हो सकता है। केन्द्रीय बैंक साख को नियन्त्रित कर माँग को बढ़ाकर D_2 तक लाने का भी प्रयास कर सकती है। ऐसा करने से मौलिक मूल्य P_1 को प्राप्त तो किया जा सकता, परन्तु बेरोजगारों में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि उत्पादन Q_1 से घटकर Q_2 हो जाता है। इस प्रकार लागत–प्रेरित स्फीति में घटनाओं का क्रम इस प्रकार रहता है– ऊँची मजदूरी→ऊँची लागत तथा ऊँचे मूल्य→माँग में कमी तथा बेरोजगारी→बेरोजगारी को कम करने के लिये मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि।

2.2 स्फीतिक अन्तर

मुद्रा–स्फीति की व्याख्या में प्रो. केन्स ने स्फीतिक–अन्तर (Inflationary gap) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह विचार उस स्थिति का निरूपण करता है जिसमें मुद्रा–स्फीति के पूर्व (pre-Inflation) कीमतों पर आय का वह भाग जिसे व्यय करने की सम्भावना होती है, उपलब्ध उत्पादन अथवा पूर्ति की मात्रा से अधिक होता है। उपलब्ध उत्पादन रोजगार की मात्रा तथा उत्पादन की तकनीकी (technical) दशाओं पर निर्भर करता है। सम्भावित अथवा नियोजित व्यय (planned expenditure) उपभोग (C), निवेश (I) तथा सरकारी व्यय (G) द्वारा निर्धारित होता है। जब समाज द्वारा नियोजित व्यय की मात्रा कुल उपलब्ध उत्पादन के मूल्य से (मुद्रा–स्फीति के पूर्व–कीमतों के आधार पर) अधिक होती है तो स्फीतिक–अन्तर उत्पन्न हो जाता है। मान लीजिए, किसी देश की कुल आय 1,000 करोड़ रुपये है, जिसमें से 100 करोड़ रुपये करों के रूप में लोगों से लिये गये हैं। अब लोगों के पास व्यय के लिए 900 करोड़ रुपये हैं। परन्तु यदि उपलब्ध उत्पादन, स्थिर कीमतों के आधार पर, 800 करोड़ रुपये के मूल्य का ही है, तो स्फीतिक–अन्तर 900 - 800 = 100 करोड़ रुपये होगा।

प्रस्तुत रेखाचित्र में वास्तविक आय को OX तथा नियोजित व्यय OY को रेखाओं पर दिखाया गया है। C रेखा द्वारा उपभोग, C + I द्वारा उपभोग तथा निवेश, और C + I + G द्वारा उपभोग, निवेश तथा सरकारी व्यय को व्यक्त किया गया है। आय के OM स्तर पर लोगों तथा सरकार द्वारा उपभोग व निवेश के रूप में किया

गया कुल व्यय (C + I + G) वर्तमान कीमतों पर कुल आय OM के बराबर है। इस बिन्दु पर वर्तमान कीमतों के आधार पर पूर्ण–रोजगार की स्थिति विद्यमान है। इस प्रकार आय तथा व्यय सन्तुलित अवस्था में है और स्फीतिक–अन्तर की मात्रा शून्य है। अब यदि किसी कारणवश सरकारी व्यय (G) में वृद्धि हो जाती है, तो सन्तुलन बनाये रखने के लिए वास्तविक आय अथवा कुल उत्पादन में भी उस अनुपात में वृद्धि होनी चाहिए, अर्थात वास्तविक आय में MM' वृद्धि होना आवश्यक है, अन्यथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होगी और कीमत–स्तर में वृद्धि होगी। C + I + G' रेखा, जो बढ़े हुए सरकारी व्यय को दिखाती है, तथा C + I + G रेखा में अन्तर (ab) स्फीति–अन्तर को दिखाता है। यह अन्तर तब तक बना रहेगा जब तक वास्तविक आय में MM' के बराबर वृद्धि नहीं होती। आय में वृद्धि होने पर स्फीतिक–अन्तर समाप्त हो जायेगा तथा कीमतों का बढ़ना रुक जायेगा।

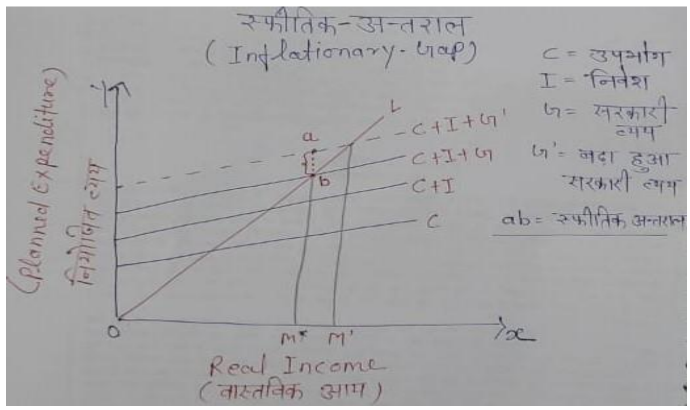

चित्र– 3 स्फीतिक अन्तराल (Inflationary gap)

स्फीतिक–अन्तर की धारणा में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित है :

(1) मुद्रा–स्फीति एक प्रावैगिक क्रम है जबकि स्फीतिक–अन्तर की व्याख्या का स्वरूप स्थैतिक है। इससे कीमत–स्तर की स्थिरता की स्थिति का पता चलता है, परन्तु यह मुद्रा–स्फीति की गति का विश्लेषण नहीं करती है।

(2) स्फीतिक–अन्तर विश्लेषण आय और व्यय के चालू प्रवाह से सम्बन्धित है, जबकि व्यावहारिक रूप में कीमतें पहले से अर्जित आय की मात्रा, जोकि लोगों के पास नकद–कोष के रूप में है, तथा पहले से उत्पादित वस्तुओं के भण्डार से भी प्रभावित होती है।

(3) स्फीतिक–अन्तर का आधार अतिरिक्त माँग है, जबकि कीमतें लागतों में वृद्धि से भी प्रभावित होती है।

(4) स्फीतिक–अन्तर का सम्बन्ध ऐसी स्थिति से है जिसमें कीमतों की वृद्धि को रोकने के प्रयास नहीं किये जाते हैं। व्यावहारिक स्थिति यह है कि सरकार मौद्रिक, राजकोषीय तथा अन्य नीतियों तथा उपायों के द्वारा मुद्रा–स्फीति रोकने का प्रयास करती है।

2.3 निस्पन्द–स्फीति

द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में संसार के अधिकांश देशों में तेजी से आर्थिक विकास हुआ है। विशेष रूप से औद्योगिक देशों ने बड़ी महत्वपूर्ण प्रगति की है। परन्तु निकटस्थ के कुछ वर्षों में, विशेषतया 1973 के बाद, अधिकांश औद्योगिक देशों की अर्थ–व्यवस्थाओं को एक नये प्रकार के आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा है। इन देशों में मुद्रा–स्फीति की दर काफी ऊँची हो गयी है। दूसरी ओर आर्थिक विकास की गति में शिथिलता आयी है। इस प्रकार आर्थिक विकास में तो स्थिरता अथवा शिथिलता (recession) तथा कीमतों में तेजी से वृद्धि की स्थिति को व्यक्त करने के लिए निस्पन्द–स्फीति अथवा स्टेगफ्लेशन (Stagflation) तथा 'स्लम्पफ्लेशन' (Slumpflation) जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'Stagflation' वह स्थिति है जिसमें

'Stagnation' (अर्थात् आर्थिक निष्क्रियता) और 'Inflation' एक साथ मौजूद हों। एक साथ मौजूद हों। यह आर्थिक निष्क्रियता तथा मुद्रा–स्फीति की मिश्रित स्थिति है।

निस्पन्द–स्फीति सामान्य बेरोजगारी तथा मुद्रा–स्फीति का सम्मिलित रूप है। इसमें मुद्रा–स्फीति तथा शिथिलता (recession) दोनों साथ–साथ रहते हैं। कीमतों और मजदूरी–दरों में वृद्धि होने के बावजूद लोगों द्वारा रोजगार पाने में कठिनाई होती है। साथ ही जितना उद्योगों द्वारा माल का उत्पादन होता है उसके लिए उतनी माँग अथवा बिक्री नहीं हो पाती है। निस्पन्द–स्फीति तथा स्फीतिक एक व्यापक धारणा है–जिसमें स्फीतिक प्रतिसार का तो समावेश होता ही है साथ ही मुद्रा–स्फीति तथा सामान्य बेरोजगारी भी सम्मिलित होते हैं।

1973 में तेल उत्पादक देशों (OPEC) द्वारा तेल की कीमतें बढ़ा दी गयीं। तेल की कीमतों में लगभग चौगुनी वृद्धि के प्रभाव में ईंधन के लिए तेल, पेट्रोलियम पदार्थों तथा निर्मित पदार्थों की कीमतें बढ़ गयी। इन परिस्थितियों में औद्योगिक देशों में कीमतें तो बढ़ी, परन्तु साथ ही बेरोजगारी में भी वृद्धि हुई। 1973 से 1975 तक की अवधि आर्थिक शिथिलता की थी।

1983 में यूरोपीय देशों में बेरोजगारी की दर 11 प्रतिशत थी, जबकि औद्योगिक देशों में बेरोजगारी का औसत स्तर 8.75 प्रतिशत था। इन वर्षों में कीमतें निरन्तर बढ़ रही थीं। 1980 से 1982 के बीच कीमतों में वृद्धि की वार्षिक औसत 9.0 प्रतिशत थी। गत वर्षों में स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है। 1990 से 1993 के बीच औद्योगिक देशों में आर्थिक शिथिलता में बावजूद कीमतों की वृद्धि दर 3 प्रतिशत वार्षिक लगभग स्थिर रही है।

विकासशील देशों में विकास की भारशील औसत दर (weighted average) 1981 से 1983 तक के तीन वर्षों में यह क्रमशः 1.3 प्रतिशत, 1.7 प्रतिशत तथा 1.9 प्रतिशत रही थी। बाद के वर्षों में विकास–दर बढ़ी है। अन्य देशों की तुलना में एशिया के देशों की विकास दर ऊँची रही है। 1992 से 1995 तक के वर्षों में वार्षिक औसत विकास दर 6 प्रतिशत के लगभग रही है। दूसरी ओर इन देशों में कीमत–वृद्धि की समस्या इनकी प्रमुख समस्या बन गयी है। अधिकांश देशों में कीमत–वृद्धि की वार्षिक दर 10 प्रतिशत से अधिक है। विकासशील देशों में व्यापक बेरोजगारी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भुगतान–सन्तुलन तथा व्यापार–शर्तों की स्थिति इन देशों के प्रतिकूल बेरोजगारी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भुगतान–सन्तुलन तथा व्यापार–शर्तों की स्थिति इन देशों के प्रतिकूल है। ये देश गम्भीर आर्थिक संकट का सामना कर रहे हैं। इस प्रकार विकासशील देशों में निस्पन्द–स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा–स्फीति तथा औद्योगिक शिथिलता का सम्मिश्रण होता है। मुद्रा–स्फीति के बावजूद औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि नहीं अथवा बहुत कम होती है।

वास्तव में निस्पन्द–स्फीति के अनेक कारण रहे हैं, जैसे मुद्रा की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि, धनी देशों के विदेशी व्यापार में घाटा, मजदूरी दरों में अप्रत्याशित वृद्धि, प्राकृतिक कारणों के प्रभाव में उत्पादन में कमी, तेल और कोयले की कीमतों में वृद्धि के प्रभाव में उत्पादन–लागत में वृद्धि इत्यादि। वास्तविकता तो यह है कि निस्पन्द–स्फीति का मुख्य कारण लम्बे समय तक मुद्रा–स्फीति की स्थिति बने रहना है।

स्मरण रहे कि निस्पन्द–स्फीति (stagflation) तथा शिथिलता (recession) एक–दूसरे से भिन्न हैं। शिथिलता का उपचार मौद्रिक तथा राजकोषीय प्रोत्साहनों द्वारा किया जा सकता है, जबकि निस्पन्द–स्फीति के उपचार के लिए मुद्रा–स्फीति को नियन्त्रित करना आवश्यक है।

स्पष्ट है कि वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में कीमतों में निरन्तर वृद्धि की स्थिति का विकास–दर तथा रोजगार–स्तर के साथ कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं रह गया है। निस्पन्द–स्फीति की स्थिति में कीमतें बढ़ती हैं परन्तु उत्पादन में शिथिलता अथवा कमी आती है। इस स्थिति की व्याख्या पुराने सिद्धान्तों के आधार पर नहीं की जा सकती है। इसकी व्याख्या में अर्थशास्त्रियों ने पूर्ति पक्ष को अधिक महत्व दिया है।

निस्पन्द–स्फीति का उपचार

बेरोजगारी के उपचार के लिए प्रो. केन्स ने अर्थ–व्यवस्था में कुल माँग के पक्ष को महत्वूर्ण माना था। केन्सवादियों के विचार में कुल माँग में परिवर्तन के द्वारा अर्थ–व्यवस्था में अल्पकालीन स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत, निस्पन्द–स्फीति की स्थिति में अनेक अर्थशास्त्र के समर्थक अल्पकालीन परिवर्तनों के

बजाय दीर्घकालीन विकास के निर्धारक तत्वों को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। अर्थ–व्यवस्था में उत्पादन की कुल पूर्ति ऐसे तत्वों पर निर्भर करती है जिनसे कार्य, बचत तथा निवेश से सम्बन्धित प्रेरणाएँ प्रभावित होती हैं। सामान्य रूप से निस्पन्द–स्फीति को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाना आवश्यक होता है–

(1) मुद्रा–स्फीति पर नियन्त्रण के उद्देश्य से उचित मौद्रिक तथा राजकोषीय उपायों का प्रयोग।

(2) समष्टि आर्थिक नीति का आर्थिक विकास के पक्ष में होना।

(3) भुगतान–सन्तुलन अनुकूल बनाये रखना।

(4) निवेश बढ़ाने के सही उपाय अपनाना

(5) देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग सुनिश्चित करना।

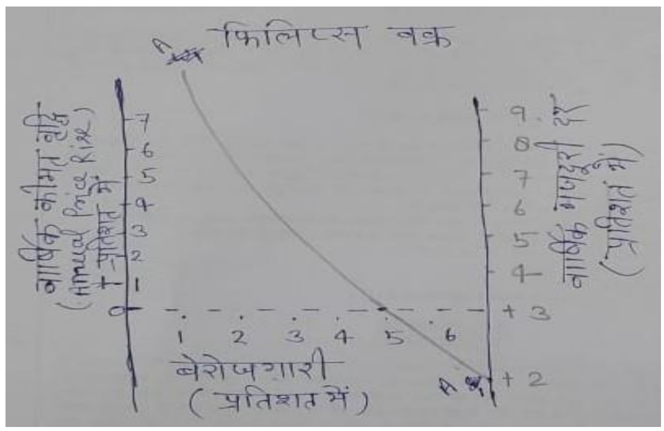

2.4 फिलिप्स वक्र

माँग–प्रेरित स्फीति को बहुधा मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयास किया जाता है, लेकिन लागत–प्रेरित स्फीति पर नियन्त्रण करने के सन्दर्भ में मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का योगदान स्पष्ट नहीं है। मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के द्वारा कुल प्रभावी माँग को कम करके स्फीति पर नियन्त्रण किया जाता है। लेकिन लागत–प्रेरित स्फीति उत्पन्न होने का कारण प्रभावी माँग में होने वाली वृद्धि नहीं है। लागत प्रेरित स्फीति मजदूरी लागत में वृद्धि का परिणाम होती है। अतः श्रम की उत्पादन क्षमता में वृद्धि के परिणाम स्वरूप मजदूरी दर में होने वाली वृद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से मजदूरी की दरों में होने वाली वृद्धि को नियन्त्रित करके लागत प्रेरित स्फीति को नियन्त्रित किया जाता है।

चित्र 4- मजदूरी वृद्धि दर तथा बेरोजगारी वृद्धि दर के मध्य सम्बन्ध का विश्लेषण–फिलिप्स वक्र के द्वारा

मजदूरी दर में होने वाली वृद्धि को नियन्त्रित करके लागत प्रेरित स्फीति को नियन्त्रित करने की नीति के अन्तर्गत यह सम्भव है कि अर्थव्यवस्था में इतनी अधिक बेरोजगारी उत्पन्न हो जाये जो सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अवांछनीय हो। मजदूरी लागत कुल उत्पादन लागत का एक महत्वपूर्ण भाग होने के कारण कीमत पर अत्यधिक प्रभाव डालती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी वृद्धि दर तथा बेरोजगारी वृद्धि दर के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है इस सम्बन्ध को फिलिप्स वक्र विश्लेषण के द्वारा किया जा सकता है।

फिलिप्स वक्र एक ऐसा वक्र है जो अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की प्रतिशत बेरोजगारी तथा मजदूरी की प्रतिशत वृद्धि में सम्बन्ध स्पष्ट करता है, जो अनेक वर्षों में मजदूरी तथा बेरोजगारी में वृद्धि सम्बन्धी सांख्यिकीय समंकों द्वारा व्युत्पन्न किया जा सकता है। फिलिप्स वक्र ऋणात्मक ढालू होगा जैसे कि अग्रांकित चित्र में अंकित है।

अग्रांकित चित्र में AA वक्र फिलिप्स वक्र जो बायीं ओर से दायी ओर को नीचे की ओर ढालू है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि अर्थव्यवस्था में मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि की दर तथा बेरोजगारी की दर में

परस्पर विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। इससे आशय यह है कि यदि समाज की बेरोजगारी उच्च दर को स्वीकृत करने को तैयार है, तो मजदूरी वृद्धि स्फीति को समाप्त किया जा सकता है, परन्तु यह जरूरी नहीं है कि मौद्रिक मजदूरी की दर में होने वाली प्रत्येक वृद्धि स्फीति उत्पन्न करे ही। वास्तविकता यह है कि केवल वही मजदूरी वृद्धि का परिणाम नहीं होती। उपरोक्त चित्र में रेखा श्रम की उत्पादकता में प्रतिशत वृद्धि प्रदर्शित करती है तथा मौद्रिक मजदूरी दर में प्रतिशत वृद्धि स्फीति उत्पन्न नहीं करेगी।

2.5 मुद्रा–स्फीति तथा आर्थिक विकास

कीमत–स्तर में परिवर्तनों का आर्थिक विकास पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ता है। कीमतें न केवल उत्पादन की मात्रा को प्रभावित करती हैं बल्कि आय को भी और आय में परिवर्तन के द्वारा उपभोग–स्तर भी प्रभावित होता है। कीमतें ही बचत तथा विनियोग की मात्रा को निर्धारित करती है। प्रत्येक अर्थ व्यवस्था नियोजित तथा अनियोजित, विकसित अथवा विकासशील दे"ाों में कीमतों का काफी विस्तृत प्रभाव होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक विकास में किस प्रकार की कीमतें अधिक सहायक होती हैं। प्रमुख अर्थशास्त्रियों में अनेक ऐसे हैं जिनके विचार में बढ़ती हुई कीमतें (अथवा मुद्रा–स्फीति) किसी न किसी प्रकार से आर्थिक विकास में सहायक होती है, और वे कुछ अंशों में मुद्रा–स्फीति को अनिवार्य भी समझते हैं। उदाहरणार्थ, केन्स ने विकास के लिए उपयुक्त वातावरण के लिए बढ़ते हुए कीमत–स्तर को आवश्यक समझा तथा अनेक देशों में आर्थिक विकास का श्रेय लाभ–स्फीति (profit inflation) को दिया। प्रो• रोस्टोव ने भी इस बात का समर्थन किया है कि अनेक देशों के विकास में मुद्रा–स्फीति का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कुछ समय पूर्व तक अधिकांश अमेरिकी अर्थशास्त्रियों की यह धारणा रही है कि कीमतें स्थिर रहने पर बेरोजगारी में वृद्धि हो सकती है।

प्रो. आर्थर लेविस (Arthur Lewis) के विचारानुसार, मुद्रा–स्फीति आर्थिक विकास की ही एक उपज हो सकती है। निवेश में वृद्धि से मौद्रिक आय में वृद्धि होती है परन्तु उत्पादन में तत्काल वृद्धि नहीं होती, निर्माण–कार्यों को पूरा होने में कुछ समय लगता है। परिणामस्वरूप, माँग तथा पूर्ति के असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है जो मुद्रा–स्फीति को जन्म देती है। निवेश की मात्रा की तुलना में बचत की मात्रा का कम होना स्थिति को और भी जटिल बना देता है। एक विकासोन्मुख अर्द्ध–विकसित अर्थ–व्यवस्था में तो मुद्रा–स्फीति से बचना अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि उत्पादन का ढाँचा पिछड़ा होने के कारण उत्पादन में उस तेजी से वृद्धि नहीं हो पाती जिस तेजी से वस्तुओं के लिए माँग बढ़ती है। ऐसे देशों में कमी के कारण हीनार्थ–प्रबन्धन (deficit financing) की मात्रा भी काफी अधिक होती है।

जो लोग आर्थिक विकास के लिए मुद्रा–स्फीति को आवश्यक समझते हैं, उनके तर्क मुख्य रूप से ये हैं–

(1) मुद्रा–स्फीति की दशा से निवेश में वृद्धि होती है तथा रोजगार बढ़ता है।

(2) अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है।

(3) विकास के लिए राष्ट्रीय प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि मुद्रा–स्फीति की स्थिति का सामना करने के लिए अधिक उत्पादन तथा आय की आवश्यकता समझी जाती है।

(4) विदेशी पूँजी का आयात बढ़ता है जो विकास में सहायक होता है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगता है कि मुद्रा–स्फीति के पक्ष में दिये गये तर्क केवल मुद्रा–स्फीति के गुणों वाले पहलू ही देखते हैं तथा इसके दोषों को भूल जाते हैं। मुद्रा–स्फीति के जो कुछ भी लाभ बताये जाते हैं उनमें सच्चाई का अंश बहुत ही कम है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मुद्रा–स्फीति के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। यदि कुछ लाभ हैं तो केवल कुछ वर्गों के लिए ही, जिसके कारण आर्थिक विषमताओं अथवा असमानताओं में वृद्धि होती है तथा आर्थिक व सामाजिक न्याय की अवहेलना होती है। उत्पत्ति के ढाँचे में ऐसे परिवर्तन होते हैं। जिनका उद्देश्य अधिक व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करना होता है, सामाजिक हितों की रक्षा करना नहीं। जो कुछ नियन्त्रण लगाये जाते हैं, वे प्रभावपूर्ण नहीं हो पाते तथा मुद्रा की विनिमय–दर गिरने लगती है।

2.6 सारांश

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसे में मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा–प्रसार एक महत्वपूर्ण घटना है। जिसके अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। कीन्स का कहना है कि पूर्ण रोजगार की अवस्था तक पहुंचने के पूर्व यदि मुद्रा की मात्रा का प्रसार होता है तो उसका एक भाग तो रोजगार के विस्तार में सहायक होगा परन्तु दूसरा भाग उत्पादन लागत में वृद्धि द्वारा कीमतों को बढ़ायेगा। पूर्ण रोजगार की अवस्था के पूर्व की इस स्थिति को केन्स ने अर्द्ध स्फीति कहा है। पूर्ण रोजगार के बिन्दु तक पहुंचने के बाद यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है तो यह रोजगार को तो बढ़ायेगी नहीं क्योंकि उत्पादन के अन्य साधनों का पूर्ण उपयोग हो चुका है, इससे केवल कीमतें ही बढ़ेंगी। कीमतों में स्थिरता रहने पर जनता का सरकार के नीतियों के प्रति तथा मुद्रा के मूल्य के प्रति विश्वास बढ़ता है, बचत की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, पूंजी निमार्ण तथा निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है एवं आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

2.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- 'मांग प्रेरित स्फीति' तथा 'लागत प्रेरित स्फीति' को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा स्फीति एवं आर्थिक विकास की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 3- फिलिप्स वक्र की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4- स्फीतिक अन्तराल को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5- निस्पन्द स्फीति से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए।

2.8 शब्दावली

निस्पन्दन स्फीति	:	Stagflation
अर्द्ध स्फीति	:	Semi-Inflation
मांग प्रेरित स्फीति	:	Demand Pull Inflation
लागत प्रेरित स्फीति	:	Cost Push Inflation
समग्र मांग	:	Aggregate Demand
समग्र पूर्ति	:	Aggregate Supply
उत्पत्ति ह्रास नियम	:	Law of Diminishining Returns

2.9 संदर्भ सूची

G. Ackley	:	Macro Economic Theory (1961) Chap. 16
F. S. Brooman	:	Macro Economics (4th ed, Chap. 13)
A. Day	:	Outline of Monetary Economics (1957, Chap. 18-22)
F Harrod	:	Money (1969) Chap, 6
M. Stewart	:	Keynes and After (1961) Chap. 8

इकाई–3 ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 सकल ब्याज तथा शुद्ध ब्याज
3.3 ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धांत
3.4 ब्याज का ऋण देय कोष सिद्धांत
3.5 सारांश
3.6 बोध प्रश्न
3.7 शब्दावली
3.8 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत ब्याज दर निर्धारण के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का अध्ययन किया जा रहा है। इस अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. इस बात का पता लगाना कि ब्याज किसे कहते हैं? शुद्ध ब्याज तथा सकल ब्याज में क्या अन्तर है?
2. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के द्वारा ब्याज दर का निर्धारण किस प्रकार होता है? इस बात का पता लगाना।

3.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय आय का वह भाग जो वितरण की प्रक्रिया में पूँजीपति को उसकी पूँजी के प्रयोग के बदले में दिया जाता है, ब्याज कहलाता है। अन्य शब्दों, ब्याज पूँजी की सेवाओं की कीमत अथवा पुरस्कार है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा समय–समय पर ब्याज की भिन्न–भिन्न परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

प्रो० मेयर्स (Meyers) के अनुसार, "ब्याज वह कीमत है जो ऋण–देय कोषों के प्रयोग के बदले दी जाती है। ऋणदेय कोषों (Loanable funds) का उपयोग या तो उपभोक्ता वस्तुओं के क्रय हेतु किया जाता है अथवा उत्पादन कार्य हेतु पूँजी के रूप में किया जाता है। अर्थशास्त्र में हम मुख्य रूप से इसके दूसरे उपयोग से ही मतलब रखते हैं।"

प्रो० नट विक्सेल (Knut Wicksell) के अनुसार, "ब्याज ऐसे भुगतान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि पूँजी उधार लेने वाला, पूँजीपती को उसके ब्याज और पूँजी की उत्पादकता के पुरस्कार स्वरूप प्रदान करता है।"

कीन्स (Keynes) के अनुसार, "ब्याज एक निश्चित अवधि के लिए तरलता के परित्याग का पुरस्कार है।"

कार्वर (Carver) के शब्दों में, "ब्याज वह आय है जो पूँजी के स्वामी को प्राप्त होती है।"

मिल (Mill) के अनुसार, "ब्याज केवल उपभोग से परहेज (या विरत रहने) का पुरस्कार है।"

इसी तरह प्रो० फिशर (Fisher) की धारणा थी कि ब्याज समय–अधिमान का पुरस्कार होता है, क्योंकि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को ज्यादा महत्व देते हैं। अतः उन्हें वस्तुओं के उपभोग को वर्तमान से भविष्य के लिए स्थगित करने की प्रेरणा तभी प्राप्त होगी जब ब्याज के रूप में उनकी क्षति–पूर्ति की जाय। इस तरह

ब्याज की परिभाषा की मत–वैभिन्नता के बावजूद उपर्युक्त परिभाषाएँ इस सामान्य तथ्य की ओर इंगित करती हैं कि ब्याज पूँजी के प्रयोग का प्रतिफल है।

3.2 सकल तथा शुद्ध ब्याज

ब्याज का अर्थ समझने के लिए सकल ब्याज तथा शुद्ध ब्याज के मध्य अंतर को समझना आवश्यक है। केवल ब्याज से तात्पर्य उस कुल भुगतान से है जो ऋणी द्वारा ऋणदाता को उसकी पूँजी उधार लेने के फलस्वरूप किया जाता है। सकल ब्याज में शुद्ध ब्याज (अर्थात केवल पूँजी का प्रतिफल) के अतिरिक्त अन्य कई बातों का पुरस्कार भी सम्मिलित रहता है। इस सम्बंध में प्रो० चैपमैन (Chapman) ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सकल ब्याज में शुद्ध ब्याज अर्थात पूँजी के पुरस्कार के अतिरिक्त जोखिम का पुरस्कार जिसमें व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक जोखिम, ऋण वसूल करने की असुविधाएँ, परेशानियाँ तथा व्यवस्था आदि का पुरस्कार भी सम्मिलित रहता है।"

3.3 ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

ब्याज निर्धारण के प्रतिष्ठित अथवा क्लासिकीय (Classical) सिद्धान्त का विकास एवं प्रतिपादन प्रो० रिकार्डो, मा"ंल, पीगू आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया तथा कैसल, वालरस, टॉसिंग आदि ने इसे अपना समर्थन दिया। इस सिद्धान्त की धारणा के अनुसार, ब्याज की दर का निर्धारण पूँजी की माँग और पूर्ति के द्वारा होता है। पूँजी की माँग से तात्पर्य पूँजीगत वस्तुओं में निवेश हेतु बचतों की माँग से है तथा पूँजी का अर्थ बचतों की पूर्ति है। अतः इस सिद्धान्त को पूँजी की माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त कहा जाता है। यह सिद्धान्त ब्याज की दर के निर्धारण में उत्पादकता, मितव्ययिता आदि वास्तविक घ्ज्ञटकों पर बल देता है, अतः इसे ब्याज का वास्तविक सिद्धान्त भी कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार, ब्याज की दर का निर्धारण बचतों की पूर्ति तथा निवेश हेतु बचतों की माँग के संतुलन बिन्दु पर होता है। वास्तव में, वह कीमत है जो बचतों की माँग एवं पूर्ति के बीच संतुलन स्थापित करती है।

पूँजी या बचतों की पूर्ति (Supply of Capital or Savings)- पूँजी अथवा बचतों की पूर्ति समाज में बचतों की मात्रा पर निर्भर करती है। बचतों की मात्रा से अभिप्राय चालू वर्ष की ऐच्छिक बचतों से है। बचतों की पूर्ति अनेक बातों से प्रभावित होती है, जैसे– समाज में लोगों की आय, रहन–सहन का स्तर, दूरदर्शिता तथा ब्याज की दर आदि। क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों का विचार था कि ब्याज की दर ही बचतों की पूर्ति को निर्धारित करने वाला प्रमुख घटक है। बचत करने पर लोगों को वर्तमान उपभोग से वंचित रहना पड़ता है। सामान्यतया लोग ब्याज की ऊँची दर पर अधिक तथा ब्याज की नीची दर पर कम बचत करने को प्रोत्साहित होते हैं। इस प्रकार, बचतों की पूर्ति तथा ब्याज की दर में सीधा एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि बचतों अर्थात् पूँजी का पूर्ति वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर चढ़ता हुआ होता है।

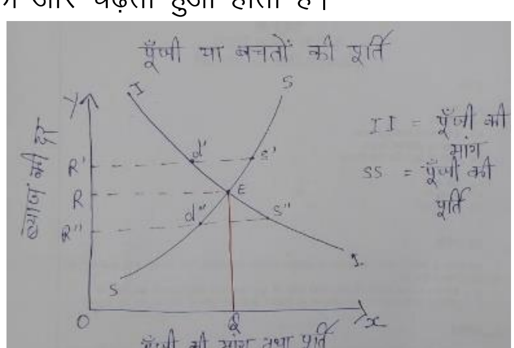

चित्र–3.1 पूँजी या बचतों की पूर्ति

निवेश हेतु बचतों या पूँजी की माँग (Demand for Savings or Capital for Investment)- क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूँजी की माँग इसलिए की जाती है क्योंकि पूँजी उत्पादक होती है। इस तरह ब्याज, पूँजी की उत्पादकता एवं सीमितता के कारण दिया जाता है। पूँजी की माँग से आशय, निवेश हेतु बचतों की माँग से है। उत्पादक वर्ग पूँजीगत वस्तुओं में निवेश इसलिए करते हैं ताकि वे पूँजी के प्रयोग से अधिक उत्पादन कर सकें। हम जानते हैं, पूँजी का प्रयोग जैसे–जैसे बढ़ाया जाता है, उसकी सीमांत उत्पादकता क्रमशः घटती जाती है। अतः उत्पादक पूँजी का प्रयोग तब तक करते जाएँगे जब तक कि पूँजी की सीमांत उत्पादकता गिर कर ब्याज दर के ठीक बराबर नहीं हो जाती। इस प्रकार, क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों के अनुसार, ब्याज की दर पूँजी की माँग की प्रमुख निर्धारक होती है। कम ब्याज की दर पर पूँजी की (बचतों की) माँग बढ़ जाती है और उसके विपरीत ऊँची ब्याज की दर पर पूँजी (अर्थात् बचतों) की माँग कम हो जाती है। स्पष्टतया पूँजी की माँग एवं ब्याज की दर में विपरीत सम्बन्ध होता है। अतः पूँजी का माँग वक्र बाएँ से दाएँ नीचे की ओर गिरता होता है।

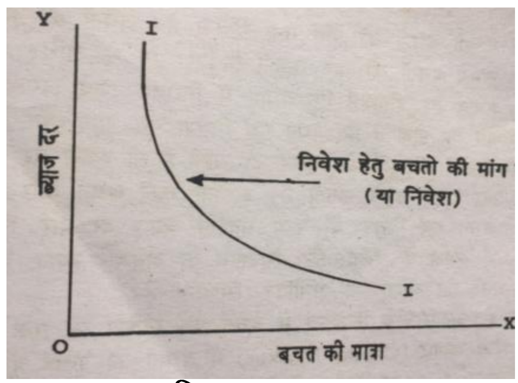

चित्र–3.2

ब्याज की दर का निर्धारण (Determination of The Rate of interest)- क्लासिकीक सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहाँ पूँजी (निवेश हेतु) की

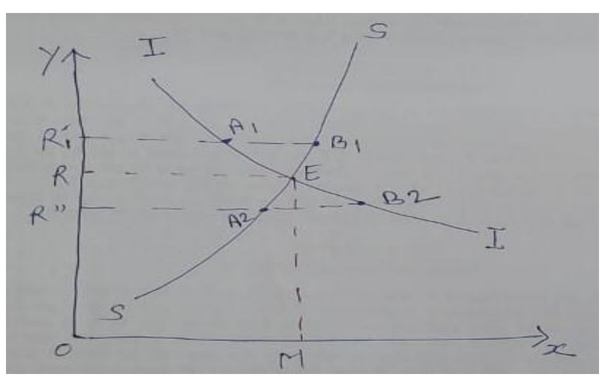

चित्र–3.3 ब्याज की दर का निर्धारण

मांग तथा पूँजी (या बचतों) की पूर्ति बराबर होती है, अर्थात् जहां कुल बचत तथा कुल निवेश के मध्य संतुलन स्थापित होता है। इस प्रकार, ब्याज की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ पूँजी का मांग तथा पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

चित्र में SS बचत वक्र है, जो ब्याज की विभिन्न दरो पर बचतों की पूर्ति को दर्शाता है तथा II निवेश वक्र है, जो ब्याज की विभिन्न दरो पर निवेश हेतु बचतों की माँग (अर्थात् पूँजी की माँग) को प्रदर्शित करता है। दोनों वक्र एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं अर्थात् बिन्दु E संतुलन का बिन्दु है, क्योंकि यहाँ बचतों की पूर्ति OM = बचतों की माँग OM। इस प्रकार, OR अथवा ME संतुलन ब्याज दर है।

जैसा कि चित्र में दिखाया गया है, यदि किसी समय ब्याज की दर बढ़कर OR_1 हो जाती है तो बचतों की पूर्ति (अर्थात् पूँजी की पूर्ति) R_1B_1 उसकी माँग R_1A_1 से अधिक हो जाएगी जिसका प्रभाव यह होगा कि ब्याज की दर गिरने लगेगी और तब तक गिरती रहेगी, जब तक कि बचत एवं निवेश एक दूसरे के बराबर नहीं हो जाते अर्थात ब्याज दर गिरकर पुनः नहीं हो जाती। इसी प्रकार, यदि किसी समय बचत की मात्रा, निवेश की मात्रा से कम है तो ब्याज की दर बढ़ने लगेगी OR और तब तक बढ़ती रहेगी जब तक कि बचत और निवेश एक दूसरे के बराबर नहीं हो जाते और ब्याज की दर बढ़कर OR नहीं हो जाती।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Classical Theory)-

1. यह सिद्धान्त आय के स्तर को स्थिर मानते हुए यह समझाने का प्रयास करता है कि बचतें ब्याज की दर पर निर्भर करती हैं और बचत तथा निवेश के मध्य संतुलन ब्याज की दर में हुए परिवर्तनों पर निर्भर करता है। परन्तु कीन्स ने संकेत किया है कि बचतें ब्याज की दर पर नहीं, बल्कि आय के स्तर पर निर्भर करती हैं।

2. यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोतिगता एवं पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है। इस सम्बन्ध में कीन्स ने स्पष्ट किया है कि वास्तविक समाज में संसाधनों में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं पाई जाती। प्रायः कुछ साधन बेरोजगार रहते हैं, अर्थात अर्थव्यवस्था में सामान्यतया पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति पाई जाती है।

3. यह सिद्धान्त ब्याज–निर्धारण में मौद्रिक तत्वों की उपेक्षा करता है, अतः अव्यावहारिक है। पूंजी की पूर्ति का स्रोत चालू बचतें ही नहीं होती हैं, बल्कि पूँजी की मात्रा के निर्धारण में मुद्रा एवं साख की महत्वपूर्ण होती है।

4. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की इस धारणा पर बचत तथा निवेश ब्याज सापेक्ष होते हैं, केन्स ने कड़ा प्रहार किया। केन्स का विचार है कि बचतें ब्याज की दर पर नहीं बल्कि आय के स्तर पर निर्भर करती हैं।

5. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री प्राकृतिक ब्याज दर और बाजार ब्याज दर में अन्तर नहीं करते थे, उनकी धारणा थी कि यह अन्तर अस्थायी होता है जो दीर्घकाल में समाप्त हो जाता है। परन्तु उनकी इस धारणा का अर्थशास्त्रियों ने विरोध किया और कहा कि एक स्थैतिक अर्थव्यवस्था में तो ऐसा हो सकता है जहाँ बैंकों द्वारा साख–निर्गमन न किया जाता हो, लोग बचतों का आसंचन (hoarding), विसंचन (dishoarding) न करते हों, परन्तु वास्तविक आर्थिक जगत से हमारा सम्बन्ध उसमें मुद्रा निष्क्रिय भूमिका नहीं निभाती। मुद्रा सक्रिय होती है तथा ऋण–देय कोषों की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित कर ब्याज दर के माध्यम से समूची आर्थिक प्रणाली को प्रभवित करती है जिसका परिणाम यह होता है कि बाजार ब्याज दर प्राकृतिक दर से कम या अधिक हो सकती है।

6. केन्स का विचार है कि प्रतिष्ठित अर्थशातिस्त्रयों द्वारा ब्याज की दी गयी परिभाषा भी उचित नहीं है। उनके अनुसार ब्याज आसंचन का पुरस्कार नहीं है बल्कि ब्याज एक निश्चित अवधि के लिए (पूँजी की) तरलता के परित्याग का पुरस्कार है।

7. प्रतिष्ठित सिद्धान्त की सशक्त आलोचना करते हुए केन्स ने कहा कि इस सिद्धांत के आधार पर ब्याज की दर का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में केन्स का तर्क इस प्रकार है–

   प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर, पूँजी की मांग तथा पूँजी की पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है परन्तु पूंजी की पूर्ति अर्थात बचतों की पूर्ति आय के स्तर पर निर्भर करती है। आय की मात्रा निवेश के परिवर्तनों से प्रभावित होती है और निवेश स्वयं ब्याज दर से प्रभावित होती है। क्योंकि ब्याज–दर निवेश तथा आय के स्तर को प्रभावित कर बचतों को प्रभावित करती है। अतः स्पष्ट है कि ब्याज–दर के निर्धारण का प्रतिष्ठित सिद्धांत अनिश्चित है।

3.4 ब्याज का ऋणदेय कोष सिद्धान्त या ब्याज का नव–क्लासिकल सिद्धान्त

ब्याज के ऋणदेय अथवा उधारदेय कोष सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वीडेन के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री 'नट विक्सेल' (Knut Wicksell) ने किया। यह सिद्धान्त, ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धांत का विकसित रूप है, अतः इसे ब्याज का नव–प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Neo-classical Theory of Interest) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त को विकसित करने में गुन्नार मिर्डल, बर्टिल ओहलिन, डी० एच० राबर्टसन, जार्ज० एन० हैम तथा हैबरलर आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विक्सेल ही वह प्रथम अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने ब्याज दर के विश्लेषण में बैंक साख के रूप में एक मौद्रिक तत्व का समावेश किया। इसलिए उनके इस सिद्धान्त को मौद्रिक एवं अमौद्रिक सिद्धान्तों के बीच एक सेतु माना जाता है।

सिद्धान्त का कथन (Statement of the Theory)- ब्याज के ऋणदेय कोष सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण ऋणदेय कोषों की मांग एवं पूर्ति के साम्य बिन्दु पर होता है। ब्याज द रवह कीमत है जो ऋण–देय कोषों की मांग एवं पूर्ति को संतुलित कर देती है। इस प्रकार ब्याज, ऋणदेय कोषों के प्रयोग का पुरस्कार है। ऋणदेय कोष से अर्थ मुद्रा की उस मात्रा से है जिसकी ऋण बाजार (अथवा साख बाजार) में माँग या पूर्ति की जाती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की ही तरह विक्सेल भी इस धारणा के समर्थक थे कि ऋण–देय कोषों की माँग एवं पूर्ति ब्याज सापेक्ष होती है।

ऋण–देय कोषों की माँग (Demand for Loanable Funds)- इस सिद्धान्त के अनुसार, ऋण–देय कोषों की माँग मुख्यतया निम्नलिखित कारणों से की जाती है– ऋण–देय कोषों के लिए माँग मुख्यतया सरकार, व्यापारी एवं उपभोक्ता द्वारा विनियोजन, आसंचन एवं उपभोग हेतु की जाती है। सरकार, सार्वजनिक निर्माण–कार्य, जनहितकारी कार्य अथवा युद्ध की तैयारी के लिए ऋण–देय कोषों की माँग करती है। व्यापारी, पूँजीगत वस्तओं को क्रय करने, विनियोजन परियोजनाओं आदि के लिए उधार लेते हैं। निवेशकर्ता तथा उत्पादक धन के विनियोजन द्वारा लाभ कमाने की अपेक्षा रखते है। इस प्रकार के ऋण ब्याज–सापेक्ष (interst-elastic) होते हैं और अधिकतर ब्याज की दर के मुकाबले लाभ की प्रत्याशित दर पर निर्भर करते हैं। उपभोक्ताओं द्वारा ऋण–देय कोषों की मांग टिकाऊ वस्तुओं स्कूटर, फ्रिज, टी० वी० तथा मकान आदि को क्रय करने हेतु की जाती है। व्यक्तिगत ऋण भी ब्याज सापेक्ष होते हैं। ब्याज की ऊँची दर पर उधार लेने की प्रवृत्ति कम और नीची दर पर अधिक होती है। ऋण देय कोषों की माँग उत्पादक कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा को निष्क्रिय नकदी (Idle-cash) या तरल रूप में संग्रह करने के लिए किया जाता है। अ–बचत (dis-saving) उस स्थिति का द्योतक है जिसमें लोग बचत तो कर नहीं पाते परन्तु उन्हें अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उधार लेने की आवश्यकता पड़ती है। यह मांग भी ब्याज सापेक्ष होती है। इस प्रकार उपरोक्त माँगों– निवेश (Investment : I), संग्रह या आसंचन (Hoarding : H) तथा अबचत (dis-saving : DS) का योग करके ऋण–देय कोषों की माँग का पता लगाया जा सकता है।

ऋण (उधार)– देय कोषों की पूर्ति (Supply of Loanable, Funds)- विक्सेल के अनुसार किसी समय बाजार में ऋण–देय कोषों की पूर्ति निम्नलिखित तत्वों द्वारा निर्धारित होती है–

(1) बचतें (Savings or S)

(2) बैंक साख (Bank Credit or M)

(3) अप–संचय या विसंचन (Dis-hoarding or past savings or DH)

(4) अप–निवेश या अ–निवेश (Dis-investment or DI)

ऋणदेय कोषों की पूर्ति का सबसे प्रमुख स्रोत समाज की बचतें हैं। इसमें व्यक्तिगत एवं निजी तथा फर्मों की बचतें शामिल होती हैं। परम्परावादी यह विश्वास करते थे कि केवल बचतों द्वारा ही ऋणदेय कोंषों की पूर्ति की जाती है, परन्तु विक्सेल ने इसको खण्डन करते हुए स्पष्ट किया कि समस्त चालू बचतें मुद्रा बाजार में ऋण

देने हेतु प्रस्तुत नहीं की जाती हैं, चालू बचतों का कुछ भाग नकद शेष के रूप में बचा लिया जाता है। इसका कारण यह है कि लोगों का तरलता–अधिमान ब्याज प्राप्ति के प्रलोभन से अधिक शक्तिशाली होता है। फलस्वरूप बचतों द्वारा होने वाली ऋणदेय कोषों की पूर्ति कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त पिछली बचतों के अपसंचय या विसंचन द्वारा भी ऋणदेय कोषों की पूर्ति में वृद्धि होती है। यद्यपि व्यक्तिगत (या निजी) बचतें आय के स्तर पर निर्भर करती हैं, फिर भी आय के स्तर को दिया हुआ मान लेने पर वे ब्याज–सापेक्ष मानी जाती हैं। इस प्रकार, ब्याज की दर एवं बचत में सीधा सम्बन्ध होता है, अर्थात ब्याज की ऊँची दर पर बचत अधिक और नीची दर पर कम बचत की जाती है। यही कारण है कि बचत का पूर्ति वक्र बाँए से दाएँ ऊपर की ओर उठता हुआ धनात्मक ढाल वाला होता है।

उपरोक्त चारों स्रोतों (बचत, बैंक–साख, अप–संचय तथा अप–निवेश) को जोड़कर ऋणदेय कोषों की कुल पूर्ति S+M ज्ञात हो सकती है। इस प्रकार, इन S, M, DH तथा DI वक्रों को पार्श्व योग कर लिया जाय तो ऋणदेय कोषों का पूर्ति वक्र S+M प्राप्त हो जाता है।

ब्याज दर का निर्धारण (Determination of Rate of Interest)- ब्याज की दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहाँ ऋणदेय कोषों की कुल माँग, उसकी कुल पूर्ति के बराबर होती है, अर्थात् ऋणदेय कोषों का कुल पूर्ति वक्र S+M ऋणदेय कोषों के कुल मांग वक्र को I+H जिस बिन्दु पर काटता है, उसी बिन्दु पर ब्याज की दर का निर्धारण होता है। इसे चित्र 3.1 में प्रदर्शित किया गया है।

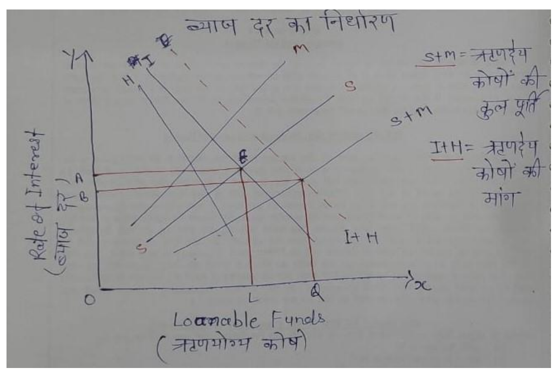

चित्र–3.4 ब्याज दर का निर्धारण

चित्र में I+H वक्र ऋण देय कोषों की कुल मांग तथा S+M वक्र ऋणदेय कोषों की कुल पूर्ति को दर्शातें हैं। यह दोनों वक्र E बिन्दु पर एक–दूसरे को काटते हुए संतुलन की स्थिति में हैं। इस प्रकार OA ब्याज की दर निर्धारित होती है, जिस पर कोषों की OL मात्रा उधार ली और दी जाती है। इसे ब्याज की बाजार दर अथवा वास्तविक दर कहा जाता है।

चित्र से यह भी स्पष्ट है कि निवेश वक्र I तथा बचत वक्र S एक दूसरे को बिन्दु पर E काटते हैं और हमें ब्याज दर OA प्राप्त होती है। यह प्राकृतिक ब्याज–दर है, क्योंकि यह बचत एवं निवेश को सन्तुलित कर देती है।

सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Principle)- ब्याज का ऋणदेय कोष सिद्धान्त क्लासिकल सिद्धांत से श्रेष्ठ होते हुए भी दोषरहित नहीं है। इस सिद्धान्त की प्रमुख कमियाँ इस प्रकार हैं–

1. यह सिद्धान्त भी क्लासिकल सिद्धान्त की भाँति आय के स्तर को स्थिर मान लेता है जो उचित नहीं है। इस सन्दर्भ में कीन्स का विचार है कि बचतें ब्याज की दर पर नहीं, बल्कि आय के स्तर में होने वाले परिवर्तनों पर निर्भर करती है।

2. विक्सेल क्लासिकल सिद्धान्त की इस धारणा को यथावत् मान लेते हैं कि बचत एवं निवेश ब्याज सापेक्ष होते हैं। इसकी आलोचना करते हुए कीन्स ने कहा कि बचतें ब्याज की दर पर नहीं बल्कि आय के स्तर

पर निर्भर करती हैं, इसी तरह निवेश ब्याज की दर पर ही नहीं, बल्कि पूँजी की सीमांत दक्षता (MEC) पर निर्भर करता है।

3. यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि ब्याज की ऊँची दर पर लोग अधिक बचत करते हैं, परन्तु व्यवहार में होता इसके विपरीत है। जब ब्याज की दर ऊँची होगी तो निवेश कम होगा, निवेश में कमी से रोजगार में कमी और इससे आय में कमी आ जाएगीं, फलस्वरूप बचतें कम हो जाएँगीं। स्पष्टतया, ब्याज की दर के ऊँची होने पर बचतों का अधिक होना सदैव आवश्यक नहीं है।

4. इस सिद्धान्त में क्लासिकल सिद्धान्त के दोषों को दूर करने के लिए वास्तविक तत्वों एवं मौद्रिक तत्वों को एक साथ मिलाने का प्रयास किया गया है। परन्तु आलोचकों का विचार है कि बचत तथा निवेश जैसे वास्तविक तत्वों बैंक साख तथ अपसंचयन जैसे मौद्रिक तत्वों के साथ आय के स्तर में परिवर्तन लाए बिना जोड़ देना ठीक नहीं है। इस तरह यह सिद्धान्त अवास्तविक है।

5. कीन्स का विचार है कि क्लासिकल सिद्धान्त की ही तरह ब्याज का ऋणदेय कोष सिद्धान्त भी ब्याज दर के निर्धारण योग्य नहीं है।

3.5 सारांश

उपर्युक्त दोषों के बावजूद ब्याज का ऋणदेय कोष सिद्धान्त ब्याज का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। विक्सेल ही वह अर्थशास्त्री थे जिन्होंने सर्वप्रथम ब्याज दर के विश्लेषण में बैंक साख के रूप में एक मौद्रिक तत्व को सम्मिलित किया। इस प्रकार उनका सिद्धान्त मौद्रिक एवं अमौद्रिक सिद्धान्तों के मध्य एक सेतु माना जाता है।

ब्याज का ऋणदेय कोष सिद्धान्त, क्लासिकल सिद्धान्त से निम्नलिखित बातों में श्रेष्ठ है–

1. क्लासिकल ऋणदेय कोष सिद्धान्त ब्याज की दर का वास्तविक सिद्धान्त है और यह ब्याज दर पर मौद्रिक तत्वों के प्रभावों की उपेक्षा करता है। ऋणदेय कोष सिद्धान्त बैंक साख के रूप में मौद्रिक तत्व को सम्मिलित करने के कारण क्लासिकल सिद्धान्त से श्रेष्ठ है।

2. क्लासिकल अर्थशास्त्री यह सोचते थे कि बैंक साख ब्याज की दर के निर्धारण में कोई भूमिका नहीं निभाता, परन्तु, ऋणदेय कोष सिद्धांत में बैंक साख ऋणदेय कोषों की पूर्ति को प्रभावित कर ब्याज की दर के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इसलिए भी यह सिद्धांत श्रेष्ठ है।

3. इसी प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्री आसंचन (Hoarding) की भूमिका को भी नजर–अंदाज करते थे। ऋणदेय कोषों की मांग में मुद्रा के आसंचन करने की इच्छा को सम्मिलित करके ऋणदेय कोष सिद्धांत अधिक यथार्थपूर्ण बन जाता है।

4. क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि मुद्रा एक आवरण (Veil) मात्र है और ब्याज की दर को प्रभावित करने का एक निष्क्रिय साधन है। ऋणदेय कोष सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर के निर्धारण में मुद्रा की सक्रिय भूमिका होती है। अतः यह सिद्धान्त क्लासिकल सिद्धान्त से श्रेष्ठ है।

3.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- ब्याज दर निर्धारण के प्रतिष्ठित सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2- ब्याज के ऋण देय कोष सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

3.7 शब्दावली

सकल ब्याज	:	Gross Interest
शुद्ध ब्याज	:	Net Interest
बचतो की पूर्ति	:	Supply of Saving
ऋण देय कोष की मांग	:	Demand for Loanable Funds

3.8 संदर्भ सूची

Stonier and Hague	:	Text Book of Economic theory
Cairncross	:	Introduction to Economic Theory
Keynes	:	General Theory of Employment Interest and Money
Lerner	:	Essays in Economics
Meyers	:	Elements of Modern Economics

इकाई–4 ब्याज का कीन्स का सिद्धांत

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 ब्याज दर का निर्धारण

4.3 आलोचनायें

4.4 सारांश

4.5 बोध प्रश्न

4.6 शब्दावली

4.7 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य ब्याज दर निर्धारण में कीन्स के सिद्धान्त को समझना है। कीन्स ने ब्याज दर निर्धारण के लिए मौद्रिक तत्वों को सम्मिलित किया है। इस प्रकार इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य ब्याज दर निर्धारण में मुद्रा की पूर्ति एवं मुद्रा के मांग के योगदान को समझना है।

4.1 प्रस्तावना

ब्याज के तरलता अधिमान का प्रतिपादन कीन्स, ने सन् 1936 ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जनरल थ्योरी' में किया था। कीन्स ने क्लासिकल तथा विक्सेलियन सिद्धान्तों को नकारते हुए विचार व्यक्त किया कि 'ब्याज एक विशुद्ध मौद्रिक घटना है' (Interest is a purely monetary phenomenon)। इसी कारण कीन्स अपने सिद्धान्त को विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त कहना पसंद करते थे, जबकि वह सामान्यतया तरलता–अधिमान सिद्धांत के नाम से जाना जाता है। ब्याज के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कीन्स ने कहा कि 'ब्याज एक निश्चित अवधि के लिए तरलता के परित्याग का पुरस्कार है' (Interest is the reward for parting with the liquidity for a specified period of time)। अन्य शब्दों में ब्याज की दर मुद्रा की मांग एवं पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। मुद्रा सबसे तरल परिसम्पत्ति होती है और प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतया अपनी सम्पत्ति को तरल रूप में रखन ज्यादा पसंद करता है।

4.2 ब्याज दर का निर्धारण

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)- ब्याज दर के निर्धारक दोनों पक्षों में मुद्रा पूर्ति से अभिप्राय अर्थव्यवस्था में किसी समय सब उद्देश्यों के लिए उपलब्ध मुद्रा की कुल मात्रा से है। इसमें करेंसी नोट, सिक्के तथा बैंक साख सम्मिलित रहते हैं। मुद्रा की पूर्ति का निर्धरण एवं नियंत्रण देश की सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। चूँकि मुद्रा पूर्ति मौद्रिक नीति पर निर्भर करती है, अतः इसमें परिवर्तन जल्दी–जल्दी नहीं होता। इसलिए मुद्रा का पूर्ति–वक्र पूर्णतया लोचरहित या बेलोच (Perfectly inelastic) मान लिया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कीन्स चूँकि मुद्रा की पूर्ति को स्थिर अथवा दिया हुआ मानते हैं।

मुद्रा की मांग (Demand for Money)- कीन्स के अनुसार मुद्रा की मांग से अर्थ मुद्रा की उस राशि से है, जिसे लोग अपने पास नकद अथवा तरल रूप में रखना चाहते हैं। मुद्रा की माँग समाज के तरलता–अधिमान पर निर्भर करती है। मुद्रा को तरल अथवा नकद रूप में रखने की इच्छा को कीन्स ने तरलता या द्रवता–पसंदगी (liquidity prefarance) नाम दिया। तरलता अधिमान जितना अधिक होगा, नकदी धारकों को अपनी तरल सम्पत्ति त्याग को प्रेरित करने के लिए उतनी ही अधिक ब्याज की दर देनी पड़ेगी तथा तरलता–अधिमान जितना कम होगा, नकदी धारकों को ब्याज की दर भी उतनी ही कम प्राप्त होती होगी।

कीन्स के अनुसर, लोगों के तरल अथवा नकदी रखने की इच्छा के तीन उद्देश्य होते हैं–

1. व्यावसायिक अथवा लेन–देन उद्देश्य (Transaction Motive)
2. सुरक्षा या सतर्कता उद्देश्य (Precautionary Motive)
3. सट्टा उद्देश्य (Speculative Motive)।

1. व्यावसायिक या लेन–देन उद्देश्य (Transaction Motive)- इसे 'सौदा उद्देश्य' या 'कार्य सम्पादन' उद्देश्य भी कहा जाता है। लेन–देन उद्देश्य का सम्बन्ध निजी और व्यापार सम्बंधी लेन–देन के चालू सौदों के लिए नकदी की आवश्यकता से है। इसको पुनः **आय उद्देश्य** (Income Motive) और व्यापार उद्देश्य (Business Motive) में बाँटा जाता है। आय उद्देश्य हेतु नकदी रखने का प्रयोजन यह होता है कि 'आय प्राप्ति और उसके भुगतान के बीच समय का सेतु–बन्ध किया जा सके' (To bridge the interval between the receipt of income and its disbursement)। इसी प्रकार व्यापार उद्देश्य का प्रयोजन 'व्यापार लागतों को उठाने और विक्रय प्राप्ति की वास्तविक उपलब्धि के बीच समय का सेतुबन्ध करना है'। मुद्रा की लेन–देन माँग कितनी होगी, यह आय की मात्रा, आय प्राप्त होने की अवधि तथा सौदों की मात्रा पर निर्भर करती है।

2. सतर्कता उद्देश्य (Precautionary Motive)- इसे दूरदर्शिता अथवा आकस्मिक या सावधानी उद्देश्य भी कहते हैं। भविष्य अनिश्चित होता है, अतः लोग संकट के दिनों तथा आकस्मिक घटनाओं, यथा बीमारी, दुर्घटना, बेरोजगारी तथा वृद्धावस्था आदि से सुरक्षा के लिए मुद्रा की कुछ मात्रा नकद अथवा तरल रूप में रखते हैं। इस सन्दर्भ में कीन्स ने स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सर्तकता उद्देश्य का सम्बन्ध 'आड़े समय की उन सम्भावनाओं और लाभदायक क्रयों के अपूर्वदृष्टि (Unforeseen) अवसरों के लिए प्रबंध करने की इच्छा से है। अप्रत्याशित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यक्ति तथा व्यापारी मुद्रा की कुछ नकद मात्रा आरक्षित रखते हैं। मुद्रा के लिए सतर्कता मांग, आय के स्तर, व्यापार सक्रियता, अप्रत्याशित लाभप्रद सौदों के अवसरों, तरल सम्पत्ति को बैंक में संरक्षित रखने की लागत आदि पर निर्भर करती है।

कीन्स ने अपना मत व्यक्त करते हुए स्पष्ट किया कि लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्य हेतु मुद्रा की माँग अपेक्षाकृत ब्याज निरपेक्ष (relatively interest inelastic) होती है परन्तु अत्यन्त आय लोचात्मक (Income elastic) होती है। इन दो उद्देश्यों हेतु रखी गयी मुद्रा की मात्रा (M_1) आय के स्तर (Y) का फलन (L_1) होती है। इसे समीकरण के रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$M_1 = L_1(Y)$$

3. सट्टा उद्देश्य (Speculative Motive)- कुछ लोग भविष्य में कीमतों में होने वाले परिवर्तनों का दूसरों से अधिक जानकारी रखने के कारण मूल्यांतर का लाभ कमाना चाहते हैं। इस तरह के लोगों की मुद्रा को तरल रूप में रखने की इच्छा सट्टा द्वारा लाभ कमाने की होती है। इस प्रकार, सट्टा उद्देश्य हेतु रखी गयी नकद मुद्रा का प्रयोजन यह होता है कि भविष्य में बाजार में होने वाले उतार–चढ़ावों के सम्बन्ध में सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जानकारी रखने के कारण लाभ प्राप्त किए जा सकें।" यह तरलता अधिमान के निर्धारकों में सबसे अनिश्चित घटक है। कीन्स के अनुसार, लेन–देन तथा सर्तकता उद्देश्य से उत्पन्न तरलता अधिमान को तो आसानी से जाना जा सकता है, क्योंकि सामान्यतया उसमें परिवर्तन नहीं होते। परन्तु सट्टा के लिए नकदी की मांग का अनुमान लगाना कठिन है। मुद्रा की सट्टा उद्देश्य हेतु मांग मुख्य रूप से ब्याज की दर पर निर्भर करती है। ब्याज की ऊँची दर पर सट्टा हेतु मुद्रा की मांग कम और नीची दर पर अधिक होती है।

हम जानते हैं कि बॉण्ड–कीमतों एवं ब्याज–दर के मध्य विपरीत सम्बन्ध होता है। ऊँची ब्याज–दरों पर बॉण्ड की कीमतें कम तथा नीची ब्याज–दरों पर बॉण्ड कीमतें अधिक होती हैं। जब लोगों को यह आशा होती है कि बॉड की कीमतें बढ़ जाएँगी (ब्याज की दर गिर जाएगी), तो वे बॉण्ड खरीद लेंगे ताकि जब भविष्य में उनकी कीमतें बढ़े तब उन्हें बेचकर लाभ कमा सकें। ऐसे अवसरों पर सट्टा–उद्देश्य के लिये रखी गई मुद्रा की मात्रा कम होती है। इसके विपरीत, जब व्यापारियों को यह उम्मीद होती है कि बॉण्ड कीमतें गिर जाएँगी (ब्याज की दर बढ़ जाएगी) तो वे सट्टा–उद्देश्य के लिए अधिक से अधिक मुद्रा रखेंगे।

इस प्रकार ब्याज की ऊँची दर पर मुद्रा के लिए सट्टा माँग कम होगी क्योंकि व्यापारी इस आशा से अपनी नकदी को बॉण्डों में लगा देंगे कि (भविष्य में ब्याज–दर घटने पर) बॉण्डों की कीमत बढ़ जाएगी। दूसरी तरफ, यदि ब्याज का दर कम होगी तो व्यापारी इस आशा से बॉण्डों को बेच देंगे कि भविष्य में ब्याज की दर बढ़ जाएगी और बॉण्डों की कीमत गिर जाएगी। इस प्रकार सट्टा–उद्देश्य हेतु अधिक नकदी रखेंगे। इस तरह, ब्याज की दर जितनी ऊँची होगी, मुद्रा की सट्टा माँग उतनी ही कम और विलोमशः।

इस तरह सट्टा उद्देश्य हेतु मुद्रा की मांग (M_2), ब्याज की दर i का फलन (L_2) होती है।

समीकरण रूप में,

$M_2 = L_2\, i$

यदि कुल तरल मुद्रा को M द्वारा व्यक्त किया जाय तथा लेन–देन एवं सतर्कता उद्देश्य हेतु नकद मुद्रा को M_1 तथा सट्टा उद्देश्य हेतु मुद्रा की मात्रा को M_2 द्वारा व्यक्त किया जाय तो $M = M_1 + M_2$। चूँकि, $M_1 = L_1 (Y)$ तथा $M_2 = L_2\, i$, अतः मुद्रा के कुल तरलता फलन को $M = L_1 (Y, r)$ द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

समीकरण से स्पष्ट है कि संतुलन दर उस बिन्दु पर निधार्रित होती है जहाँ मुद्रा की कुल पूर्ति (M) मुद्रा की कुल माँग अर्थात् L (Y, r) के साथ संतुलन में होती है। यहाँ M_1 परिवाही (Circulating) या सक्रिय (active) मुद्रा है तथा M_2 तुच्छ या व्यर्थ अथवा निष्क्रिय (Passive) मुद्रा है। यद्यपि M_1 आय का फलन है और M_2 ब्याज की दर का फलन है परन्तु दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। ब्याज की ऊँची दरों पर M_1 भी ब्याज–सापेक्ष होती है। यदि M_1 के लिए माँग अधिक हो जाती है तो उसे निष्क्रिय राशि M_2 से कोष द्वारा पूरा किया जा सकता है। प्रो० हैबरलर (Haberlar) का कहना है कि संकुचित अर्थ में तरलता अधिमान तथा व्यापक अर्थ में तरलता अधिमान में अन्तर होता है। संकुचित दृष्टि से वह निष्क्रिय शेषों (Idle balances) M_2 के लिए मांग है तथा व्यापक दृष्टि में वह कुल तरलता मांग (M अथवा $M_1 + M_2$) है। यदि आय का स्तर दिया हुआ है तो ब्याज की ऊँची दर पर तरलता अधिमान मुद्रा की कुल माँग ($M_1 + M_2$) द्वारा प्रदर्शित होगा तथा ब्याज की नीची दर पर तरलता–अधिमान का प्रतिनिधित्व केवल सट्टा उद्देश्य हेतु माँग (M_2) ही करेगा।

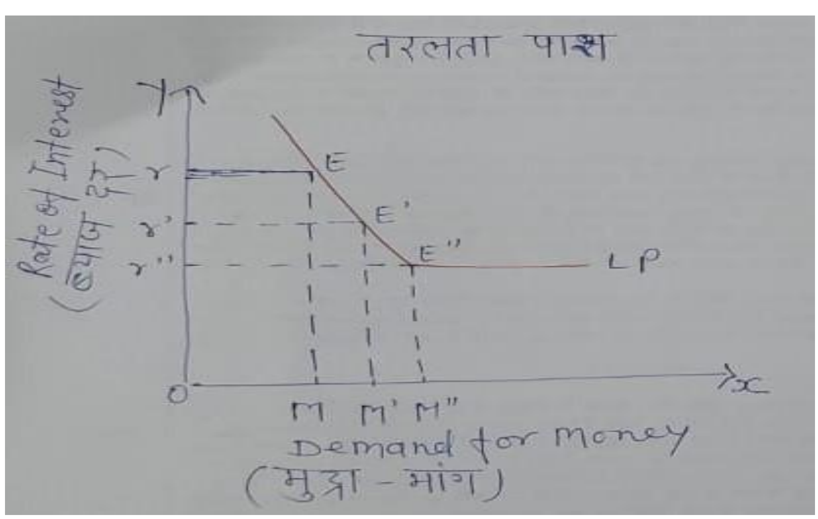

चित्र– 4.1 तरलता पाश

इस प्रकार, कीन्स की तरलता अधिमान अनुसूची (LP Schedule) मुद्रा की मांग तथा ब्याज की दर के मध्य सम्बंध को दर्शाती है। चित्र 4.1 में, इस अनुसूची के व्यवहार को प्रदर्शित किया गया है। चित्र में मुद्रा के लिए मांग X-अक्ष पर तथा ब्याज की दर को Y-अक्ष पर दिखाया गया है।

आय के एक दिए हुए स्तर पर लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्यों के लिए रखी गयी नकद मुद्रा की मात्रा को ब्याज निरपेक्ष मान लेने पर उसे ऊर्ध्वाधर रेखा QM द्वारा दर्शाया गया है। LP वक्र मुद्रा की सट्टा मांग को प्रदर्शित करता है जो यह दर्शाता है कि ब्याज की ऊँची दर पर सट्टा हेतु मुद्रा की मांग कम और नीची दर पर अधिक होती है। ब्याज की बहुत ऊँची दर (Or_4) पर समाज द्वारा कोई राशि नकदी रूप में नही रखी जाती, क्योंकि इस बिन्दु पर LP शून्य है। परन्तु यह तर्क वास्तविकता से दूर है क्योंकि लोग कुछ मुद्रा तो तरल रूप में रखना चाहते हैं। ब्याज की दर Or_3 पर लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्यों के लिए नकद मुद्रा की OM_3 मात्रा रखी जाती है, सट्टा के लिए मुद्रा की मांग नहीं की जाती (इस आशा से ब्याज की दर गिर जाएगी, समस्त नकद मुद्रा को बॉण्डों में लगा दिया जाता है।) परन्तु जैसे–जैसे ब्याज की दर कम होती जाती है, सट्टा हेतु मुद्रा की मांग बढ़ती है। ब्याज की OR दर पर सट्टा के लिए मुद्रा की माँग OM तथा Or_1 पर मांग OM_1 हो जाती है।

तरलता पाश (Liquidiy Trap)- कीन्स ने LP वक्र के संदर्भ में एक विशिष्ट सिथति को स्पष्ट किया है। जैसा के चित्र में प्रदर्शित है, ब्याज की एक निश्चित नीची दर पर (जैसे कि Or" दर पर) LP वक्र पूर्णतया लोचादर बन जाता है अर्थात् X-अक्ष के समानान्तर हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि ब्याज की बहुत नीची दर पर लोग मुद्रा को उधार देने के बजाय नकद रूप में रखना पसन्द करते हैं। पूर्णतया लोचादार (या अनंत लोचात्मक) तरलता अधिमान वक्र की इस दशा को तरलता पाश अथवा तरलता जाल (liquidity trap) कहते हैं। इसे उधारबंदी अथवा तालाबंदी भी कहते हैं। इससे कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं– **प्रथम,** ब्याज की दर एक निश्चित स्तर से नीचे नहीं गिर सकती। सस्ती मुद्रा नीति अपनाकर भी मौद्रिक प्राधिकरण ब्याज की दर को प्रभावित नहीं कर सकता, अर्थात्। **द्वितीय,** ब्याज की दर कभी शून्य नहीं हो सकती। **तृतीय,** पूर्णतया लोचदार LP वक्र के समक्ष एक सामान्य मजदूरी कटौती नीति भी प्रभावपूर्ण नहीं रह पाती। यद्यपि सामान्य मजदूरी में कटौती, मजदूरी और इस प्रकार कीमतों को कम कर देगी जिससे लेन–देन के लिए मुद्रा कम रखी जाएगी और इस प्रकार मुद्रा को सट्टा उद्देश्य के लिए मुक्त का देगी। परन्तु ब्याज की दर पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि मुद्रा–बाजार में व्याप्त अनिश्चितता के फलस्वरूप लोग मुद्रा नकद रूप में रखेंगे।

ब्याज दर का निर्धारण (Determination of Interest Rate)- इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु या सेवा की कीमत की ही भाँति ब्याज की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ मुद्रा के लिए माँग, मुद्रा की पूर्ति के बराबर होती है। इसे चित्र 4.2 में प्रदर्शित किया गया है। चित्र में Y-अक्ष के सामानान्तर खड़ी रेखा QM मुद्रा की पूर्ति को दर्शाती है तथा LP तरलता अधिमान वक्र है। दोनों वक्र एक–दूसरे को बिन्दु E पर परस्पर काटते हैं और OR ब्याज की दर निर्धारित होती है। यदि इस सन्तुलन स्थिति में कुछ विचलन होता है तो ब्याज की दर के माध्यम से उसमें समायोजन हो जाता है और पुनः मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में बराबरी आ जाती है। परन्तु यदि मौद्रिक प्राधिकरण द्वारा मुद्रा की पूर्ति बढ़ा दी जाती है और तरलता अधिमान में कोई परिवर्तन नहीं होता तो ब्याज की दर यदि मुद्रा की पूर्ति यथावत् रहे और तरलता अधिमान बढ़ जाय तो ब्याज की दर बढ़ जाएगी और विलोमशः। चित्र में LP वक्र में कोई परिवर्तन न होने पर यदि मुद्रा की मात्रा बढ़कर Q_1M_1 हो जाती है तो संतुलन बिन्दु E_1 होगा और ब्याज की दर घटकर Or_1 हो जाती है। इसी प्रकार यदि मुद्रा की पूर्ति QM में कोई परिवर्तन नहीं होता और तरलता अधिमान वक्र सरककर ऊपर LP_1 हो जाता तो नया संतुलन बिन्दु E_2 होगा, ब्याज की दर में वह OR_Z रहेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्याज की दर का निर्धारण मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा की माँग की शक्तियों की परस्पर प्रतिक्रिया द्वारा होता है।

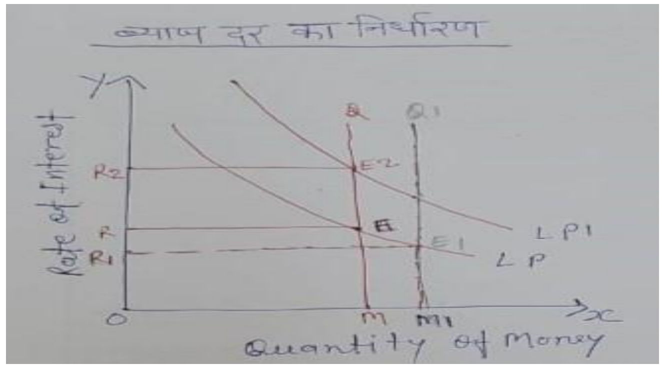

चित्र–4.2

उपर्युक्त रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट होता है कि ब्याज की दर का निर्धारण मुद्रा क मांग एवं मुद्रा की पूर्ति द्वारा होता है।

4.3 आलोचनाएँ

कीन्स का तरलता पसंदगी भी अन्य सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तों की तरह दोष मुक्त नहीं है। अर्थशास्त्रियों ने निम्न आधारों पर इसकी आलोचना की है–

1. कीन्स के सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि यह सिद्धान्त भी एकपक्षीय तथा अपूर्ण है, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने जिस तरह से ब्याज को विशुद्ध वास्तविक स्वरूप पद्रान कर मौद्रिक तत्वों की उपेक्षा की, उसी तरह कीन्स ने भी ब्याज को विशुद्ध मौद्रिक स्वरूप प्रदान कर वास्तविक तत्वों की उपेक्षा की। इस सन्दर्भ में हेन्सन का कथन है कि क्लासिकल तथा केन्सीय दोनों सिद्धान्त अपूर्ण हैं, परन्तु इनके समन्वय से ब्याज का एक सन्तोषजनक सिद्धान्त प्राप्त किया जा सकता है।

2. कीन्स का सिद्धान्त अव्यावहारिक तथा असंगत है, क्योंकि यह सिद्धान्त उन्हीं तथ्यों का विरोध करता है जिनको यह समझाने का प्रयास करता है। यदि कीन्स का विश्लेषण सही होता है तो मंदी के दिनों में जब तरलता अधिमान ऊँचा रहता है तो ब्याज की दरें भी ऊँची रहती, परन्तु वह गिर जाती है। इसी प्रकार तेजी (boom) के समय जब तरलता अधिमान कम रहता है ब्याज की दर नीची रहनी चाहिए, परन्तु वे ऊँची रहती है। अतः स्पष्ट है कि कीन्स का सिद्धान्त असंगत है।

3. कीन्स के अनुसार, ब्याज तरलता के परित्याग का पुरस्कार है। परन्तु आलोचकों का कहना है कि ब्याज केवल तरलता से वंचित रहने के लिए ही नहीं चुकाया जाता, बल्कि इसलिए चुकाया जाता है क्योंकि पूँजी उत्पादक होती है, अर्थात् मुद्रा की मांग इसलिए की जाती है ताकि उसे पूंजीगत वस्तुओं में विनियोग किया जा सके। इस तरह, ब्याज ऋणदाता को पूँजी की उत्पादकता के बदले दिया गया पुरस्कार है।

4. कीन्स ने मुद्रा की पूर्ति पक्ष को स्पष्ट नहीं किया है। वे पूर्ति को दिया हुआ मान लेते हैं और सारा ध्यान मांग पक्ष पर ही केन्द्रित करते हैं। कुछ आलोचकों की धारणा है कि कीन्स ने मुद्रा पूर्ति की अस्पष्ट व्याख्या की है। कहीं वे साख द्रव्य को मुद्रा पूर्ति में सम्मिलित करते हैं तो अन्य जगह उसे मुद्रा पूर्ति में सम्मिलित नहीं करते।

5. कीन्स के सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि ब्याज की दर के निर्धारण में वास्तविक तत्वों जैसे– प्रतीक्षा, समय–पसंदगी, उत्पादकता तथा मितव्ययिता आदि की उपेक्षा करता है। यह सिद्धान्त ब्याज को एक विशेद्ध मौद्रिक घटना मानता है परन्तु यह स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के पीछे कौन से वास्तविक तत्व हैं।

6. कीन्स ने अपने सिद्धान्त में बचतों की उपेक्षा की है। उन्होंने ब्याज को तरलता छोड़ने का पुरस्कार बताया। इस विचार की आलोचना करते हुए हैजलिट ने स्पष्ट किया कि बिना बचत किए तरलता जैसी कोई चीज नहीं हो सकती, जिसका परित्याग किया जा सके जबकि कीन्स ने बिना बचत के तरलता की परिकल्पना की है। **प्रो० जैकब वाइनर** ने भी स्पष्ट किया है कि बचत किए बिना परित्याग करने के लिए कोई तरलता प्राप्त नहीं होगी। इस प्रकार, ब्याज के किसी भी सिद्धान्त में बचत की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

7. यह सिद्धान्त ब्याज–निर्धारण की केवल अल्पकालीन व्याख्या है। दीर्घकाल में ब्याज दर के विभिन्न स्तरों को समझाने में असफल है।

8. कीन्स की तरलता पाश की धारणा भी भ्रांतिपूर्ण है। इस बात की संभावना होती है कि ब्याज की नीची दर पर तरलता अधिमान वक्र लोचदार होने के बजाय बेलोच हो। जैसा कि स्पष्ट है, मंदी काल में सब प्रत्याशाएँ अत्यंत निराशाजनक होती हैं, अतः यह कहना उचित नही होगा कि ब्याज की दर में वृद्धि की संभावना होगी।

9. अंत में, क्लासिकल सिद्धांत की ही भांति केन्सीय सिद्धांत भी अनिश्चित एवं ब्याज दर निर्धारण योग्य नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रो० हेन्सन की धारणा है कि कीन्स का ब्याज सिद्धान्त भी उन्हीं आधारभूत आलोचनाओं का शिकार है जो उन्होंने क्लासिकल एवं विक्सेलियन ब्याज सिद्धान्तों पर आरोपित की थी।

4.4 सारांश

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि कीन्स के सिद्धांन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह पूर्णरुप से कम रोजगार की वास्तविक मान्यता पर आधारित है। केन्सीय विश्लेषण में तरलता अधिमान के निर्धारण में सट्टा उदेश्य हेतु मुद्रा की मांग का विशेष महत्व है। सट्टा उदेश्य हेतु मुद्रा की मांग स्वभावतः एक अनिश्चित एवं अस्थिर तत्व है। कीन्स के तरलता अधिमान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके आधार पर अर्थव्यवस्था में आय तथा रोजगार के उच्च स्तर को बनाये रखने के लिए मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियों का व्यवहारिक प्रतिपादन किया जा सकता है। केन्सीय सिद्धान्त एक स्टॉक विश्लेषण है। यह एक समय में स्टॉक अथवा मुद्रा की मात्राओं का विवरण है।

4.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- कीन्स द्वारा प्रतिपादित ब्याज के तरलता अधिमान सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2- "ब्याज किसी निश्चित समय में तरलता के त्याग का पुरस्कार है।" स्पष्ट कीजिए।

4.6 शब्दावली

द्रवता जाल	:	Liquidity Trap
सट्टा उद्देश्य	:	Speculative Motive
दूरदर्शिता उद्देश्य	:	Precautionary Motive
ब्याज निरपेक्ष	:	Relatively Interest
बंध पत्र	:	Bond

4.7 संदर्भ सूची

Stonier and Hague	:	Text Book of Economic theory
Cairncross	:	Introduction to Economic Theory
Keynes	:	General Theory of Employment Interest and Money
Lerner	:	Essays in Economics
Meyers	:	Elements of Modern Economics

इकाई–5 ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या

5.3 सारांश

5.4 बोध प्रश्न

5.5 शब्दावली

5.6 सन्दर्भ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य इस बात का पता लगाना है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने किस प्रकार से ब्याज दर के निर्धारण में मौद्रिक और गैर मौद्रिक तत्वों को सम्मिलित किया है और ब्याज दर निर्धारण का एक आधुनिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है।

5.1 प्रस्तावना

ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त से केन्सीय सिद्धान्त तक ब्याज के सिद्धांतों का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है। कि कोई अकेला ऐसा सिद्धान्त ब्याज दर की समस्या का अध्ययन केवल वास्तविक तत्वों– बचत एवं निवेश के आधार पर किया गया। इसमें मौद्रिक तत्वों की उपेक्षा की गयी। इसके विपरीत, तरलता अधिमान सिद्धान्त केवल मौद्रिक निर्धारकों, मुद्रा की पूर्ति और तरलता अधिमान अर्थात् मुद्रा की मांग को सम्मिलित करता है तथा वास्तविक तत्वों की उपेक्षा करता है। हेन्सन के विचारानुसार, "ये दोनों ही सिद्धान्त एकपक्षीय तथा अपूर्ण हैं परन्तु यदि इनका समन्वय कर दिया जाय तो निश्चय ही ब्याज का एक संतोषजनक सिद्धान्त मिल सकता है।" इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हिक्स ने ब्याज सिद्धांत का प्रस्तुतीकरण इस ढंग से किया कि इसमें उत्पादकता, मितव्ययिता, तरलता अधिमान और मुद्रा की पूर्ति आदि सभी तत्वों का समावेश हो गया। इस प्रकार, ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त में क्लासिकल सिद्धान्त का तरलता अधिमान सिद्धान्त के साथ समन्वय करने के लिये बचत, निवेश, तरलता अधिमान तथा मुद्रा की मात्रा का आय के विभिन्न स्तरों पर समाकलन किया गया है (यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋणदेय कोष सिद्धांत के प्रतिपादक विक्सेल तथा नये समर्थकों को यह ज्ञात था कि ब्याज के पूर्ण सिद्धान्त में मौद्रिक तथा अमौद्रिक दोनों तरह के निर्धारकों को सम्मिलित करना चाहिए, परन्तु वे उनका भली–भाँति युग्मन नहीं कर पाए।) क्लासिकल सिद्धान्त के दोनो घटकों के निवेश (I), बचत (S) तथा तरलता अधिमान के दोनों घटकों तरलता अधिमान या मुद्रा की माँग (L) तथा मुद्रा की पूर्ति (M) को समन्वित करके दो वक्र बनाए गए। एक IS वक्र है जो वास्तविक तत्वों अर्थात् प्रवाह (flow) चरों के संतुलन (बचत = निवेश) को व्यक्त करता है तथा दूसरा LM वक्र है जो मौद्रिक क्षेत्र अर्थात् स्टॉक चरों के संतुलन (मुद्रा की पूर्ति = तरलता अधिमान) को व्यक्त करता है। IS तथा LM वक्रों का संतुलन, ब्याज सिद्धान्त का निश्चित हल प्रस्तुत करता है।

5.2 ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या

IS वक्र या बचत–निवेश वक्र

IS वक्र अनुसूचियों (saving schedules) तथा निवेश अनुसूचियों (investment schedules) के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करता है। अन्य शब्दों में IS वक्र आय स्तरों तथा ब्याज दरों के विभिन्न संयोगों पर बचत तथा निवेश की समानता को प्रदर्शित करता है। हम जानते हैं कि निवेश ब्याज दर का ऋणात्मक फलन होता है, अर्थात ब्याज की ऊँची दर पर निवेश कम तथा नीची दर पर अधिक होता है। फलस्वरूप, निवेश माँग वक्र ब्याज दर के सम्बन्ध में बाएँ से दाएँ नीचे गिरता हुआ होता है। बचतें आय का धनात्मक फलन होती हैं जिसका अभिप्राय यह है कि आय बढ़ने पर बचत बढ़ती है और आय घटने पर घट जाती है। फलस्वरूप बचत पूर्ति वक्र बाएँ से दाएँ ऊँपर की ओर चढ़ता हुआ होता है। IS वक्र बचत तथा निवेश वक्र का युग्मन करके प्राप्त किया जाता है। इसके लिए हमें उन विभिन्न आय स्तरों एवं उनसे सम्बद्ध ब्याज दरों का पता करना होता है, जिनसे बचत तथा निवेश संतुलन में रहते है। हम इसको नीचे की कल्पित सारणी की सहायता से समझा सकते हैं–

सारणी – 1

निवेश अनुसूची		**बचत अनुस्ची**	
ब्याज दर (प्रतिशत)	निवेश (I) (करोड़ रू०)	आय (Y) (करोड़ रू०)	बचत (S) (करोड़ रू)
1	2	3	4
7	0	100	0
6	50	150	50
5	75	200	75
4	100	250	100
3	125	300	125
2	150	350	150
1	175	400	175

उपर्युक्त सारिणी के आधार पर IS वक्र प्राप्त किया जा सकता है।

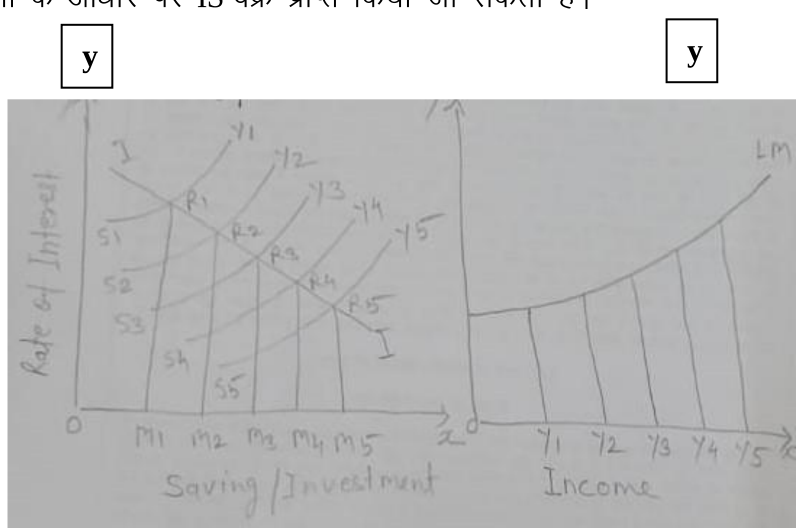

चित्र–5.1

चित्र में OX-अक्ष पर आय की मात्रा तथा OY-अक्ष पर ब्याज की दर प्रदर्शित किया गया है, जिन पर बचत तथा निवेश संतुलन में होते हैं। सारिणी में 200 करोड़ रू० की आय मात्रा पर 5% ब्याज दर बचत एवं निवेश को संतुलित करती है। जब आय बढ़कर 300 करोड़ हो जाती है तो बचतें 75 करोड़ रू० से बढ़कर 125

करोड़ हो जाती है, जिससे ब्याज दर गिर कर 3% हो जाती है। ब्याज दर घटने से निवेश प्रोत्साहित होता है और बढ़कर 125 करोड़ रू० अर्थात् बचतों के बराबर हो जाता है।

IS वक्र (वैकल्पिक विधि)

बचत–निवेश अर्थात IS वक्र बचत अनुसूतियों तथा निवेश अनुसूचियों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करता है। अन्य शब्दों में, IS वक्र आय–स्तरों तथा ब्याज दरों के विभिन्न संयोगों पर बचत तथा निवेश की समानता को प्रदर्शित करता है। चित्र 5.2 में आय के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित बचत वक्र S स्थिर अवस्था में खींचा गया है। यहाँ यह मान लिया गया है कि बचत पर ब्याज की दर का प्रभाव नगण्य (negligible) है। बचत वक्र यह दर्शाता है कि आय में वृद्धि के साथ बचत में भी वृद्धि होती है, अर्थात् बचत आय का बढ़ता हुआ फलन है। निवेश ब्याज दर तथा आय–स्तर पर निर्भर करता है। ब्याज दर का स्तर दिया होने पर, निवेश का स्तर आये के स्तर आय के स्तर के साथ बढ़ता है। त्रि में 10% ब्याज दर पर निवेश वक्र I_2 है। यदि ब्याज दर घटकर 8% हो जाती है तो निवेश वक्र नीचे की ओर सरककर I_3 हो जाएगा। इसी प्रकार, जब ब्याज दर बढ़कर 12% हो जाती है तो निवेश वक्र नीचे की ओर सरककर I_1 हो जाएगा। चित्र 5.2 के नीचे भाग में आय के प्रत्येक स्तर को ब्याज के विभिन्न दरों से सम्बन्धित करके वक्र खींचा गया है। इस IS वक्र का प्रयोग बिन्दु आय के स्तर को व्यक्त करता है, जहाँ ब्याज की विभिन्न दरों पर बचत निवेश के बराबर होती है। आय के स्तर को X-अक्ष पर तथा ब्याज की दर को Y-अक्ष पर प्रदर्शित किया गया है। ब्याज की दर 12% पर S वक्र I_1 वक्र को E_1 बिन्दू पर काटता है। जिससे OY_1 आय स्तर निर्धारित होता है। इस आय स्तर से, हम एक बिन्दुकित रेखा नीचे की ओर खींचते हैं जो 12% ब्याज दर से बढ़ाई गयी रेखा को P बिन्दु पर काटती है। 10% ब्याज दर पर S वक्र I_2 वक्र को E_2 बिन्दु पर काटता है। अतः OY_2 आय निर्धारित होती है। चित्र के निचले हिस्से में OY_2 आय के स्तर तथा 10% ब्याज दर से सम्बन्धित बिन्दु Q है। इसी प्रकार बिन्दु R ब्याज की 8% दर पर S तथा I_1 वक्रों के संतुलन बिन्दु के अनुरूप है। इन बिन्दुओं को P, Q तथा R एक रेखा द्वारा मिलाने से IS वक्र प्राप्त होता है। चित्र में प्रदर्शित IS वक्र का ढाल बाएँ से दाएँ नीचे की ओर है जो यह बताता है कि ब्याज की दर में कमी होने से निवेश बढ़ता है और आय में भी वृद्धि होती है।

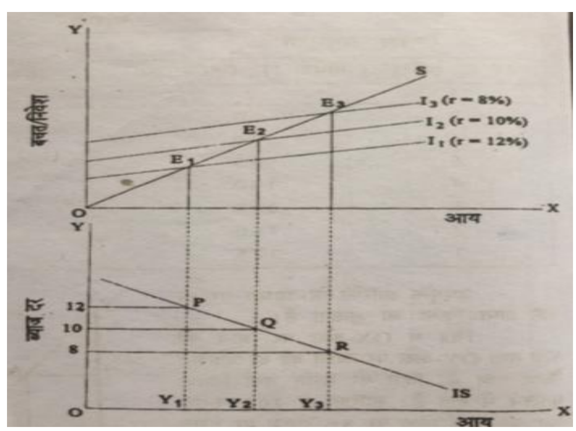

चित्र–5.2

IS वक्र ब्याज निरपेक्ष (interest inelastic) भी हो सकता है, अर्थात् एक बिन्दु के बाद ब्याज गिरने पर उसका निवेश पर न के बराबर प्रभाव पड़ता है। चित्र में जब ब्याज दर घटकर निवेश पर न के बराबर प्रभाव पड़ता है। चित्र में जब ब्याज दर घटकर OR_1 से OR_2 हो जाती है तो आय OY_1 से बढ़कर OY_2 हो जाती है तब ब्याज OR_2 से घटकर OR_3 हो जाती है तो आय में आय में OY_2 से OY_3 की वृद्धि होती है जो बहुत कम है। ब्याज दर में OR_3 से और कमी होने पर आय में कोई परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि इस क्षेत्र में IS वक्र लम्बवत् हो जाता है, अर्थात् यह ब्याज–निरेपेक्ष है।

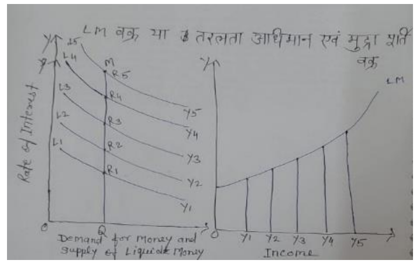

चित्र–5.3

LM वक्र या तरलता अधिमान एवं मुद्रा प्रर्ति वक्र– LM वक्र मौद्रिक क्षेत्र के संतुलन को व्यक्त करता है, अर्थात् LM वक्र पर स्थिर प्रत्येक बिन्दु पर मुद्रा की मांग एवं मुद्रा की पूर्ति संतुलन को व्यक्त करना है, अर्थात् LM वक्र पर स्थिर प्रत्येक बिन्दु पर मुद्रा की मांग एवं मुद्रा की पूर्ति संतुलन में होती है। विश्लेषण की सरलता के लिए मुद्रा पूर्ति को स्थिर अर्थात् ब्याज निरपेक्ष माना गया है। LM वक्र को तरलता अधिमान अनुसूची तथा मुद्रा पूर्ति अनुसूची से चित्र 5.2 में व्युत्पन्न किया गया है।

चित्र में आय के Y_1, Y_2 तथा Y_3 करोड़ रूपये के स्तरों पर क्रमशः L_1Y_1, L_2Y_2 और L_3Y_3 तरलता अधिमान वक्र है। QM मुद्रा की पूर्ति का पूर्णतया बेलोच वक्र है। चित्र में आय के Y_1 स्तर के अनुरूप OR_1 ब्याज दर पर मुद्रा की मांग L_1Y_1 तथा मुद्रा की पूर्ति QM बराबर होती है। Y_2 आय स्तर पर L_2Y_2 वक्र तथा QM वक्र OR_2 ब्याज दर पर बराबर होते हैं। इसी प्रकार Y_3 आय स्तर पर L_3Y_3 तथा QM, OR_3 वक्र ब्याज दर पर बराबर होते हैं। अब मुद्रा की पूर्ति, तरलता अधिमान, आय–स्तर तथा ब्याज–दर की सहायता से चित्र 5.4 में दिखाए गए LM वक्र को खींचा सकता है। चित्र 5.4 (II) में आय स्तर X-अक्ष पर तथा ब्याज दर Y-अक्ष पर प्रदर्शित किया गया है। चित्र 5.4 (I) के E_1 बिन्दु से जहा L_1Y_1 वक्र MQ को आपस में काटते हैं R_1E_1 रेखा को दाहिनी तरफ बढ़ाने पर वह चित्र 5.4 (II) में बिन्दु Y_1 से ऊपर खींची गयी रेखा से बिन्दु A पर मिलती है। इसी प्रकार R_2E_2 बढ़ाए जाने पर Y_2 से ऊपर जाने वाली रेखा से बिन्दु B पर तथा R_3E_3 बढ़ाए जाने पर Y_3 से ऊपर जाने वाली रेखा से बिन्दु C पर मिलती है। इन सभी बिन्दुओं A, B तथा C को एक रेखा द्वारा मिलाने से हमें LM वक्र प्राप्त होता है। प्राप्त LM वक्र का प्रत्येक बिन्दु ब्याज–आय स्तर को व्यक्त करता है, जहाँ मुद्रा की मांग (L) तथा मुद्रा की पूर्ति (M) बराबर होती है। इस प्रकार यह LM वक्र विभिन्न आय–स्तरों को ब्याज की दरों के साथ सम्बद्ध करता है परन्तु यह नहीं बताता कि ब्याज की दर क्या होगी।

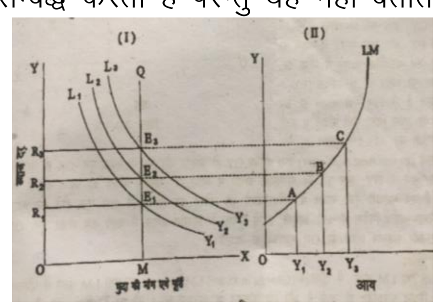

चित्र–5.4

LM वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर चढ़ता हुआ होता है जो यह दिखाता है कि मुद्रा के मात्रा दी हुई रहने पर तरलता अधिमान बढ़ने पर ब्याज की दर बढ़ती है। यह LM वक्र धीरे–धीरे शीर्ष हो जाता है, अर्थात् पूर्णतया बेलोच (perfectly inelastic) हो जाता है, क्योंकि जब आय के ऊँचे स्तरों पर लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग बढ़ती है तो उपलब्ध मुद्रा पूर्ति में से सट्टा उद्देश्य हेतु मुद्रा की मांग के लिए कुछ भी नहीं बचता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बाईं ओर LM वक्र Y-अक्ष को स्पर्श करता है। इसका अर्थ है कि वह पूर्णतया लोचदार (perfectly elastic) है जिसका अर्थ यह हुआ कि आय–स्तर में कमी होने से लेन–देन तथा सतर्कता उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग में कमी आ जाती है। इस तरह मुद्रा की अधिक मात्रा निष्क्रिय शेषों के रूप में प्राप्त होता है, परन्तु इससे ब्याज दर में कमी नहीं आती, क्योंकि एक ऐसी सीमा पर हम पहुँच चुके

होते हैं जिसके उपरान्त ब्याज दर और नहीं गिर सकती। ब्याज की दर जिस निम्न सीमा तक गिरेगी उसे केन्सीय विश्लेषण में तरलता पाश (Liquidity trap) की संज्ञा प्रदान की गयी है।

ब्याज की दर का निर्धारण (Determination of Rate of Interest)- IS तथा LM वक्र ब्याज की दर तथा आय के स्तर में सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। स्वतः वे न तो ब्याज की दर को बता सकते हैं और न ही आय के स्तर को। ब्याज की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ ये दोनों वक्र एक–दूसरे को काटते हैं। इसे चित्र 5.5 में प्रदर्शित किया गया है। चित्र में IS तथा LM वक्र एक–दूसरे को परस्पर E बिन्दु पर काटते हैं तथा OY स्तर के अनुरूप OR ब्याज की दर निर्धारित होती है। आय स्त र तथा ब्याज दर का यह संयोजन संतुलन की दोहरी शर्तों को पूरा कर रहा है। E बिन्दु पर वास्तविक क्षेत्र (बचत–निवेश) तथा मौद्रिक क्षेत्र (मुद्रा की मांग एवं पूर्ति) दोनों एक साथ संतुलन में होते हैं। यदि संतुलन की अवस्था में कोई विचलन (deviation) होता है तो कुछ शक्तियाँ इस प्रकार कार्य करेंगी कि संतुलन अवस्था पुनः स्थापित हो जाएगी। चित्रानुसार, आय के OY_1 स्तर पर वास्तविक बाजार में ब्याज दर PY_1 तथा मुद्रा बाजार में ब्याज दर QY_1 है। जब वास्तविक बाजार में ब्याज दर, मुद्रा बाजार की ब्याज दर से अधिक ($PY_1 > QY_1$) होती है तो लोग मुद्रा बाजार से कम ब्याज दर पर अधार लेकर पूँजी बाजार में ऊँची दर पर निवेश कर देगें। इससे आय का स्तर निवेश गुणक (investment multiplier) द्वारा बढ़कर OY हो जाएगा और संतुलन ब्याज पुनः OR हो जाएगी। इसी प्रकार आय के OY_2 स्तर पर जब वास्तविक बाजार में ब्याज दर, मौद्रिक बाजार की ब्याज दर से कम हो जाती है तब व्यापारी पूँजी बाजार में निवेश करने की अपेक्षा मुद्रा बाजार में ऋण मुक्त होने का प्रयास करेंगे। परिणामस्वरूप निवेश में कमी आएगी, इससे गुणक के विपरीत प्रभाव से आय कम होकर पुनः OY हो जाएगी और संतुलन ब्याज दर OR स्थापित हो जाएगी।

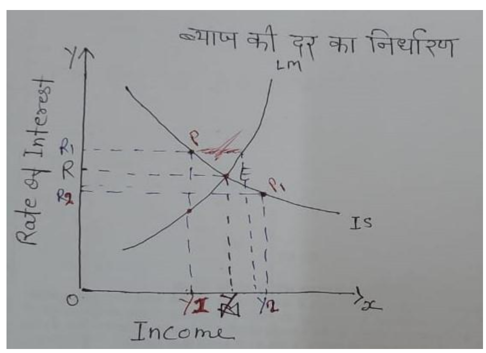

चित्र–5.5

IS तथा LM वक्रों में परिवर्तन (Change in IS and LM curves)- IS तथा LM वक्रों में परिवर्तन से संतुलन स्थिति परिवर्तित हो जाती है और नए संतुलन के अनुरूप ब्याज की दर निर्धारित होती है। जैसा कि चित्र 5.6 में प्रदर्शित किया गया है।

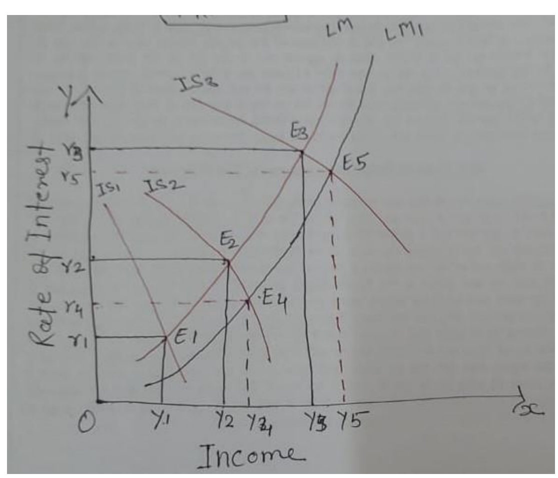

चित्र–5.6

मान लिया IS तथा LM मूल वक्र हैं और यह एक दूसरे को E_1 पर काटते हैं तथा OY_1 आय स्तर पर OR_1 ब्याज की दर निर्धारित होती है। यदि बचत निवेश अनुसूची दाई तरफ ऊपर खिसक जाती है अर्थात् IS वक्र दाहिनी तरफ खिसक कर IS_1 हो जाता है और LM वक्र में कोई परिवर्तन नहीं होता तब OY_2 आय स्तर पर OR_2 ब्याज की दर निर्धारित होगी। यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ा दी जाती है या तरलता अधिमान वक्र नीचे खिसक जाता है तो LM वक्र दायीं ओर सरककर LM_1 हो जाएगा तब नए IS तथा LM वक्र एक दूसरे को E_4 बिन्दु पर काटेंगे जिससे OY_4 आय स्तर पर OR_1 ब्याज दर होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब LM वक्र में परिवर्तन नहीं होता और IS वक्र दाएँ खिसक जाता है तब आय के स्तर तथा ब्याज की दर दोनों में वृद्धि होती है। इसके विपरीत जब IS वक्र आरिवर्तित रहता है और LM वक्र दाई ओर खिसकता है तब आय तो बढ़ती है परन्तु ब्याज की दर गिर जाती है।

अतः हिक्स–हेन्सन समन्वित सिद्धान्त ब्याज की दर के निर्धारण का एक सम्पूर्ण एवं निश्चित सिद्धान्त है, जिसमें वास्तविक एवं मौद्रिक सिद्धान्तों को समन्वित करके सभी कमियों को दूर कर दिया गया है।

प्राकृति एवं बाजार ब्याज दर (Natural And Market Rate Of Interest)-

ब्याज की प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक दर वह है जो बचत एवं निवेश के मध्य संतुलन स्थापित करती है। जब कि बाजार ब्याज दर वह है जो किसी समय बाजार में विद्यमान रहती है, इसे ब्याज की प्रचलित दर या वास्तविक दर भी कहा जाता है। इस तरह बाजार अथवा मुद्रा ब्याज दर वह है जो मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के बीच संतुलन स्थापित करती है।

ब्याज की प्राकृतिक एवं बाजार दर की विस्तृत विवेचना करने का श्रेय स्वीडेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री विक्सेल (Wicksell) को है। उनके अनुसार ब्याज की प्राकृतिक दर एवं बाजार दर में अंतर है। उनके मतानुसार "प्राकृतिक ब्याज दर है जिस प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया था। विक्सेल की धारणा थी कि प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक दर स्थिर न रहकर परिवर्तनशील होती है। यह तकनीकी प्रगति, वैज्ञानिक शोध, उत्पादकीय दक्षता, भूमि, श्रम तथा पूँजी के साथ बदलती रहती है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने प्राकृतिक एवं बाजार दर में कोई भेद नहीं किया था। विक्सेल ने इस भेद को स्पष्ट करते हुए बताया कि एक स्थैतिक अवस्था में ब्याज की प्राकृतिक दर, ब्याज की बाजार दर भी हो सकती है। एक ऐसी अर्थव्यवस्था में जहाँ बैंकों द्वारा साख निर्गमन न किया जाता हो, लोगों द्वारा बचतों का आसंचन (hoarding) अथवा विसंचन (dis-hoarding) न किया जाता हो तो अवश्य ही ब्याज की प्राकृतिक दर एवं बाजार दर में कोई अन्तर नहीं होगा। परन्तु, जिस वास्तविक आर्थिक जगत में हम रहते हैं, उसमें मुद्रा की भूमिका इस तरह निष्क्रिय नहीं होती, मुद्रा सक्रिय होती है तथा ब्याज दर के माध्यम से समूमची आर्थिक प्रणाली को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। फलस्वरूप बाजार ब्याज दर प्राकृतिक दर से कम या अधिक हो सकती हैं, विक्सेल का विचार है कि मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन की प्रक्रिया के फलस्वरूप बाजार ब्याज दर और प्राकृतिक ब्याज दर में अंतर हो जाता है। विक्सेल ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की धारणा से समझौता करने की दृष्टि से एक स्थिति ऐसी स्वीकार की है, जहाँ बाजार ब्याज दर प्राकृतिक ब्याज दर के बराबर हो सकती है। वह है सन्तुलन की स्थिति जहाँ प्राकृतिक दर, बाजार दर के बराबर होती है। परन्तु असंतुलन अवस्था में यह दोनों बराबर नहीं रह पाती। कीमतों में उतार–चढ़ाव की संचयी प्रक्रिया से अर्थव्यवस्था में असंतुलन पैदा हो जाता है। जिससे प्राकृतिक एवं बाजार दरों में विचलन उत्पन्न हो जाता है। यदि प्राकृतिक दर बाजार दर से ऊँची है तो अर्थव्यवस्था में प्रसार की स्थिति रहती है और अर्थव्यवस्था में संकुचन प्राकृतिक दर के बाजार दर से नीचे होने पर होता है।

5.3 सारांश

ब्याज का आधुनिक हिक्स–हेन्सन समन्वित सिद्धान्त कीन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त से निम्न बातों के कारण श्रेष्ठ है–

1. कीन्स का सिद्धान्त ब्याज दर के निर्धारण में केवल मौद्रिक तत्वों को सम्मिलित करता है और वास्तविक तत्वों की उपेक्षा करता है जबकि आधुनिक सिद्धांत ब्याज दर के निर्धारण में मौद्रिक एवं वास्तविक दोनों ही तत्वों को सम्मिलित करता है। इस प्रकार आधुनिक सिद्धान्त केन्सीय सिद्धान्त से श्रेष्ठ है।
2. कीन्स का तरलता अधिमान सिद्धान्त ब्याज दर निर्धारण का एक अनिश्चित सिद्धान्त हैं केन्सीय विश्लेषण में तरलता अधिमान अनुसूची आय के स्तर से सम्बद्ध नहीं है। जब तक आय का स्तर पहले से ही ज्ञात न हो, मुद्रा की मांग एवं पूर्ति वक्र के द्वारा ब्याज की दर ज्ञात नहीं की जा सकती। ब्याज दर आय के स्तर द्वारा और आय का स्तर ब्याज दर द्वारा निर्धारित होता है इस तरह केन्सीय सिद्धान्त अनिश्चित है। ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त केन्सीय से श्रेष्ठ है क्योंकि यह ब्याज निर्धारण का सम्पूर्ण एवं निश्चित सिद्धान्त है।
3. आधुनिक सिद्धान्त केन्सीय सिद्धान्त से इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि यह मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियों की व्याख्या करने में सफल रहा, जबकि केन्सीय सिद्धान्त ऐसा नहीं कर पाता।

5.4 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- ब्याज के आधुनिक सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2- प्राकृतिक ब्याज दर एवं बाजार ब्याज दर में अन्तर बताइए।

5.5 शब्दावली

ब्याज निरपेक्ष	:	Interest inelastic
निष्क्रिय शेष	:	Idle Balance
पूर्णतयः बेलोच	:	Perfectly Inelastic
पूर्णतयः लोचदार	:	Perfectly Elastic
विचलन	:	Deviation

5.6 संदर्भ सूची

Stonier and Hague	:	Text Book of Economic theory
Cairncross	:	Introduction to Economic Theory
Keynes	:	General Theory of Employment Interest and Money
Lerner	:	Essays in Economics
Meyers	:	Elements of Modern Economics

खण्ड–5

इकाई–1 अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक नीति की भूमिका एवं उद्देश्य

रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 मौद्रिक नीति का अर्थ
1.3 अर्थव्यवस्था के विकास में मौद्रिक नीति की भूमिका
1.4 स्फीति दबाव का नियंत्रण
1.5 परिवर्तनशील रिजर्व अनुपात
1.6 ब्याज दर नीति
1.7 वित्तीय सेवाओं का प्रसार
1.8 अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक नीति के उद्देश्य
1.9 स्फीति एवं अपस्फीति नियंत्रण
1.10 अविकसित देशों में मौद्रिक नीति का दायरा
1.11 निष्कर्ष
1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.1 प्रस्तावना

आम तौर पर, एक अविकसित अर्थव्यवस्था को कम प्रगति के साथ आर्थिक विकास के शुरुआती चरण में माना जा सकता है। अर्थव्यवस्था के भीतर प्रचुर प्राकृतिक और मानव संसाधनों की मौजूदगी के बावजूद, आर्थिक विकास की दर काफी धीमी है। दरअसल, 'अविकसित' वाक्यांश का प्रयोग केवल किसी अर्थव्यवस्था के संबंध में ही किया जाता है। विभिन्न देशों में विकास के स्तर में असमानता मौजूद है, कुछ देश दूसरों की तुलना में अधिक विकसित हैं जबकि कुछ समकक्षों की तुलना में कम विकसित हैं। विकास के मूल्यांकन के लिए उपयोग किये जाने वाले मापदण्ड क्या हैं? प्रोफेसर हर्बर्ट फ्रेंकल के अनुसार, किसी राष्ट्र का विकसित या अविकसित के रूप में वर्गीकरण उसके विकास के स्तर का आकलन करने के लिए उपयोग किए जाने वाले विशिष्ट मानदंडों पर निर्भर करता है।

अविकसित देशों में मौद्रिक नीति उन बाधाओं के अधीन है जो इसकी प्रभावशीलता को सीमित करती हैं। इस स्थिति का कारण इन देशों में सरकारी संपत्तियों के लिए पर्याप्त रूप से मजबूत बाजार का अभाव है, जो खुले बाजार की गतिविधियों की संभावना को सीमित करता है। इसके अलावा, फंडिंग आवश्यकताओं या छूट दर में बदलाव का प्रभाव सीमित है। लंबी अवधि में स्थिरता के साथ आर्थिक विकास एक अविकसित अर्थव्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है जिसे तब तक हासिल नहीं किया जा सकता जब तक कि सभी बुराइयों को दूर नहीं किया जाता। इसे प्राप्त करने के लिए, अविकसित देशों की मौद्रिक नीति का उद्देश्य न केवल आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन प्रदान करना चाहिए, बल्कि आर्थिक विकास के रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर करना और उत्पादन, रोजगार और आय की दर को बढ़ावा देना भी होना चाहिए।

आय, संसाधन, रोजगार के अवसर एवं जीवन निर्वाह के स्तर के आधार पर विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को विकसित,विकासशील एवं अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के रुप मे परिभषित किया जाता है।एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था वह है जिसमें संसाधन की कमी या संसाधन की कमी या संसाधनों के दोहन के वैज्ञानिक तरिके अनुपास्थित है,रोजगार के अवसर कम है, मानवपूंजी का विकास नहीं हुआ या न के बराबर हुआ है, जीवन जीने का स्तर कम है, जनसंख्या ज्यादा है तथा कैपिटल ऑउटपुर अनुपात एवं आय विषमता अधिक है। ऐसे में देश के समग्र विकास एवं नागरिक जीवन स्तर ऊँचा करने के लिए एक ठोस रणनीति आवश्यक होता है। इस प्रकार की रणनीति एवं देश के विकास की योजना बनाने में देश की उतरदायी सरकार एवं केन्द्रीय बैंक की मुज्य भूमिका हो जाती है।

सरकार जिन नीतियों का पालन करती है उसे राजकोषीय नीति कहते है। इसके अन्तगर्त वह कल्याणकारी बजट बनाकर एवं प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कराधान तंत्र के व्यवास्थित कर रोजगार एवं स्थिरता को बढ़ती है। बजट बनाने की प्रक्रिया में सरकार इस बात का पूर्ण ध्यान रखती है, कि समाज के कमजोर वर्गो का हित होने के साथ–साथ बचत एवं निवेश के बढ़ाया जाय तथा उद्योगो के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के साथ–साथ सामाजिक एवं आर्थिक आधारभूत संरचना का विकास हो। अल्पविकसित अर्थ व्यवस्थायें– कृषि आधारित होती है। जिनके सकल घेरलू उत्पाद में कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र का योगदान, विनिर्माण क्षेत्र एवं सेवा क्षेत्र की तुलना मे ज्यादा होता हैं। ऐसे में सरकार का मुख्य फोकस कृषि श्रेत्र का विकास होता है तथा इससे सम्बन्धित उद्योगों एवं परियोजनाओं को प्रोत्साहित किया जाता है।

अल्पविकसित देशों की मुख्य समस्याओं में अधिक जनसंख्या एक कारण होती है क्योंकि अनुउत्पादक जनसंख्या सरकार के दायित्वों को बढ़ा देती है। जिसमें बजट का अधिक हिस्सा कल्याणकारी योजनाओं जैसे–स्वास्थ योजना, शिक्षा योजना, वस्तुओं और सेवाओं पर सब्सिडी आदि के रुप में खर्च हो जाता है। ये उत्पादक परिसंपतियों नये रोजगार का सृजन कर आय वृद्धि करती है जिसमें बचत में वृद्धि होती है और पुनः निवेश को बढ़ावा मिलता है। परन्तु अल्प विकसित अर्थव्यवस्था में ऐसा देखने को कम प्राप्त होता है। हॉलाकि सरकार की राजकोषीय नीति अल्प विकास के दुश्चक्र को काटने की बड़ी भूमिका में होती है परन्तु वह अकेले न काफी है जिसमें मौद्रिक नीति के आधार विस्तृत हो जाता है।

मौद्रिक नीति का निर्धारण करना देश की केन्द्रीय बैंक का कार्य होता है। वह अपने विभिन्न उपकारणों के द्वारा व्यापारिक एवं अन्य बैंक के माध्यम में या स्वयं देश की मौद्रिक तरलता के समायोजित करती है। मौद्रिक क्षेत्र में मिले इसके अधिकार आय एवं रोजगार के स्तर एवं देश की संवृद्धि तक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

1.2 मौद्रिक नीति का अर्थ

मौद्रिक नीति, जिसे एक महत्वपूर्ण व्यापक आर्थिक साधन माना जाता है, का उपयोग भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) जैसे केंद्रीय बैंकों और अन्य नियामक निकायों द्वारा अर्थव्यवस्था के भीतर धन परिसंचरण की मात्रा और वेग का प्रबंधन करने के लिए बड़े पैमाने पर किया जाता है, जिससे ब्याज पर प्रभाव पड़ता है। दरें। किसी राष्ट्र का व्यापक आर्थिक माहौल उसकी मौद्रिक नीतियों से प्रभावित होता है। वित्तीय प्रणाली को संस्थागत ढांचे के रूप में वर्णित किया जा सकता है जिसके द्वारा किसी देश का मौद्रिक प्राधिकरण, अक्सर एक केंद्रीय बैंक, देश के अंदर धन के प्रवाह और बहिर्वाह पर नियंत्रण रखता है। यह नियंत्रण स्थिर आर्थिक विकास के रखरखाव और बढ़ी हुई धन सृजन की सुविधा सुनिश्चित करने के लिए नीति दरों का उपयोग करके हासिल किया जाता है। मौद्रिक नीति को अब आर्थिक शासन के लिए एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में मान्यता दी गई है। मौद्रिक नीति दो प्राथमिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किसी राष्ट्र के केंद्रीय बैंक द्वारा उपयोग की जाने वाली एक तंत्र के रूप में कार्य करती है। आर्थिक विकास को बढ़ावा देना, विशेष रूप से सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के संदर्भ में, और मुद्रास्फीति की दर को प्रभावी ढंग से प्रबंधित और विनियमित करना। यदि किसी केंद्रीय बैंक के पास मुद्रास्फीति दर को विनियमित करने या उस पर नियंत्रण रखने की क्षमता है, तो इसका तात्पर्य यह है कि उसके पास आर्थिक विकास की गति को प्रभावित करने की भी क्षमता होगी। दोनों

अवधारणाएँ परस्पर संबंधित हैं। मुद्रास्फीति दर को अर्थव्यवस्था के अंदर धन आपूर्ति में हेरफेर करके, इसे बढ़ाकर या घटाकर नियंत्रित किया जाता है।

1.3 अर्थ व्यवस्था के विकास में मौद्रिक नीति की भूमिका

समकालीन समय में, नए उभरते राष्ट्र आर्थिक विस्तार को बढ़ावा देने के साधन के रूप में मौद्रिक नीति के प्रभावी उपयोग पर आशंका व्यक्त कर सकते हैं। एक कम विकसित राष्ट्र में, मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन आर्थिक विकास को बढ़ावा देने, प्रारंभिक अविकसितता की स्थिति से स्थायी और स्वायत्त विकास के चरण में संक्रमण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

फिर भी, यह स्वीकार करना महत्वपूर्ण है कि औद्योगिक देशों की मौद्रिक नीतियों और पहलों का कार्यान्वयन हमेशा उभरते देशों के सामने आने वाली अनूठी चुनौतियों के सीधे जवाब के रूप में काम नहीं कर सकता है। मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन उन्नत और विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के बीच उल्लेखनीय भिन्नता प्रदर्शित करता है। इसलिए, विभिन्न प्रकार के राष्ट्रों में समान कार्य करना संभव नहीं है।

एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति साज की लागत तथा प्राप्त के प्रभावित करके स्फीति पर नियंत्रण तथा भुगतान शेष संतुलन के कायम रखकर आर्थिक वृद्धि की दर को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य करती है। अतः ऐसे देश में मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य स्फीति को नियंत्रित करने तथा कीमतों के स्थिर रखने के लिए साज नियंत्रण करना, विनिमय दर के स्थिर करना, भुगतान शेषों में संतुलन प्राप्त करना तथा आर्थिक विकास बढ़ाना है। आर्थिक विकास के अंतगर्त मात्रात्मक, धनात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन जैसे शिक्षा एवं स्वास्थ तथा सामाजिक पूँजी के भी शामिल किया जाता है।

कीमत स्थिरता प्राप्त करना (To achieve price stablity)- देश में वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमत स्थिरता प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय बैंक का मौद्रिक उपकरण एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में समुचित समायोजन लेकर आती है। इन दोनो के बीच असंतुलन कीमत स्तर में प्रतिलम्बित होता है। मुद्रा में कमी आर्थिक वृद्धि की बाधा बनती है जबकि इसकी अधिकता मूल्यों को बढ़ाकर आम जीवन को अस्त–व्यस्त कर देती है। जब अर्थव्यवस्था विकास की ओर अग्रसर हो तो कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि तथा गैर मौद्रिक श्रेत्र के मौद्रिक क्षेत्र में धीरे–धीरे परिवर्तन होने से मुद्रा के मांग में वृद्धि होती है। यहाँ गैर मौद्रिक क्षेत्र का मौद्रिक क्षेत्र में परिवर्तन से आशय नये संसाधनों के उपयोग एवं वितरण से है। इन परिवर्तनों से लेन–देन तथा सदा उददेश्य के लिए मुद्रा की मांग बढ़ेगी । इसलिए मौद्रिक अधिकारी को स्फीति रोकने के लिए तथा कीमतों में स्थिरता लाने के लिए मुद्रा की पूर्ति को मुद्रा की मांग के अनुपात से अधिक बढ़ाना पड़ेगा।

1.4 स्फीति दबाओं का नियंत्रण

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न हाने वाले स्फीतिकारी कारको के प्रभाव को शून्य या कम करने के लिए मौद्रिक नीति को साज नियंत्रण के मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों प्रकार के उपायें की आवश्यकता होती हैं, इसमें मात्रात्मक उपाय नियंत्रक तथा गुणात्मक उपाय निर्देश या सुझाव की प्रकृति के होते हैं मौद्रिक नीति के उपकारणों के रुप में मात्रात्मक उपाय व्यापरिक बैंकों की साज सृजन की क्षमता को नियंत्रित करता है। स्फीति के दिनों में केन्द्रीय बैंक अपनी दरों को बढ़ाकर व्यापारिक बैंको के ऋण देय कोष को कम देती है। या उनके ऋण लेना महंगा पड़ने लगता है जिसमें अर्थव्यवस्था में मुद्रा की तरलता कम होती है और महंगाई पर काबू पा लिया जाता है।

मौद्रिक नीति के उपायों में खुले बाजार का प्रचालन अल्पविकसित या अविकसित देशों में स्फीती को नियंत्रित करने में सफल नहीं होते है क्योंकि प्रतिभूति बाजार छोटा एवं अविकसित होता है। इसके अतिरिक्त

लोग सापेक्षतया कम व्याज दरों के कारण सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश करने के अनिच्छुक होते है साथ ही वे सरकारी प्रतिभूति में निवेश के बजार अपने रिजर्व को नकदी, स्वर्ण आदि में रखना पंसद करते है। व्यापारिक बैंक भी केन्द्रीय बैंक से उधार लेने या पुनर्वदृा करते रहना नहीं चाहते।

1.5 परिवर्तनशील रिजर्व अनुपात

(variable Reserve Ratio) या मात्रात्मक उपकरण का उपयोग अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बैंक दर नीति और खुले बाजार प्रचातनों की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होता है। चूकि प्रतिभूतियों का बाजार बहुत छोटा एवं कुछ लोगों की पहुंच तक सीमित है। यह बाजार आर्थिक जागरुकता के आभाव के कारण भी पिछड़ा रह जाता है। परन्तु केन्द्रीय बैंक द्वारा परिवर्तनशील रिजर्व अनुपात में वृद्धि या कमी प्रतिभूतियों की कीमतों पर बिना विपरित प्रभाव डाले व्यापरिक बैंकों के पास उपलब्ध नकदी को बढ़ा या घटा देते है। जिसमें इन बैंको की कृपा की ऋण देय क्षमता बढ़ एवं घट जाती हैं। साथ ही यह ध्यान देने योग्य होगा कि व्यापरिक बैंक अपने पास विशाल नकद रिजर्व रखते है जो केन्द्रीय बैंक के द्वारा घटाये नहीं जा सकते परन्तु ऋण रिजर्व अनुपात को बढ़ाने से बैकों की तरलता घटती है। लेकिन अल्पविकसित देशों में परिवर्तनशील रिजर्व अनुपात के उपयोग की कुछ सीमाएँ है–पहला चूंकि गैर बैंकिग वितीय मध्यस्था (Nan Bank) केन्द्रीय बैंक के पास जमाओं को नहीं रखते है, इसलिये वे इससे प्रभावित नहीं होते। दूसरे वे बैंक जो अतिरिक्त तरलता नहीं रखते है उनकी अपेक्षा जो इसे रखते हैं, अधिक प्रभावित होते है।किन्तु प्रभाविता एवं उपयोगिता के दृष्टिकोण से साज के आवंटन के प्रभावित करने में मात्रात्मक उपायों की अपेक्षा गुणात्मक साज नियंत्रण उपाय अधिक प्रभावकारी होते है। अल्पविकसित देशों में लोगों की यह प्रवृत्ति दिखाई देती ह। कि वे कृषि, खदान, प्लाटेशलन और उद्योग में उपलब्ध वैकल्पिक उत्पादकीय स्रोतो की अपेक्षा स्वर्ण,आभूषण,रियल स्टेट आदि में निवेश के अधिक इच्छुक होते है। इस प्रकार के अनुत्पादकीय उद्देश्यों के लिए साज सुविधाओं को नियंत्रित तथा सीमित करने में चयनात्मक साज नियंत्रण (qvalitative credit contral) अधिक उपयोगी है।

चयनात्मक साज नियंत्रण की उपयेगिता इस बात से भी सिद्ध होती है। कि वे खाद्यनो तथा कच्चे माल के विषय में सटा क्रियाओं के नियंत्रित करने में लाभदायक होते है। वे अर्थव्यस्था मे सेक्टोअल स्फीतियों को रोकने में अधिक उपयोगी साबित होते हैं साथ ही आयातकर्ताओं के लिए विदेशी मुद्रा के बराबर अग्रिम राशि में जमा करना अनिवार्य बनाकर अख्यात के लिए मांग में कटौती करते है। जिसमें इसका परिणाम यह होता है कि बैंको के रिजर्व घर जाते है और संतुलन की अवस्था बनी रहती है। इस प्रकार गुणात्मक साजनियंत्रण उपाय निश्चित प्रकार के जमानत, उपभोक्ता साज नियम और साज की राशनिंग के बाजार सीमा आवश्यकताओं के परिवर्तन के रुप मे हो सकते है।

रोजगार एवं आय वृद्धि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की मौद्रिक नीति का अंतिम उद्देश्य देश में रोजगार का सृजन करना जिसमें लोगों की आय में वृद्धि हो। आय वृद्धि के सहउत्पाद के रुप में शिक्षा एवं स्वास्थ्य में निवेश बढ़ता है जिसमें देश की मानवपूंजी में गुणात्मक परिवर्तन होता है। इन परिवर्तनों के चलते देश अल्पविकसित से विकासशील और अन्ततः विकसित देश में तब्दील हो जाता है। रोजगार एवं आी में वृद्धि अर्थव्यवस्था में निवेश को बढ़ा का प्राप्त की जा सकती है। निवेश में वृद्धि से उत्पादन एवं उपभोग में वृद्धि कें समय नियति के प्रोत्साहन मिलता है। जिससे भुगतान शेष असंतुलन की स्थिति में सुधार होता हैं

भुगतान भोश घाटा कम करना (To Bridge Bop Deficit)- ब्याज दर नीति के रुप में मौद्रिक नीति भुगतान शेष के घाटे के पाटने के लिए एक महत्वपूर्ण हथियार हो सकती है। विकास के नियोजित लक्ष्यों के पूरा करने में अल्पविकसित देशों के गंभीर भुगताल संतुलन की स्थिति से गुजरना पड़ता है। इन देशों के तकनीकी ज्ञान एवं कौशल के अभाव कारण विद्युत सिंचाई, परिवहन आदि जैसी बुनियादी ढांचा सुविधाओं के स्थापित करने तथा लोहा, इस्पात, उर्वरक, रसायन आदि प्रत्यक्ष उत्पादकीय क्रियाओं के लिए पूंजी, मशीन उपकरण, पुर्जो आदि आयात करने पड़ते है जिससे उनके आयातों में तो वृद्धि होती है। परन्तु नियति गतिहीन होते है और साथ ही

स्फीति के कारण नियति के मध्य गहरी खाई हो जाती है। और भुगतान शेष असंतुलित हो जाता है। मौद्रिक नीति की ऊँची ब्याज दर द्वारा भुगतान शेष के घाटे को कम करने में मदद मिल सकती है।ऊँची ब्याज दर निवेशों के अन्तवृद्धि के प्रोत्साहित कर भुगतान शेष के समायोजित कर सकती हैं।

1.6 ब्याज दर नीति

एक अल्पकिसित अर्थव्यवस्था में उच्च ब्याज दर नीति अधिक बचत दर के प्रोत्साहित करती है। साथ ही लोगो में बैंकिग आदतों को विस्तार होता है तथा अर्थव्यवस्था के मुद्रीकरण के गति मिलती है, जो पूंजी निर्माण एवं आर्थिक विकास का आव"यक तत्व है। ऊंची ब्याज दर की नीति स्फीति के दूर करने वाली होती है। क्योंकि यह सट्टे तथा करेंसियों के लिए उधार लेने एवं निवेश करने के हतोत्साहित करती है। फिर भी यह नीति दुर्लभ पूंजी संसाधनों के आवंटन के अधिक उत्पादकीय स्रोता में बढ़ावा देती है।

हॉलाकि ऊँची ब्याज दरे घरेलू निवेश में बाधक मानी जाती है। परन्तु आनुभविक प्रमाण यन बताते है कि अल्पविकसित देशों में व्यवसाय तथा उद्योग में निवेश बेलोच होते है। क्योंकि निवेश की कुल लागत में ब्याज का बहुत कम अनुपात होता है। इन परस्पर विपरित अवधारणाओं के बावजूद, मौद्रिक अधिकारी के लिए विभेदक (Discrimintory) ब्याज दरों की नीति के अनुसरण ररना उचित होता है इए नीति के अनुसार अनावश्यक तथा अनुत्पदकीय प्रयोगों के लिए ऊंची ब्याज दरें और उत्पादकीय प्रयोगो के लिए नीची ब्याज दरे होनी चाहिए।

1.7 वित्तीय सेवाओं का प्रसार

अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति के उद्देश वित्तीय सेवाओं का प्रसार होना चाहिए। इसके लिए बैंकिग और वित्तीय संस्थाओं की स्थापना एवं विकास करना होता है। जिससे बचतों के जुटाने एवं पूंजी निर्माण के लिए प्रोत्साहित करने में मदद मिलती है। मौद्रिक अधिकारी के बैकिंग सेवा में मदद मिलती है। मौद्रिक अधिकारी को बैंकिग सेवा के प्रसार के लिए भाषा विस्तार एवं ग्रामीण तथा शहरी वंचित क्षेत्रों तक पहुँच सुनिश्चित करनी होगी। ऐसी नीति गैर मौद्रिकृत क्षेत्र के मुद्रीकरण में सहायक होगी और पूँजी निर्माण के लिए बचत एवं निवेश के प्रोत्सहित करेगी। साथ ही अल्पविकसित देशों में वित्तीय सेवा का प्रसार काल्याणकारी अर्थव्यवस्था का मुल्य लक्ष्य होता है। जिससे देश में गैर संस्थागत ऋण स्रोतो की प्रभाविता एवं मनमर्जी लगाम लगाती है एवं संस्थागत सेवाओं को प्रोत्साहन मिलता है।

1.8 अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक नीति के उद्देश्य

एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में सार्वजानिक ऋण का प्रबंधन करना मौद्रिक नीति के उद्देश्य में शामिल होना चाहिए। सरकारी बाडी के उचित समय पर जारी करना, उनकी कीमतो के स्थिर करना और सर्वजानिक ऋण की सेवा लागत के न्यूनतम बनाना मौद्रिक अधिकारी का कर्तव्य होना चाहिए। ऐसे देशो में सार्वजनिक ऋण मुद्रा पूर्ति के नियंत्रित करने और विकास प्रोग्रमों के वित्र प्रदान करने के लिए आवश्यक होते है। इस प्रकार की नीतियों के कारण ही देश का सतत् विकास सम्भव हो सकता है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक नीति के उद्देश्य—

अर्थव्यवस्थाओं के मौद्रिक नीति के उद्देश्यों के संदर्भ में यदि कहा जाए तो ये वे लक्ष्य होते है जिनके भविष्य में प्राप्त करना है। क्योकि ये लक्ष्य ही विकास के वाहक होते है और साथ ही अर्थव्यवस्था के समग्र विकास के आधारभूत स्तम्भ है। इन उद्देश्यों के पूरा करने के लिये केन्द्रीय बैंक या सरकार द्वारा निर्देशित निकाय विभिन्य उपागमों के अपनाते हुये इन लक्ष्यों या उददेश्यों के प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अपने आपमें ये लच्छ मूलभूत और अर्थव्यवस्था के विकास के मानक है। इनको प्राप्त करने के दो तरीके है जिनमें पहला कठोर नियामक तंत्र हैं। इसके अंतगर्त लक्ष्यों के प्राप्त करने के लिए मौद्रिक ईकाइयों के ऊपर कठोरनियामकीय कार्यवाईयॉ की जाती है और उन्हें स्पष्ट निर्देश दिया जाता है कि वे अपनी परिसम्पतियों के किस क्षेत्र में निवेशित करें। अर्थात उनके द्वारा प्रदान किये जा रहे ऋणों की दशा एवं दिशा में निर्धारित किया

जाता है। इस तंत्र का उपयोग प्रायः शुरुआती चरणों में किया जाता है। जिसका उद्देश्य पिछड़े हुये मौलिक क्षेत्रों के साष की सुविधा उपलब्ध कराना क्योंकि ये क्षेत्रक मौद्रिक इकाइर्यों एवं संस्थाओं को व्यवसायिक लाभ उतना नहीं प्रदान करते बल्कि ये दीर्घकालिक सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव वाले होते है। कठोर नियामकीय तंत्र कल्याणकार तंत्र होता है परन्तु यह दूसरे प्रकार के तंत्र की अपेक्षा का प्रभावकारी होता है।

लचीले नियामक तंत्र के अंतगर्त मौद्रिक इकाइयों एवं संस्थाओं के सुझाव एवं सलाह दी जाती है कि उन्हें अपनी साष सृजन क्षमता का उपयोग कि दिशा में करना चाहिए। इस प्रकार के तंत्र में औद्योगिक ऋण बाजार, पूंजी की उधम क्षेत्र में सुलभता, व्यापार, प्रतिस्पर्धा निवेश वृद्धि आदि प्रकार की उपलब्धियॉ प्राप्त हो सकती है। लचीले नियामक तंत्र से मौद्रिक संस्थाओं को भी लाभ प्राप्त होता है जिससे उनकी संख्या एवं भाषा में प्रसार होता है और वे अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र के छूने की प्रवत्ति में होती है।मौद्रिक निति के उद्देश्यों प्राप्त करने के दोनों तरीके अपनी स्थिति में सही हैं जहां पहला शुरुआती चरण में सल क्षेत्रों के सास लेकर चलने का सिद्धान्त रखता वही दूसरा अन्य चरणो में अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण क्षेत्रों के प्रदान करता है। उददश्यों की पूर्ति अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक लक्ष्य निधार्रित किये जोते है। उदाहरण के लिए दीर्घकालिक आर्थिक विकास के लक्ष्य के प्राप्त करने के लिए मूल्य स्थिरता, स्फीती नियंत्रण, निवेश वृद्धि,आयात में कमी तथा निर्यात वृद्धि जैसे अल्पकालिक लक्ष्यों को निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार में लक्ष्य को निर्धारित किया जाता है। इस प्रकार में लक्ष्य एवं उद्देश्य आपस में अन्तसंबंधित होते है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के मौद्रिक नीति उद्देश्यों के निम्न प्रकारों में परिभाषित किया जा सकता है।–

अर्थव्यवस्था का विकास–मौद्रिक नीतियों के उद्देश्यों के अंतिम लक्ष्यों के रुप में अर्थव्यवस्था के विकास को रख जाता है। क्योंकि होता है। आर्थिक में अन्य सभी मौद्रिक नीतिगत एवं राजाकोषीय नीतिगत उद्देश्य समाहित है। अन्य मौद्रिक नीतिगत उद्देश्यों के प्राप्त किये बिना आर्थिक विकास के उद्देश्यों प्राप्त नहीं किया जा सकता है। आर्थिक विकास के समस्त उद्देश्य एवं उपागमों का प्रतिफल होता है। इसके आर्थिक संवृद्धि के साथ–साथ क्षेत्रों जैसे शिक्षा,स्वास्थ जीवन प्रत्याश आदि जैसे गुणात्मक लक्ष्यों की संवृद्धि के साथ आकलित किया जात है। आर्थिक विकास के मात्रात्मक पहलु में सकल घरेलू उत्पाद राष्ट्रीय आय, प्रतिव्यक्ति आय व्यय स्तर आदि की गणना की जाती है। इन दोनों मात्रात्मक एवं गुणात्मक पहलुओ की संवृद्धि के आधार पर अर्थव्यवस्था के विकास को परिभाषित किया जाता है। अर्थव्यवस्था के विकास के अन्य पहलुओं में कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न क्षेत्र में नियोजन के आधार पर भी परिभषित किया जाता हैं अर्थात अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के कार्यशील जनसंख्या का सर्वाधिक हिस्सा प्राथमिक के कार्यशील क्षेत्रक पानी कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र में नियोजित होगा तथा विकसित अर्थव्यवस्था के कार्यशील जनसंख्या को अधिकांश प्रतिशत क्षेत्र सेवा क्षेत्र पानी में नियोजित होगा। इसलिए अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति के अर्थव्यवस्था के विकास के उद्देश्य में प्राथमिक क्षेत्र से सेवा क्षेत्र की ओर प्रतिस्पादन के लक्ष्य निश्चित किया जाता है।

1.9 स्फीति एवं अपस्फीति नियंत्रण

मौद्रिक संस्थाओं की साष सृजन की क्षमता के नियंत्रित करने की असफलता के कारण, हीनार्थ प्रबंध के कारण, लागत में वृद्धि या मांग की तुलना में पूर्ति की कमी के कारण अर्थव्यवस्था में स्फीति की स्थिति उत्पन्न होती है। और इसके विपरित दशाओं में अपस्फीति का जन्म होता हैं दोनों स्थितियॉ अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होता हैं जहॉ स्फीति सामान्य दशाओं में रोजगार एवं निवेश में वृद्धि तो करती है परन्तु उच्च स्थिति में यह आम जनता पर बोझ बढ़ देती है और साथ ही साथ निगर्मन करने वाली सेस्थाओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है वही अस्फीति प्रत्येक दशा के हानिकारक होती है। वह आर्थिक विकास की गति के धीमा कर देती हैं। मूल्यों में कमी,लाभ में कमी निवेश में कमी, रोजगार मे कमी,करके एक दुःखचक्र कर निर्माण करती है। इसलिए यन जल अपने उच्च स्तर पर होती है तो स्फीति से ज्यादा खतरनाक होती है। मौद्रिक नीति के उद्देश्य इन दोनो प्रकार की नकारमत्क प्राभावों को कम करना और आर्थिक विकास के बल देना होता है। इसके अन्तगर्त मौद्रक संस्थाओं पर उचित नियाम मानदण्डों के कम लचीना बनाया जात है।

मूल्य स्थिरता– मौद्रिक नीति के प्रमुख लक्ष्यों में वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यों में स्थिरता प्राप्त करना शामिल होता है। मौद्रिक अधिकारी विभिन्न उपायें को अपनाकर आर्थिक गिरावट वाले वस्तु एवं सेवा के मूल्य में वृद्धि तथा अधिक उछाल वाले वस्तु एवं सेवा के मूल्य में कमी करने का प्रयत्न करता है। मूल्य स्थिरता उत्पादन एवं उपभोग की सीमा तक करती हैं मूल्यों में अत्यधिक अस्थिरता उत्पादन इकाईया साथ–साथ उपयोग करने वाले लोगों को अपने बचत एवं निवेश की योजनाओं के प्रातिकूल प्रभावित करती है। मूल्य स्थिरता एवं भविष्य में लाभ की आकांक्षा घरेलू निवेश के साथ.साथ विदेशी निवेश का भी आकर्षित करती है। इसलिए अर्थव्यवस्था में मूल्य स्थिरता एक आवश्यक तत्व है।

निवेश में वृद्धि– मौद्रिक अधिकारी ब्याज पर अधिक प्रतिफल की नीति का अनुसरण कर देश में विदेशी एवं घरेलू निवेश में वृद्धि कर सकता है।उच्च मौद्रिक उत्पादकता विदेशी निवेश अर्न्तवाह के गति प्रदान करता है निवेश में वृद्धि विदेशी मुद्रा प्राप्तियों में भी वृद्धि करती है। जिससे भुगतान असंतुलन के दुः प्रभावों के भी कम किया जा सकता है। भुगतान संतुलन एवं सरलस की स्थिति देश की सशक्तता के इंगित करता हैं जिससे देशी एवं विदेशी निवेशको के निवेश करने के लिये अवस्था बनता हैं इसलिए मौद्रिक नीतिपग उद्देशों में इसे भी शामिल किया जाता हैं।

भुगतान संतुलन– मौद्रिक नीति कीमत स्थिरता, स्फीति एवं अपरिथित नियंत्रण साष की अपलब्धता, निवेश में वृद्धि की देश नियति वृद्धि एवं आयात प्रतिस्थापन के प्रति अनुकूल दशाओं का निर्माण कर भुगतान संतुलन को बनाने रखता है। भुगताल असंतुलन की स्थिति विदेशी मुद्राओं की कमी एवं नियति के अपेक्षा आयात में वृद्धि के फलस्वरुप उत्पन्न होती है। केन्द्रीय बैंक घरेलू मुद्रा के वाहय मूल्य के कम करके वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात में वृद्धि कर सकता है। भुगतान संतुलन अर्थव्यवस्था की मौद्रिक नीति का अनिवार्य तत्व है जो देश है जो देश की साख (Status) में वृद्धि करता है।

रोजगार के अवसर– देश में पूर्ण रोजगार एक मनत्वपूर्ण लक्ष्य होता है। जो देश की आर्थिक नीति का प्रतिबिम्ब है। रोजगार हीन जनसंख्या देश के दायित्व में वृद्धि करती है। जो शक्ति सहित उत्पादक का घातक है। रोजगार के अधिक अवसर सृजित करना मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य है।इससे आय, उपभोग,जीवन निर्वाह स्तर, जीवन प्रत्याशा बचत एवं निवेश में वृद्धि होती है। जो अन्ततः अर्थव्यस्था, के विकास में महत्वपूर्ण योगदान निभाता है। मौद्रिक अधिकारी अर्थव्यवस्था में मुद्रा पूर्ति के बढ़ाकर नये उद्योगों की स्थापना एवं उद्यमशीलता की क्षमता में वृद्धि कर सकता है। जिससे रोजगार में अवसर बढ़ जाते है। और वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग में वृद्धि होती है।

नियति में वृद्धि एवं आयात प्रतिस्थापन– घरेलू एवं सेवाओं की मूल्य वृद्धि या तो इनपुर लागतों में वृद्धि के कारण होती है। या बाजार में अधिक तरस्ता के कारण उत्पन्न हुई मां में वृद्धि के कारण इस अवस्था में निर्यात प्रतिकूल रुप से प्रभावित होता हैं और विदेशी बाजार में उसी प्रकार की वस्तु एवं सेवा की सस्ती कीमत आयात के प्रोत्साहित करती है जो किसी अर्थव्यवस्था खासकर अल्पविकसित अर्थव्यवस्था के नकारात्मक रुप से प्रभावित करती है। इसलिए मौद्रिक नीति के उपायों के अधीन विनिमय दर एवं मुद्रा के आंतरिक नीति एवं बाहय मूल्य के नियंत्रित कर नियति में वृद्धि एवं आयात प्रतिस्थापन को उद्देश्य पूरा करना मौद्रिक नीति का लक्ष्य होता है।

असमानता में कभी– अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में आय की अपमानता अधिक होती है। देश के शीर्ष कुछ लोगो के पास देश की सम्पत्ति का सर्वाधिक हिस्सा तथा अधिक लोगो में पास सम्पत्ति का कुछ हिस्सा होता है।एसे में भ्रष्टाचार एवं अपराध अपनी चरम स्थिति में होते है। जिससे देश की सरकार एवं नियामक संस्थाओं की नीतियों में आय असमानता में कभी लाना प्रमुख उद्देश्य बन जाता है। मौद्रिक अधिकारी अपनी मौद्रिक संस्थाओं पर नियामक नीति के द्वारा आय असमानता में कभी कर सकता है। वह क्रेडिट रॉशनिंग या प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र को उधार (Priority sector debting psc) नीति या लीड बैंक योजना जैसी योजना या अन्य योजना एवं बैंको के वर्गीकरण की नीति का अनुसरण कर साष के विभिन्न सैक्टरों में मोविलाइज कर आप की समानता स्थापित करने में मदद कर सकता है। इसलिए यह मौद्रिक नीति के उद्देश्यों में शामिल एक सामाजिक लक्ष्य है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति की भूमिका राजकोषीय नीति जितना ही महत्वपूर्ण होती है। जहाँ राजकोषीय नीति बजट में विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन एवं कराधान आदि नीति का पासन कर देश की अर्थव्यवस्था की विकास में योगदान देती है। वही मौद्रिक नीति वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों में स्थिरता, स्फीतिकारी दवाओं को कम कर,उचित ब्याज दर नीति एवं सार्वजानिक ऋण का प्रबंधन कर अर्थव्यवस्था के गति प्रदान करती है। अर्थव्यवस्था के विकास में मौद्रिक नीति की विभिन्न भूमिका मौद्रिक नीति निर्णायक संस्था को महत्वपूर्ण बना देती है। इसलिए एक सशक्त मौद्रिक निति निर्माणक मशीनरी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में प्रमुख स्तम्भ होती है जो देश के विकास की दिशा तय करती है। यह अपने द्वारा लक्षित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विभिन्न उपकरणों (tools) के सहारा लेकर देश के अल्प विकसित पदनाम के परिवर्तित करती हैं अतः मौद्रिक नीति की भूमिका एवं स्पष्ट उद्देश्य अर्थव्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण होते है।

1.10 अविकसित देशों में मौद्रिक नीति का दायरा

निम्न कारणों से उन्नत देशों में इसकी तुलना में विकसित देशों में मौद्रिक नीति का दायरा बेहद सीमित है:

- एक विकसित अर्थव्यवस्था में, मुद्रा बाजार में संगठन का अभाव होता है, जिसके परिणामस्वरूप केंद्रीय बैंक के मौद्रिक प्रबंधन में संभावित खामियां होती हैं।
- अधिकांश गरीब देशों में, धन आपूर्ति का प्राथमिक घटक प्रचलन में भौतिक नकदी द्वारा दर्शाया जाता है, जबकि बैंक जमा तुलनात्मक रूप से सीमित पैमाने पर होते हैं। आर्थिक रूप से वंचित देशों में व्यक्तियों के बीच स्थापित बैंकिंग प्रथाओं की अनुपस्थिति बैंकिंग क्षेत्र के विनियमन के माध्यम से अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालने की मांग करने वाले मौद्रिक अधिकारियों के लिए एक चुनौती है।
- विकासशील देशों में बैंक दर या अन्य मौद्रिक साधनों की कमी के कारण परिवर्तनों की अप्रभावीता को उनकी अर्थव्यवस्था के भीतर एक महत्वपूर्ण गैर—मुद्रीकृत क्षेत्र की उपस्थिति के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

1.11 निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत अल्पविकसित देशों में मौद्रिक नीति किस हद तक प्रभावी हो सकती हैं, इसमें बाधाएँ डालती हैं। फिर भी, यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि समग्र आर्थिक ढांचे में मौद्रिक नीति का अभी भी महत्व है। कुछ बाधाओं की उपस्थिति के बावजूद, एक विकासशील देश में मौद्रिक नीति ऋण उपलब्धता और उपयोग पर प्रभाव डालकर, मुद्रास्फीति के दबावों को संबोधित करके और अर्थव्यवस्था में संतुलन सुनिश्चित करके आर्थिक प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। एक तर्क यह भी है कि विकास की कमी के कारण अर्थव्यवस्था के अंदर मौद्रिक आपूर्ति का प्रमुख हिस्सा बैंक जमा के विपरीत भौतिक मुद्रा के रूप में प्रकट होता है। परिणामस्वरूप, केंद्रीय बैंक मुद्रा के प्रचलन को विनियमित करके व्यय की गति पर अधिक प्रभावी नियंत्रण रख सकता है। कम विकसित राष्ट्र में आर्थिक विकास की रणनीतिक योजना पर मौद्रिक नीति और प्रबंधन का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। प्राथमिक उद्देश्य पूरे देश में विकासात्मक प्रयासों के वित्तपोषण के लिए आवश्यक बुनियादी ढांचे की स्थापना या सुधार को सुविधाजनक बनाना है। इसके अतिरिक्त, इसका उद्देश्य वित्तीय संसाधनों के उचित आवंटन की गारंटी देना है। संक्षेप में, अविकसित अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति के उपयोग का उद्देश्य विकास की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना और स्थिरता के स्वीकार्य स्तर को बनाए रखते हुए आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए आदर्श परिस्थितियाँ प्रदान करना है।

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अहमद, मोइद यू., मौद्रिक नीति परिवर्तनों की प्रभावशीलता का विश्लेषण (31 जुलाई, 2014)। http://dÛ-doi-org/10-2139/ssrn-2474594

2. पालकील, पी. (2007)। भारत में मौद्रिक नीति संचरण की गतिशीलता, साउथ एशियन जर्नल ऑफ मैनेजमेंट, 14(3), पीपी. 95—114

3. चन्द्रशेखर, सीपी और घोष, जे (————————) एक असमान विश्व अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीतिरू

निम्न और मध्यम आय वाले देश कैसे प्रतिक्रिया दे सकते हैं? "वैश्विक मुद्रास्फीति आजरू क्या किया जाना है?" विषय पर सम्मेलन में पेपर प्रस्तुत किया गया। ", राजनीतिक अर्थव्यवस्था अनुसंधान संस्थान, मैसाचुसेट्स एमहर्स्ट विश्वविद्यालय, यूएसए, नवंबर।

4. https://www.yourarticlelibrary.com/policies/monetary-policy-in-under-developed -countries/23467

5. बर्मन आर.बी., "भारत में मौद्रिक नीति के लिए आर्थिक संकेतकों का पूर्वानुमान: एक आकलन", आईएफसी बुलेटिन, वॉल्यूम। 13, 2002, पृ.80—93.

6. अरुण घोष, "समायोजन कार्यक्रम और ब्याज दर नीति।" इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, वॉल्यूम। 29(25), जून 1994, पृ.1501—1505।

7. एरोल डिसूजा, "बदलता मौद्रिक वातावरण"। इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, जनवरी 2001, पृ. 299—301।

8. दीपक मोहंती, "भारत में मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन। मार्च 2010 को बैंकर्स क्लब, एक्सश्श में दिया गया भाषण, www-rbi-org-in

9. राजवाड़े, ए.वी., "मौद्रिक नीति के परिप्रेक्ष्य", आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक, खंड। 34(48), नवंबर 1998, पृ.3339—3340

10. श्रीमती सीमा गोयल, एक अविकसित अर्थव्यवस्था का विवरण: भारत के संदर्भ में, खंड: 4, अंक : 5 , मई 2015, आईएसएसएन नंबर 2277 — 8179

11. https://sarkariguider.com/alpavikasit-arthavyavastha/

12. https://sarkariguider.in/अल्पविकसित—अर्थव्यवस्था

इकाई–2 मौद्रिक नीति के उपकरण

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मौद्रिक नीति की आवश्यकता

2.3 मौद्रिक नीति के उद्देश्य

2.4 मौद्रिक नीति के उपकरण

2.5 मौद्रिक नीति की सीमाएं

2.6 सारांश

2.7 बोध प्रश्न

2.8 शब्दावली

2.9 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

मौद्रिक अर्थशास्त्र के इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य मुद्रा तथा साख की मात्रा का देश की आवश्यकता के अनुसार नियमन किया जाना है। देश में मुद्रा तथा साख की पूर्ति को एक निर्धारित स्तर पर बनाये रखने के लिए देश के मौद्रिक प्राधिकारी द्वारा एक व्यापक नीति बनाई जाती है। मौद्रिक नीति के अंतर्गत उन सभी क्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है जो प्रणाली को प्रभावित करती है। मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन अथवा उनके उदारता द्वारा प्रयोग द्वारा देश के केन्द्रीय बैंक निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है अतः स्पष्ट है कि इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह समझ सकेंगे कि–

1. मुद्रा और साख की मात्रा में परिवर्तन का आर्थिक नीति पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. मौद्रिक नीति का नियमन कौन करता है?
3. मौद्रिक नीति के उद्देश्य क्या होते हैं?
4. मौद्रिक उपकरणों के द्वारा नीति निर्धारण में कहाँ तक सफलता मिलती है?

2.1 प्रस्तावना

मौद्रिक नीति से तात्पर्य उन सब उपायों से है जो अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा साख को नियन्त्रित करते हैं। अन्य शब्दों में किसी देश की सरकार केन्द्रीय बैंके के माध्यम से अर्थव्यवस्था में किसी विशेष आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु (यथा–मूल्य स्थिरता, विदेशी विनिमय दर स्थिरता, पूर्ण रोजगार अथवा आर्थिक विकास) चलन में मुद्रा एवं साख की मात्रा को नियमित एवं नियंत्रित करने हेतु जो नीति अपनाती है, उसे मौद्रिक नीति कहा जाता है।

जॉनसन (Johnson) के अनुसार, "मौद्रिक नीति का आशय केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण रखने की नीति से है, ताकि सामान्य आर्थिक नीति के उद्देश्य पूरे हो सकें।"

पाल ऐंजिग (Paul Einzig) के अनुसार, "मौद्रिक नीति के अन्तर्गत उन सभी मौद्रिक निर्णयों और उपायों को शामिल किया जाता है, जिनका उद्देश्य मौद्रिक प्रणाली को प्रभावित करना हो।"

केण्ट (Kent) के अनुसार, "मौद्रिक नीति का आशय एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए चलन का विस्तार और संकुचन करने की व्यवस्था से है।"

इस तरह, मौद्रिक नीति केन्द्रीय बैंक की उस नियंत्रण नीति को कहा जाता है, जिसके अंतर्गत किन्हीं विशिष्ट आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु मुद्रा की मात्रा, मुद्रा सेवा कीमत (ब्याज दर) तथा उसके उपयोग को नियंत्रित करने के उपाय किए जाते हैं।

2.2 मौद्रिक नीति की आवश्यकता

पिछले तीस वर्षों में संसार की आर्थिक नीतियों तथा परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हो गए हैं जिनके कारण मौद्रिक नीति की उपयोगिता निरन्तर बढ़ती जा रही है। परन्तु उसकी सफलता के मार्ग में अत्यधिक कठिनाइयां भी उत्पन्न हो गई हैं जो निम्न हैं–

1. यह सत्य है कि कुछ देशों में गत वर्षों में बेरोजगार व्यक्यिों की संख्या में वृद्धि हुई है। परन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि इन प्रयत्नों के बिना बेरोजगारों की संख्या और अधिक होती। वस्तुतः गत वर्षों में काम दिलाने के अनेक नए क्षेत्र निकाले गए हैं।
2. रोजगार की स्थिति में सुधार होने तथा उत्पादन की नई पद्धतियों का प्रयोग होने का कारण प्रायः सभी देशों की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है जिससे लोगों के रहन–सहन, उपभोग के स्तर, बचत करने की शक्ति तथा विनियोग करने की प्रवृत्ति में व्यापक वृद्धि हुई है। इन सब क्रियाओं से स्फीतिक वातावरण की उत्पत्ति हुई है। इस स्फीति को रोकने के लिए उचित मौद्रिक नीति आवश्यक है।
3. द्वितीय युद्ध के पश्चात् विकसित तथा अविकसित सभी देशों में मुद्रा–स्फीति अधिक बढ़ी है अतः मुद्रा अधिकारियों के लिए मुद्रा मूल्यों में स्थिरता बनाए रखकर आर्थिक विकास करने तथा बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने की समस्या लगभग स्थाई हो गई है।
4. गत वर्षों में अधिकांश देशों में भुगतान सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल रहने की प्रवृत्ति रही है क्योंकि उनमें आर्थिक विकास की योजनाओं के कारण आयातों की राशि में निरन्तर वृद्धि हुई है और भविष्य में वृद्धि होने की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्या का गम्भीर हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। मुद्रा अधिकारियों के लिए यह समस्या भी गम्भीर है जिसे हल करने के लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति की आवश्यकता है।

2.3 मुद्रा नीति के उद्देश्य

मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्य होते हैं और एक देश के लिए प्राथमिकता के क्रम में इन उद्देश्यों का चुनाव करना होता है। इसका कारण यह है कि इन उद्देश्यों में कभी–कभी संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। अतः यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कोई भी मौद्रिक नीति चाहे वह कितनी भी सुविचारित (Well thought) हो अथवा कुशलता से कार्यन्वित की जाय, विभिन्न परस्पर विरोधी उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकती।

सामान्य रूप से मौद्रिक नीति के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए।

(I) रोजगार की स्थाई एवं उच्चस्तरीय स्थिति बनाए रखना (Maintenance Of A High And Stable Level Of Employment)- पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना मौद्रिक नीति का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य है। मन्दी (depression) के युग में प्रायः सभी देशों में बेरोजगार की स्थिति व्याप्त हो गई और कीन्स के

रोजगार सिद्धान्त में इस बात का प्रबल समर्थन किया गया कि रोजगारी के स्तर को बनाए रखने के लिए मौद्रिक नीति का प्रयोग किया जाना चाहिए।

यदि केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर में कमी कर साख सस्ती कर दे तो व्यापारिक बैंक अधिक उधार देने लगेंगे। पुरानी औद्योगिक इकाइयों में ब्याज दर कम हो जाने से लागत में कुछ कमी आ जाएगी जिससे वे अपने यहां काम करने वाले व्यक्तियों का रोजगार बनाए रख सकेंगे। इसके अतिरिक्त सस्ती पूंजी उपलब्ध हो जाने के कारण नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना में प्रोत्साहन मिलता है जिससे नए व्यक्तियों को रोजगार मिलता है।

मौद्रिक नीति द्वारा एक ओर तो रोजगार का स्तर ऊंचा बनाए रखने में सहायता मिल सकती है, दूसरी ओर मन्दी से उत्पन्न आर्थिक अवसाद को दूर करने में सहयोग मिल सकता है। कीन्स ने रोजगार का उच्च स्तर बनाए रखने के लिए प्रभावी मांग (effective demand) पर बहुत बल दिया। प्रभावी मांग का स्तर ऊंचा बनाए रखने के लिए जनता की आय का स्तर ऊंचा रखा जाना आवश्यक है। मौद्रिक नीति इस कार्य में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

एक तो पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त करना और दूसरे, अर्थव्यवस्था को उस स्तर पर बनाए रखना। प्रो. कीन्स के अनुसार विनियोग में वृद्धि कर रोजगार को बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विनियोग से अर्थव्यवस्था में उस बिन्दु तक स्फीति को कोई खतरा उपस्थित नहीं होता जब तक कि सम्पूर्ण अप्रयुक्त साधनों का प्रयोग न कर लिया जाय। जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की सन्तुलन अवस्था में पहुंच जाती है तो विनियोग और बचत में भी सन्तुलन होना आवश्यक है। इस स्थिति के बाद विनियोग की मात्रा बचत से अधिक नहीं होनी चाहिए अन्यथा अर्थव्यवस्था में मुद्रा–स्फीति की दशा उत्पन्न हो जायगी। **प्रो. क्राउथर** के अनुसार, "मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य पूर्ण रोजगार बिन्दु पर बचत और विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिए।" यह सन्तुलन ब्याज की दर के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है जो मौद्रिक नीति का आवश्यक अंग है।

(II) मूल्य में स्थायित्व बनाए रखना (Maintenance Of Price Stability)- कीमतों में स्थिरता को भी मौद्रिक नीति का उद्देश्य माना जाता है। मुद्रा–स्फीति से कुछ वर्गों को लाभ होता है तथा कुछ वर्गों को काफी हानि होती है। इस दृष्टि से कीमतों में स्थिरता से मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है। उसके साथ ही स्थिर कीमतों से चक्रीय उच्चावचनों को दूर किया जा सकता है, आर्थिक स्थिरता प्राप्त की जा सकती है, आय एवं सम्पत्ति की असमानता दूर की जा सकती है तथा सामाजिक न्याय स्थापित कर आर्थिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है।

अर्थव्यवस्था में साधनों का उचित आबण्टन करने के लिए भी कीमतों में भेदात्मक (Differential) परिवर्तन आवश्यक है। उत्पादन लागत में परिवर्तन होने पर भी कीमतों में परिवर्तन आवश्यक है। इस अर्थ में कीमतों में होने वाला मामूली परिवर्तन कीमतों के स्थायित्व के समकक्ष ही होगा। **प्रो. सैम्युलसन** एवं **प्रो. कीन्स** ने भी मत व्यक्त किया है कि दो प्रतिशत वार्षिक मुद्रा–स्फीति उद्यमियों को प्रोत्साहित करने तथा उच्चस्तरीय रोजगार की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

स्थिर कीमतों की नीति के पालन में कुछ कठिनाइयां सामने आती हैं। पहली समस्या तो यह है कि किस प्रकार की कीमत स्तर में स्थिरता लाई जाय? फुटकर या थोक कीमतों में स्थिरता लाई जाय, उपभोक्ता कीमतों को स्थिर किया जाय या उत्पादक वस्तुओं को, सामान्य कीमतों को स्थिर किया जावे अथवा सापेक्षिक कीमतों को।

उपरोक्त विवरण का निष्कर्ष यह है कि शब्दिक अर्थ में स्थिर कीमतों की नीति वांछनीय नहीं है। कीमतों में कुछ वृद्धि आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यक है। **प्रो० हेयक** ने भी यह मत स्पष्ट किया है कि मूल्य स्थिरता की धारणा एक गतिशील अर्थव्यवस्था के अनुकूल नहीं है।

(III) विनिमय–स्थिरता (Exchange Stability)- जब स्वर्णमान प्रचलन में था, उस समय विनिमय दर में स्थिरता बनाए रखना मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य था। किन्तु 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के बाद विनिमय दर

का महत्व कम हो गया एवं मूल्य–स्थिरता को अधिक महत्व दिया गया। यह अनुभव किया गया कि यदि सब देशों में मूल्य स्थिर रहते हैं तो विनिमय दरों में भी उच्चावचन नहीं होते।

मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता होना चाहिए, इसके पक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं–

1. यदि विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है तो अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय एवं व्यापारिक सम्बन्धों को आघात लगता है और देशों में अपेक्षित सहयोग स्थापित नहीं हो पाता, अतः आवश्यक है कि विनिमय दरों में स्थिरता रहे।
2. यदि विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है तो विदेशी विनिमय बाजार में सट्टेबाजी की क्रियाएं उत्पन्न होने लगती हैं जिसका अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी और साख पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, अतः विनिमय दरों में स्थिरता रहती चाहिए।
3. यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो वहां विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित हो जाता है एवं ऐसे देश को आवश्यक आयातों में कठिनाई पैदा हो जाती है। इसका देश के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है अतः यह आवश्यक है कि देश में भुगतान सन्तुलन की स्थिति विद्यमान रहनी चाहिए। इस दृष्टि से मौद्रिक नीति का प्रयोग भुगतान सन्तुलन को ठीक स्तर पर बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद विनिमय दरों में स्थिरता का दायित्व मुद्रा कोष को सौंपा गया एवं मौद्रिक नीति का लक्ष्य आन्तरिक कीमतों में स्थिर रखा गया। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि निम्न देशों की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है, उन्हें विनिमय दरों में स्थिरता रखने के लिए मौद्रिक नीति का अपेक्षित अधिक प्रयोग करना चाहिए।

(IV) आर्थिक विकास (Economic Growth)- अर्थव्यवस्था का द्रुत गति से आर्थिक विकास करना वर्तमान में मौद्रिक नीति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य हो गया है। आर्थिक विकास "एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक देश की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दीर्घकालीन अवधि में बढ़ती है।" अर्थिक विकास का माप इस बात से होता है कि देश में पैदा की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में किस गति से वृद्धि हो रही है।

कुछ वर्ष पूर्व तक यह समझा जाता था कि पूर्ण रोजगार से आर्थिक विकास में सहायता मिलती है और बेरोजगारी आर्थिक विकास में बाधक है। अतः जो कदम पूर्ण रोजगार प्राप्ति के लिए उठाए जाएंगे उनसे आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी किन्तु वर्तमान युग में स्वीकार कर लिया गया है कि कुछ परिस्थितियों में यह सही नहीं है। उदाहरण के तौर पर, कुछ विशेष परिस्थितियों में पूर्ण रोजगार का उत्पादन की लागत तथा मूल्यों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जो आर्थिक विकास में सहायक नहीं है।

नीति के प्रयोग में बाधाएं व कठिनाइयां– ब्याज की ऊंची दरें भी आर्थिक विकास में एक हद तक बाधक हो सकती हैं क्योंकि इससे लागत में वृद्धि हो जाती है और लागत वृद्धि हो जाने से उत्पादन का क्रम बिगड़ जाने का भय रहता है। किन्तु ब्याज की दरें एक ओर तो आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करती हैं, दूसरी ओर बचतों को प्रोत्साहित करती हैं जिससे देश में पूंजी का निर्माण अधिक होता है।

मुद्रा–स्फीति और आर्थिक विकास– पूर्ण रोजगार और आर्थिक विकास में एक विरोधाभास वहां उत्पन्न होता है जहां नई तकनीकों का प्रयोग करने के लिए अधिक पूंजी तो लगाई जाती है, किन्तु उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ मजदूर संगठनों द्वारा अधिकाधिक मजदूरी तथा अन्य आर्थिक सुविधाओं की मांग की जा सकती है जिसके फलस्वरूप रोजगार तो ऊंचे स्तर पर रहता है, किन्तु आर्थिक विकास की गति पर्याप्त तीव्र नहीं हो पाती।

(V) तटस्थ मुद्रा (Neutral Money)- तटस्थ मुद्रा का अर्थ यह है कि मुद्रा को इस प्रकार नियन्त्रित किया जाय कि चलन में उसकी मात्रा कीमतों को प्रभावित न करे। प्रारम्भ में यह विचार अर्थशास्त्री **विकस्टीड** (Wicksteed) ने प्रस्तुत किया एवं **प्रो. हेयक** तथा **रॉबर्टसन** ने इसका समर्थन किया। इनका विचार था कि तटस्थ मुद्रा से अर्थव्यवस्था में स्थायित्व रहेगा क्योंकि अधिकांश उच्चावचन मौद्रिक परिवर्तनों के कारण पैदा

होते हैं। इस दृष्टि से उचित मूल्य स्तर बनाए रखने के लिए मुद्रा की मात्रा स्थिर रखना आवश्यक है। **प्रो. हेयक** के अनुसार तटस्थ मुद्रा के अभाव में ही मुद्रा और संकुचन की दशाएं उत्पन्न होती हैं जिसके अनेक दुष्प्रभाव होते हैं, अतः मुद्रा तटस्थ होनी चाहिए।

किन्तु तटस्थ मुद्रा की विचारधारा उपयुक्त नहीं है। यदि एक विकासशील अर्थव्यवस्था में तटस्थ मुद्रा की नीति अपनाई जाय तो मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा हो जायगी एवं आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तटस्थ मुद्रा की नीति एक स्थैतिज समाज में ही लागू हो सकती है। किन्तु हम एक गतिशील समाज में रहते हैं जहां निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, अतः तटस्थ मुद्रा की नीति आर्थिक विकास में सहायक नहीं है।

2.4 मौद्रिक नीति के उपकरण

मौद्रिक नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाए गए साख–नियंत्रण अपायों से सम्बन्ध रखती है। ये दो प्रकार के होते हैं–

(i) मात्रात्मक (quantitative)- सामान्य अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण।

(ii) गुणात्मक (qualitative)- चयनात्मक अथवा प्रत्यक्ष नियंत्रण।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत बैंक दर में परिवर्तन खुले बाजार के प्रचालन तथा परिवर्तनशील आरक्षण आवश्यकताएं सम्मिलित रहती हैं। उनका उद्देश्य कामर्शियल बैंकों के माध्यम से अर्थव्यवस्था में साख के सम्पूर्ण स्तर का नियमन करना है। इनमें परिवर्तनशील सीमा आवश्यकताएं तथा उपभोक्ता साख का नियमन शामिल रहते हैं।

(1) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)- बैंक दर केन्द्रीय बैंक द्वारा उधार देने की वह न्यूनतम दर है जिस पर वह विनिमय की प्रथम श्रेणी हुण्डियों तथा कमर्शियल बैंक द्वारा धारित सरकारी प्रतिभूतियों को पुनः बट्टा (rediscount) करता है। जब केन्द्रीय बैंक देखता है कि अर्थव्यवस्था के भीतर स्फीतिकारी दबाव प्रकट होने शुरू हो गए हैं, तो वह बैंक–दर बढ़ा देता है। केन्द्रीय बैंक से उधार लेना महंगा हो जाता है और कमर्शियल बैंक उससे अपेक्षाकृत कम उधार लेंगे। कमर्शियल बैंक आगे व्यापारियों को उधार देने की अपनी दरें बढ़ा देते हैं। इस कारण उधार लेने वाले कमर्शियल बैंक आगे व्यापारियों को उधार देने की अपनी दरें बढ़ा देते हैं। इस कारण उधार लेने वाले कमर्शियल बैंकों से कम अधार लेंगे। साख का संकुचन होता है और कीमतें और आगे बढ़ने से रुक जाती हैं। इसके विपरीत, जब कीमतें गिर जाती हैं, तो केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर घटा देता है। कमर्शियल बैंकों को केन्द्रीय बैंक से उधार लेना सस्ता रहता है, तब कमर्शियल बैंक भी अपनी उधार देने की दरें घटा देते हैं। इससे व्यापारियों को अधिक उधार लेने को प्रोत्साहन मिलता है। निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। उत्पादन, रोजगार आय तथा मांग बढ़ना शुरू करती है और कीमतों का गिरना रूक जाता है।

(2) खुले बाजार के प्रचालन (Open Market Operations)- खुले बाजार के प्रचालन मुद्रा बाजार में केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय संबंध रखते हैं। जब कीमतें बढ़ने लगती हैं और उन्हें रोकने की जरूरत होती है तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचता है। कमर्शियल बैंकों के आरक्षण (reserve) घट जाते हैं और वे व्यापारी वर्ग को और उधार देने की स्थिति में नहीं रह जाते। आगे निवेश हतोत्साहित होता है और कीमतों में वृद्धि रुक जाती है। इसके विपरीत, जब अर्थव्यवस्था में सुस्ती (recession) की शक्तियां शुरू होती हैं, तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां खरीदता है। कमर्शियल बैंकों के आरक्षण बढ़ जाते हैं। वे अधिक उधार देते हैं, निवेश, उत्पादन, रोजगार तथा मांग बढ़ जाती हैं और कीमतों का गिरना रुक जाता है।

(3) रिजर्व अनुपातों में परिवर्तन (Changes in Reserve Ratios)- इस औजार का सुझाव कीन्स ने अपनी पुस्तक Treatise of Money में दिया था और संयुक्त राज्य अमरीका पहला देश था जिसने इसे मौद्रिक तरीके से अपनाया। कानून के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी कुल जमा का कुछ प्रतिशत अपने तहखानों

में रिजर्व कोष में और कुछ प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। जब कीमतें बढ़ने लगती हैं तो केन्द्रीय बैंक रिजर्व अनुपात बढ़ा देता है। बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक राशि रखनी पड़ती है। उनके आरक्षण घट जाते हैं और वे कम उधार देते हैं। निवेश, उत्पादन घटाया जाता है, तो कामर्शियल बैंकों के आरक्षण बढ़ जाते हैं। वे अधिक उधार देते हैं और आर्थिक क्रिया पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(4) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)- विशिष्ट उद्देश्यों से विशेष प्रकार की साख को प्रभावित करने के लिए चयनात्मक साख नियन्त्रण काम में लाये जाते हैं। अर्थव्यवस्था के भीतर सट्टा क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए वे सामान्यतः परिवर्तनशील आवश्यकताओं (changing margin requirements) का रूप ले लेते हैं। जब अर्थव्यवस्था में अथवा विशिष्ट क्षेत्रों में कुछ वस्तुओं में तेज सट्टा क्रिया होती है और कीमतें बढ़ना शुरू हो जाती हैं, तो केन्द्रीय बैंक उन पर सीमा आवश्यकता बढ़ा दी जाती है। उदाहरणार्थ, सीमा आवश्यकता को बढ़ा कर 60 प्रतिशत कर देने का अर्थ है कि 10,000 रु. मूल्य की प्रतिभूतियों के प्राधिदाता (pledger) को उनके मूल्य का 40 प्रतिशत (4,000 रु.) ऋण के रूप में दिया जाएगा। विशिष्ट क्षेत्रों में सुस्ती की स्थिति में, केन्द्रीय बैंक सीमा आवश्यकताएं उधार ग्रहण को प्रोत्साहन देता है।

निष्कर्ष (Conclusion)- प्रभावशाली विश्लेषणात्मक मौद्रिक नीति के लिए आवश्यक है कि बैंक दर, खुले बाजार के प्रचालन, रिजर्व अनुपात तथा विशिष्ट नियन्त्रण उपायों को एक ही साथ अपनाया जाए। परन्तु सभी मुद्रा सिद्धांतकारों ने स्वीकार किया है कि–

(i) मन्दी में जब व्यापार विश्वास अपनी क्षीणतम दशा में होता है, तब मौद्रिक नीति की सफलता शून्य होती है, और

(ii) स्फीति के विरुद्ध वह सफल रहती है।

मुद्रावादियों का कहना है कि राजकोषीय नीति के मुकाबले मौद्रिक नीति में अपेक्षाकृत अधिक लचीलापन होता है। उसे शीघ्रकार्यान्वित किया जा सकता है।

आर्थिक मन्दी और मौद्रिक नीति– मौद्रिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मन्दी के समय केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा नीति का अनुसरण कर व्यापारिक बैंकों के रिजर्व में वृद्धि कर सकता है। प्रतिभूतियों को क्रय करके भी केन्द्रीय बैंक देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ा सकता है, किन्तु मन्दी का अनुभव यह बताता है कि जब चारों ओर व्यापारिक एवं उद्यमियों में निराशा फैली रहती है, तो उक्त मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था में प्राणों का संचार नहीं कर सकती। जब व्यापारिक क्रियाएं लगभग शून्य होती हैं तो ऐसी स्थिति में उद्यमी, व्यापारिक क्रियाओं को बढ़ाने में जरा भी रुचि नहीं लेते तथा दीर्घकालीन ऋण भी नहीं लेते। जहां तक उपभोक्ताओं का प्रश्न है, वे भी मन्दी के समय बेरोजगार होते हैं तथा उनकी आय भी कम होती है, अतः वे भी बैंक ऋण लेकर कोई टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएं खरीदना पसन्द नहीं करते। इस प्रकार यद्यपि बैंक सस्ती साख तो उपलब्ध कर सकते हैं पर उद्यमियों को ऋण लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकते।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मन्दी के समय मौद्रिक नीति की कोई उपयोगिता ही नहीं होती। उचित मौद्रिक नीति को अपनाकर मन्दी की स्थिति को और खराब होने से बचाया जा सकता है। मन्दी के समय उदार मौद्रिक नीति अपनाई जानी चाहिए।

मुद्रा–स्फीति एवं मौद्रिक नीति– अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मौद्रिक नीति के द्वारा मांग–प्रेरित मुद्रा प्रसार को नियन्त्रित किया जा सकता है न कि लागत–प्रेरित मुद्रा प्रसार को। 1930 एवं 1940 के दशकों में आर्थिक–स्थिरता को प्राप्त करने के साधन के रूप में मौद्रिक नीति बिल्कुल अप्रभावशाली रही है। प्रो. केन्स के अनुसार मन्दी के समय अत्यधिक लोचपूर्ण तरलता अधिमान के कारण मौद्रिक नीति महत्वहीन हो जाती है। युद्ध के समय जो मुद्रास्फीति होती है, वह लागत प्रेरित होती है अतः महंगी मुद्रा नीति (ब्याज की ऊंची दर) से मांग में कमी नहीं होगी और न ही मुद्रास्फीति नियन्त्रित होगी। अतः कीन्स का विचार था कि मन्दी एवं मुद्रास्फीति दोनों ही स्थितियों में राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) अधिक उपयुक्त होगी।

यदि मुद्रास्फीति मांग–प्रेरित (Demand Pull) है तो मुद्रा नीति के द्वारा उसे नियन्त्रित किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचकर एवं ब्याज दर बढ़ाकर व्यापारिक बैंकों की रिजर्व की मात्रा घटा सकता है। साथ ही मार्जिन की मात्रा बढ़ाकर एवं उपभोक्ता साख को नियन्त्रित कर मुद्रा की पूर्ति को कम कर सकता है एवं इस प्रकार मुद्रास्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है।

2.5 मौद्रिक नीति की सीमाएँ

किसी देश में मुद्रा स्फीति की सफलता प्रायः संदिग्ध रहती है क्योंकि इन देशों का आर्थिक ढांचा बेलोचदार होता है और सरकार या केन्द्रीय बैंक की नीति को जनता व्यवसाय तथा औद्योगिक क्षेत्र का पूरा समर्थन नहीं मिल पाता। ऐसे में मौद्रिक नीति के कुछ निम्नलिखित सीमाएं हैं–

1. विभिन्न देशों में जनसंख्या का एक भाग अपना लेन–देन मुद्रा में नहीं कर पाता इस प्रकार के लेन–देन पारस्परिक विनिमय के आधार पर होते हैं अतः उनके लिए मुद्रा का कोई महत्व नहीं होता और मौद्रिक नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

2. कुछ देशों में सम्पूर्ण साख व्यवस्था बैंकिंग क्षेत्र द्वारा नहीं की जाती या कुछ क्षेत्रों में बैंकिंग साख व्यवस्था की पहुंच नहीं है वहां देशी बैंकरों द्वारा बहुत अधिक मात्रा में रकमें उधार दी जाती हैं। इन वर्गों कि क्रियाओं पर प्रायः सरकार या केन्द्रीय बैंक की नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और मौद्रिक नीति को वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं होती है।

3. विभिन्न देशों में प्रायः सुव्यवस्थित स्कन्ध विनिमय भी नहीं होते यहां सरकारी अथवा अर्ध सरकारी प्रतिभूतियों का नियमित लेन–देन होता हो, अतः इन देशों में केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार को प्रतिभूतियां खरीदने और बेचने में भी असुविधा होती है और मुद्रा तथा साख की उचित मात्रा चलन में रखना कठिन होता है।

4. कुछ देशों या क्षेत्रों में केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ नहीं होते हैं इन देशों में सभी क्षेत्रों के लिए धन की व्यवस्था करने वाले शक्तिशाली बैंकों का अभाव रहता है। अतः मौद्रिक नीति को जो स्वाभाविक सफलता मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाती है।

2.6 सारांश

आज के युग में केवल चलन की मात्रा नियन्त्रित करके ही विकास एवं स्थिरिता सम्बन्धित वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति संभव नहीं हो पाती है। साख की मात्रा को भी आवश्यकता अनुसार नियन्त्रित करना अनिवार्य होता है। देश का केंद्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को साख नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार प्राप्त थे और यह इनका प्रयोग भी करता था। किन्तु अब यह कार्य देश की मौद्रिक नीति समिति के द्वारा किया जाता है। इसके अंतर्गत बैंक दर में परिवर्तन करने, खुले बाजार की क्रियायें करने तथा बैंकों के नकद कोषों की मात्रा में परिवर्तन करने के अधिकार प्राप्त हैं। ऐसे में मौद्रिक नीति समिति द्वारा मौद्रिक उपकरणों का सफलता पूर्वक संचालन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

2.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मौद्रिक नीति किसे कहते हैं? मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्यों को समझाइये।

प्रश्न 2- मौद्रिक नीति की क्या आवश्यकता है? मौद्रिक नीति के सीमाओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3- मौद्रिक नीति के उपकरणों को स्पष्ट कीजिए।

2.8 शब्दावली

बैंक दर	:	Bank Rate
साख नियंत्रण	:	Credit Control
रेपो दर	:	Repo Rate
परिमाणात्मक साख	:	Quantative Credit
खुले बाजार की क्रियाएं	:	Open Market Operation
तरलता अनुपात	:	Liquidity Ratio

2.9 संदर्भ सूची

De Kock	:	Central Banking. Chaps. 8-13.
G Crowther	:	An Outline of Money, Chaps.2, 4, 6,
R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chaps 5, 9
Kisch and Elkin	:	Central Banks.
S. K. Basu	:	Recent Banking Developments
S. K. Basu	:	Survey of Contemporary Banking Trends

इकाई–3 भारतीय मुद्रा बाजार

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 मुद्रा बाजार के अंग
3.3 असंगठिन मुद्रा बाजार की विशेषताएं
3.4 संगठित मुद्रा बाजार
3.5 मुद्रा बाजार की संस्थायें
3.6 मुद्रा बाजार के संघटक
3.7 मुद्रा बाजार का कार्य
3.8 भारतीय मुद्रा बाजार के दोष
3.9 सारांश
3.10 बोध प्रश्न
3.11 शब्दावली
3.12 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

मौद्रिक अर्थशास्त्र के इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप यह जान सकेंगे कि–

1. भारतीय वित्तीय बाजार में भारतीय मुद्रा बाजार का क्या भूमिका होता है?
2. भारतीय मुद्रा बाजार के अंतर्गत असंगठित मुद्रा बाजार किस प्रकार से लोगों के साथ ऋणों का लेन–देन करता है?
3. एक संगठित मुद्रा बाजार का कार्य राष्ट्र के लिए वित्तीय संसाधनों के विकास में किस प्रकार मदद करता है?
4. उत्पादकों और निवेश कर्ताओं की ऋण और साख सम्बंधी आवश्यकताओं की पूर्ति सावधानीपूर्वक हो?
5. निवेश कर्ताओं और व्यापारियों के अवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से करना तथा सभी प्रकार की तरलता एवं बचतों को प्राप्त करना भारतीय मुद्रा बाजार का कार्य है?

3.1 प्रस्तावना

ऋण तथा अल्पकालीन पूँजी का लेन–देन वाली समस्त संस्थाएँ तथा व्यक्ति सामूहिक रूप में मुद्रा–बाजार कहलाते हैं। मुद्रा–बाजार की विशेषता यह है कि इसमें केवल अल्पकालीन ऋण तथा पूँजी का लेन–देन होता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के एक प्रकाशन के अनुसार, "एक मुद्रा–बाजार मुख्यतः अल्पकालीन प्रकृति की मौद्रिक परिसम्पत्तियों के क्रय–विक्रय का केन्द्र होता है। यह ऋण लेने वालों की

अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करता है तथा ऋणदाताओं को तरलता या नकदी प्रदान करता है। यह वह स्थान है जहाँ वित्तीय तथा अन्य संस्थाओं एवं व्यक्तियों की अल्पकालीन निवेश–योग्य अतिरेक पूँजी को ऋण चाहने वाली संस्थाओं, व्यक्तियों तथा सरकार द्वारा प्राप्त किया जाता है।" वास्तव में, मुद्रा–बाजार से अभिप्राय किसी एक निश्चित स्थान से नहीं है, बल्कि उन समस्त क्रियाओं तथा संस्थाओं से है जो अल्पकालीन ऋणों के लेन–देन से सम्बन्धित है।

सेयर्स के अनुसार के अनुसार "मुद्रा बाजार वह बाजार या क्षेत्र है जिसमें अल्पकालीन पूँजी (Short Term Capital) का लेन–देन होता है।"

क्राउथर के अनुसार, "मुद्रा बाजार उन फर्मों और संस्थाओं का सामूहिक नाम है जो निकट मुद्रा के विभिन्न वर्गों में व्यवहार करते हैं।"

मुद्रा बाजार में वह सम्पूर्ण प्रक्रिया सम्मिलित है जिसके द्वारा मुद्रा अर्थात् ऋणों का लेन–देन होता है तथा उस विधि का जिसके द्वारा वित्तीय सोदे तय किए जाते हैं। मुद्रा बाजार में दो पक्ष होते है– ऋण लेने वाले तथा ऋण देने वाले।

3.2 भारतीय मुद्रा बाजार के अंग

भारतीय मुद्रा बाजार के दो अस्पष्ट और भिन्न अंग हैं। इन दोनों अंगों में एकरूपता का आभाव है, ब्याज दरों में अंतर है तथा लेन–देन संबंधी रीति–नीति अलग–अलग है। इन दोनों अंगों के मध्य एक तीसरा अंग सहकारी क्षेत्र भी है जिसका देश में काफी विस्तार भी हुआ है।

1. **असंगठित मुद्रा बाजार (Unorganised Money Market)-** संगठित क्षेत्र में देशी बैंकर (Indigenous Banker)- महाजन अथवा साहूकार तथा चिट फण्ड आदि सम्मिलित किये जाते हैं। कार्य–क्षेत्र के आधार पर देशी बैंकर दो प्रकार के होते हैं–ग्रामीण तथा शहरी। ग्रामीण देशी बैंकरों को ही महाजन अथवा साहूकार कहा जाता है। कृषि–वित्त की व्यवस्था में इनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। शहरों में देशी बैंकर हुण्डियों का व्यवसाय करते हैं। अनुमान है कि आन्तरिक व्यापार का लगभग 50 प्रतिशत भाग अपनी वित्तीय आवश्यकताओं के लिए इन्हीं पर निर्भर काता है। असंगठित क्षेत्र की कार्यप्रणाली दोषपूर्ण है तथा इसमें एकरूपता का सर्वथा अभाव है। इस क्षेत्र में ब्याज दरें भी अलग–अलग हैं और संगठित क्षेत्र से अलग रहकर कार्य करता है। असंगठित क्षेत्र को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से कुछ कानून पारित किये गये हैं परन्तु इनका प्रभाव बहुत सीमित रहा है।

3.3 असंगठित मुद्रा बाजार की विशेषताएँ

भारत में असंगठित मुद्रा–बाजार की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. साहूकार ऋण लेने वाले से व्यक्तिगत सम्बन्ध रखता है। साहूकार गांव में प्रत्येक ऋणी को व्यक्तिगत रूप से जानता है क्योंकि ऋणी उसी गांव का रहने वाला होता है।
2. ऋण के लेन–देन में कोई कड़ापन नहीं है। ऋण लेने वाला अपने आवश्यकता के अनुसार कम या अधिक ऋण ले सकता है और यह उसकी प्रतिभूति के स्वरूप और साख पर निर्भर करता है।
3. अधिकांश लोग केवल ऋण देने के कार्य से ही उधार देने के साथ अन्य आर्थिक कार्यों को भी शामिल कर लेते हैं। एक साहूकार नकद पैसा उधार देने की बजाय वस्तुओं की आपूर्ति भी कर सकता है।
4. इस बाजार में ब्याज की दरों में विविधता होती है। मुद्रा बाजार के विकसित क्षेत्र की अपेक्षा यहां ब्याज की दर काफी ऊंची होती है। ब्याज की दरें एक समान भी नहीं होतीं है। यह दर ऋण लेने वाले की

आवश्यकता और ऋण की राशि, समयावधि और प्रतिभूति के स्वरूपप र निर्भर करती है। राशि की जितनी अधिक आवश्यकता होगी, ब्याज की दर उतनी ऊंची होगी।

5. मुद्रा बाजार के गैर–संगठित क्षेत्र में लेखा विधि आदि के रख–रखाव की विधि अत्यन्त दोषपूर्ण है। खातों का सही हिसाब–किताब नहीं रखा जाता है। ऋणी द्वारा ब्याज और मूलधन की भुगतान की गई राशियों के लिए औपचारिक रसीदें जारी नहीं की जाती हैं। इसके खातों के रख–रखाव और ऋण देने की विधियों में अत्यन्त गोपनीयता होती है। साहूकार के खातों की जांच किसी उच्च प्राधिकारी द्वारा करने का भी प्रावधान नहीं है।

6. गैर–विकसित क्षेत्र मुद्रा बाजार के विकसित क्षेत्र से नहीं विकसित हुआ है। गैर–विकसित क्षेत्र बिना विकसित क्षेत्र के स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है तथा यह विकसित बाजार के नियंत्रण में नहीं है। यह मौद्रिक विनिमयों और बचतों की मात्रा को कम करता है और उत्पादनशील निवेशों में उनके इस्तेमाल को रोकता है।

असंगठित मुद्रा–बाजार के दोष (Demerit of Unorganised Money Market)- असंगठित मुद्रा–बाजार का सबसे बड़ा दोष यह है इनका कोई नियामक नहीं होता। यहां ऋणों का लेन–देन मनमानी तरीके से होता है। यहां तक की ऋण देने वाले द्वारा ऋणियों का बड़े पैमाने पर शोषण किया जाता है।

3.4 संगठित मुद्रा–बाजार

असंगठित मुद्रा बाजार के दोषों को देखते हुए भारत में चक्रवर्ती कमेटी के सुझाव पर संगठित मुद्रा बाजार की स्थापना की गई यह ंगठित मुद्रा बाजार एक वर्ष या इससे कम समय में परिपक्वता वाल अल्पकालीन ऋण–प्रपत्रों के शीघ्र और विश्वसनीय प्रपत्रों के स्थानान्तरण की सुविधा प्रदान करता है और इन प्रपत्रों के शीघ्र उपयोग उपभोक्ताओं, व्यवसाय, कृषि और सरकार की आवश्यकताओं की वित्त उपलब्ध कराने के लिए किया जाता है। एक संगठित मुद्रा–बाजार की अनेक विशेषताएं हैं–

(1) एक सुसंगठित बैंकिंग प्रणाली का होना।

(2) एक केन्द्रीय बैंक का होना जिससे मुद्रा–बाजार के सभी अंगों को सहयोग मिलता हो।

(3) विनिमय विपत्रों तथा अन्य वित्तीय प्रपत्रों का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना।

(4) विभिन्न प्रकार के अल्पकालीन साधनों के प्रयोग से सम्बन्धित अलग–अलग उप–बाजारों का होना।

(5) विभिन्न उप–बाजारों का एक दूसरे का पूरक होना।

(6) साधनों की पूर्ण गतिशीलता होना।

(7) मुद्रा–बाजार में लाच का गुण होना।

इस प्रकार एक विकसित मुद्रा–बाजार संगठित मुद्रा बाजार होता है जिसमें विभिन्न अंगों तथा आर्थिक लेन–देन सम्बन्धी रीति–नीतियों में समन्वय तथा सहयोग रहता है और कार्यविधियाँ व्यवस्थित होती हैं। इन विशेषताओं के अभाव में मुद्र–बाजा अल्प–विकसित अथवा अर्द्ध–विकसित रहता है।

3.5 मुद्रा बाजार की संस्थाएँ

विविध वित्तीय संस्थाएं जो मुद्रा बाजार में अल्पकालीन ऋणों में सौदे करती है, वे मुद्रा बाजार की सदस्य होती हैं। इनमें निम्न प्रकार की संस्थाएं शामिल हैं–

1. **केन्द्रीय बैंक (Central Bank)-**देश का केन्द्रीय बैंक वह धुरी होता है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण मुद्रा बाजार चक्कर काटता है। यह मुद्रा बाजार के संरक्षक के रूप में कार्य करता है और अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाये रखने के लिए साख और मुद्रा पूर्ति को घटाता या बढ़ाता रहता है। यह प्रत्यक्ष लेन–देन में स्वयं शामिल नहीं होता। परन्तु, बैंक दर में परिवर्तनों एवं खुले बाजार प्रचालनों द्वारा मुद्रा बाजार को नियंत्रित करता है।

2. **कमर्शियल बैंक (Commercial Bank)-**कमर्शियल बैंक भी अल्पकालीन ऋणों का निपटारा करते हैं जो वे व्यवसाय और व्यापार को अधार देते हैं। वे विनिमय बिलों और खजाना बिलों का बट्टा करते हैं तथा वचन–पत्र (promissory not) के आधार पर एवं अग्रिमों और ओवरड्राफ्टों द्वारा उधार देते हैं।

3. **गैर–बैंक वित्तीय मध्यस्थ (Non-bank financial Intermediaries)-**कमर्शियल बैंकों के अतिरिक्त, गैर–बैंक वित्तीय मध्यस्थ भी मुद्रा बाजार में उधार लेने वालों को अल्पकालीन कोषों का उधार देते हैं। ऐसे वित्तीय मध्यस्थ बचत बैंक, निवेश घर, बीमा कम्पनियाँ, प्राविडेन्ट फण्ड् और अन्य वित्तीय निगम होते हैं।

4. **बट्टा गृह और बिलों के दलाल (Discount Houses and Bill Brokers)-**विकसित मुद्रा बाजार में निजी कम्पनियाँ बट्टा घर चलाती हैं। बट्टा गृहों का प्रमुख कार्य दूसरों की तरफ से बिलों का बट्टा करना होता है। आगे, वे कमर्शियल बैंकों और स्वीकृत गृहों का निर्माण करती हैं। मुद्रा बाजार में बट्टा गृहों के साथ–साथ बिलों के दलाल होते हैं जो साधारण कमीशन पर विनिमय बिलों का बट्टा करके उधार लेने वालों और उधारदाताओं के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करते हैं। अर्द्धविकसित मुद्रा बाजारों में केवल बिलों के दलाल कार्य करते हैं।

5. **स्वीकृति गृह (Acceptance Houses)-**व्यापारी बैंकरों से स्वीकृति गृहों की संस्था का विकास हुआ जिसने अपने मुख्यालयों को 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लंदन मुद्रा बाजार में स्थानान्तरित किया। वे निर्यातकों और आयातकों के बीच और उधारदाताओं एवं उधार लेने वाले व्यापारियों के बीच एजेंट के रूप में कार्य करते हैं। वे व्यापारियों पर लिखे गये बिलों को स्वीकार करते हैं जिनकी वित्तीय स्थिति लंदन मुद्रा बाजार में बिलों के विनिमय करने के लिए ज्ञात नहीं होती है। व्यापार बिल को स्वीकार करके वे परिपक्वता पर बिलों के भुगतान की गारंटी देते हैं। परन्तु, इनका महत्व कम हुआ क्योंकि कमर्शियल बैंकों ने स्वीकृति व्यवसाय का काम संभाल लिया है।

ये सभी संस्थाएं जो मुद्रा बाजार में सम्मिलित हैं, अकेले काम नहीं करतीं बल्कि वे परस्पर निर्भर और एक–दूसरे से परस्पर संबंधित होती हैं।

3.6 भारतीय मुद्रा–बाजार के संघटक

भारतीय मुद्रा–बाजार क्षेत्रों के संघटकों में निम्नलिखत संघटकों या उपकरणों को शामिल किया जाता है–

1. **वचन–पत्र (Promissory Note)-**वचन–पत्र सबसे पुराने प्रकार का बिल होता है। यह किसी व्यवसायी की ओर से स्वीकृत, भविष्य की तारीख पर मुद्रा की निश्चित रकम दूसरे व्यवसायी को चुकाने का लिखित वचन होता है। प्रायः वचन–पत्र का भुगतान तीन दिन की छूट के साथ 90 दिन के बाद होता है। वचन पत्र, ऋणी द्वारा दिया जाता है और जिस बैंक में ऋणी का खाता होता है उस बैंक द्वारा स्वीकृत वचन–पत्र ही मान्य होता है। उधारदाता, वसूली की तारीख तक, अपने बैंक से इसे बट्टा करवा सकता है। यू. एस. ए. के सिवाय, वचन–पत्र आजकल व्यवसाय में कभी–कभी ही उपयोग में लाए जाते हैं।

2. **विनिमय बिल या कमर्शियल (Bill of Exchange or Commercial Bills)-**मुद्रा बाजार के दूसरा उपकरण विनिमय बिल होता है जो वचन–पत्र के समान ही होता है, सिवाय इसके कि यह उधारदाता द्वारा दिया जाता है और ऋणी के बैंक द्वारा स्वीकृत होता है। उधारदाता या तो बैंक या दलालों से विनिमय बिलों का बट्टा करवा सकता है जो स्वीकृति की तारीख से भुगतान के लिए मान्य होता है। बाकी प्रक्रिया आन्तरिक विनिमय बिल के समान ही होती है। बचन–पत्र और विनिमय बिल व्यापार बिलों के नाम से जाने जाते हैं।

3. **खजाना बिल (Treasury Bills)-**परन्तु मुद्रा बाजार का प्रमुख उपकरण खजाना बिल होता है जो एक वर्ष से कम की परिवर्तनशील अवधियों के लिए जारी किया जाता है। वे इंग्लैंड में सचिव द्वारा खजाना को जारी किये जाते हैं और बैंक ऑफ इंग्लैंड में भुगतान–योग्य होते हैं। यू. एस. ए. में अल्पकाली सरकारी प्रतिभूतियां भी होती हैं जिनका कमर्शियल बैंक और प्रतिभूतियों के व्यापारियों द्वारा व्यापार किया जाता है। भारत में खजाना बिल प्रायः 91–दिन और 364–दिन के बीच बट्टा पर भारत सरकार द्वारा जारी किये जाते हैं। भारत में इस समय तीन तरह के खजाना बिल होते हैं : 14–दिन, 91–दिन और 364–दिन।

4. **मांग और सूचना मुद्रा (Call and Notice Money)-**मांग मुद्रा बाजार में निधियों को एक दिन के लिए उधार लिया या दिया जाता हैं। सूचना बाजार में बिना किसी ऋणाधार जमानत के 14–दिन तक निधियों के उधार लिये या दिये जाते हैं। परन्तु जमा की रसीद उधार लेने वाले द्वारा उधारदाता को जारी की जाती है जो मांगे जाने पर ब्याज के साथ उधार ली गई राशि को लौटाता है। भारत में कमर्शियल बैंक और सहकारिता बैंक इस बाजार में निधियों को उधार लेते और देते हैं परन्तु म्यूचुअल निधियां और अखिल भारतीय वित्तीय संस्थाएं केवल निधियों के उधारदाताओं के रूप में सहभागी होती हैं।

5. **अन्तर–बैंक अवधि बाजार (Inter-bank Term Market)-**भारत में यह बाजार सिर्फ कामर्शियल और सहकारिता बैंकों के लिए होता है जो बाजार–निर्धारित दरों पर बिना किसी ऋण आधार जमानत के 14 दिन से ऊपर और 90 दिन तक की अवधि के लिए निधियों को उधार लेते या देते हैं।

6. **जमा के प्रमाण–पत्र (Certificates of Deposits-CD)-**जमा के प्रमाण–पत्र कामर्शियल बैंकों द्वारा अंकित मूल्य पर बट्टा के आधार पर जारी किये जाते हैं। बट्टा दर बाजार द्वारा निर्धरित होती है। इनकी परिपक्वता अवधि 3 महीने और 12 महीने के बीच होती है।

7. **व्यावसायिक पत्र (Commercial Paper-CP)-**व्यावसायिक–पत्र बैंकों से उधार लेने के बजाय सीधे बाजार से अल्पकालीन चल पूंजी आवश्कताओं को बढ़ाने के लिए ऊंचे मूल्यांकन वाली कम्पनियों द्वारा जारी किये जाते हैं। CP उधार लेने वाली कम्पनी द्वारा किसी निश्चित तारीख को ऋण चुकाने का वचन होता है जो सामान्यतः 3 महीने से 6 महीने की अवधि के लिए होता है। यह उपकरण यू. एस. ए., यू. के., जापान, आस्ट्रेलिया और कई अन्य देशों में काफी लोकप्रिय है। भारत में इसकी शुरुआत जनवरी, 1990 से हुई है।

3.7 मुद्रा बाजार के कार्य

मुद्रा बाजार अर्थव्यवस्था में कई कार्य करता है–

1. मुद्रा बाजार, व्यवसायियों और निजी संस्थाओं को, जिन्हें अपनी कार्यशील पूंजी की आवश्यकताओं के लिए ऐसे वित की आवश्यकता है, अल्पकालीन निधियां उपलब्ध कराता है। कमर्शियल बैंकों, बट्टा गृहों, दलालों औ स्वीकृति गृहों के माध्यम से व्यापार बिलों को बट्टा कर ऐसा किया जाता है। इस प्रकार, मुद्रा बाजार देश के भीतर और बाहर वाणिज्य, उद्योग व्यापार के विकास में मदद पहुँचाती हैं।

2. यह बैंकों और अन्य संस्थाओं को अल्प अवधि के लिए अपनी बेशी निधियों के लाभकारी उपयोग का अवसर उपलब्ध कराता है। इन संस्थाओं में न केवल कमर्शियल बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाएँ बल्कि बड़े गैर–वित्तीय व्यवसाय निगम, राज्य और स्थानीय सरकारें भी शामिल होते हैं।

3. विकसित मुद्रा बाजार के होने से केन्द्रीय बैंक से कामर्शियल बैंकों द्वारा उधार की आवश्यकता नहीं होती है। यदि कमर्शियल बैंक अपने कोषों को नकद आवश्यकताओं से कम पाता है तो वह मुद्रा बाजार से अपने दिए ऋणों का कुछ भाग मांग सकता है। कमर्शियल बैंक, उच्च ब्याज दर केन्द्रीय बैंक से उधार लेने की अपेक्षा अपने ऋणों को वापस लेना पसन्द करते हैं।

4. मुद्रा बाजार, सरकार को खजाना बिलों के आधार पर कम ब्याज दर पर अल्पावधि निधियां उधार लेने में मदद करता है। दूसरी ओर, यदि सरकार कागजी मुद्रा इश्यू करेगी या केन्द्रीय बैंक से उधार लेगी तो यह अर्थव्यस्था में स्फीतिकारी दबावों को लायेगा।

5. एक अतिविकसित मुद्रा बाजार केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियों को सफलतापूर्वक लागू करने में सहायता करता है। मुद्रा बाजार के माध्यम से ही केन्द्रीय बैंक, बैंकिंग प्रणाली को नियंत्रित करने की स्थिति में होता है, जिससे वाणिज्य और उद्योग प्रभावित होते हैं।

6. एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में निधियों के स्थानान्तरण को सहज बनाकर मुद्रा बाजार वित्तीय गतिशीलता में मदद पहुंचाता है। निधियों के प्रवाह में गतिशीलता किसी अर्थव्यवस्था में वाणिज्य और उद्योग के विकास के आवश्यक होती है।

7. मुद्रा बाजार का एक महत्वपूर्ण कार्य वित्तीय परिसम्पत्तियों की तरलता और सुरक्षा को बढ़ाना होता है। इस प्रकार, यह बचत और निवेश को प्रोत्साहित करता है।

8. मुद्रा बाजार ऋण योग्य निधियों की मांग और पूर्ति के बीच संतुलन लाता है। ऐसा यह निवेश स्रोतों में बचतों के आवंटन द्वारा करता है। इस प्रकार, यह संसाधनों के विवेकपूर्ण आवंटन में भी सहायक होता है।

9. चूंकि मुद्रा बाजार असली मुद्रा में नहीं बल्कि निकट–मुद्रा परिसम्पत्तियों में लेन–देन करता है, इसलिए यह नकदी का मितव्ययितापूर्वक उपयोग करने में मदद करता है। इस प्रकार, यह एक स्थान से दूसरे स्थान तक निधियों के स्थानान्तरण को एक सुगम और सुरक्षित मार्ग प्रदान करता है, जिससे वाणिज्य और उद्योग को अत्यधिक मदद मिलती है।

3.8 भारतीय मुद्रा–बाजार के दोष

भारतीय मुद्रा–बाजार की कुछ महत्वपूर्ण कमियाँ निम्नलिखित हैं–

1. भारतीय मुद्रा–बाजार के विभिन्न अंगों में किसी प्रकार का कोई पारस्परिक सहयोग अथवा सम्पर्क नहीं है। असंगठित क्षेत्र संगठित क्षेत्र से पूर्णतया स्वतन्त्र रहकर कार्य करता है। महामारी क्षेत्र को रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक से सहायता मिलती रही है, परन्तु वाणिज्य बैंकों का इससे अधिक सम्बन्ध नहीं रहा है। परिणामस्वरूप, भारतीय मुद्रा–बाजार में सकरूपता का पूर्ण अभाव है।

2. भारतीय मुद्रा–बाजार में देशी बैंकरों व महाजनों का काफी अधिक प्रभाव है। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की शाखाओं का विस्तार तथा सहकारी बैंकों की संख्या में वृद्धि इनके महत्व को कम नहीं कर पाये हैं। देशी बैंकिंग व्यवसाय को नियन्त्रित करने के लिए राज्य सरकारों ने कुछ कानून पारित किये हैं, परन्तु इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मुद्रा बाजार का यह भाग न तो रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में है और न ही बाजार की ब्याज दरों से प्रभावित होता है। देश में काला धन बढ़ जाने से अनेक प्रकार के लेन–देन तो गुप्त तरीके से किये जाने लगे हैं।

3. संगठित तथा असंगठित मुद्रा–बाजार की ब्याज दर में तो अन्तर ही है, संगठित बाजार में भी ब्याज की दरों में भिन्नता रहती है। बैंकों की जमाराशियों पर ब्याज दरें समान स्तर पर आ गयी हैं, परन्तु अलग–अलग प्रकार के ऋणों पर बैंकों द्वारा ली जाने वाली ब्याज दरों में भिन्नता रहती है। विभिन्न संस्थाओं द्वारा दिये गये विभिन्न प्रकार के ऋणों पर ब्याज दरों में काफी अन्तर रहता है। बाजार बिलों की दर (अर्थात् छोटे व्यापारियों के बिलों की सर्राफों द्वारा कटौती दर) अलग–अलग शहरों में अलग–अलग है।

4. भारतीय मुद्रा–बाजार में प्रायः अक्टूबर–नवम्बर से अप्रैल–मई तक ऋणों के लेन–देन की दृष्टि से व्यस्त मौसम रहता है। इसके विपरीत, मई–जून से सिम्बर–अक्टूबर तक के शिथिल मौसम (slack season) में ऋणों की माँग में कमी रहती है और ब्याज–दर में भी कमी होती है। इन मौसमी परिवर्तनों का सम्पूर्ण वाणिज्य एवं व्यवसाय पर प्रभाव पड़ता है।

5. बिलों के माध्यम से व्यापारिक वित्त व्यवस्था करने में क्रेता, विक्रेता तथा बैंक तीनों को लाभ होता है। भारतीय मुद्रा–बाजार की एक बहुत बड़ी कमी यह रही है कि इसमें बिलों का लेन–देन अपेक्षाकृत काफी कम रहा है।

6. विकसित मुद्रा–बाजारों में अलग–अलग प्रकार के ऋणों की व्यवस्था करने के लिए विशिष्ट संस्थाएँ होती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की संस्थाओं का अभाव है। औद्योगिक वित्त संस्था की स्थापना से औद्योगिक बैंकों की कमी कुछ सीमा तक कम हुई है। परन्तु स्वीकृति–गृह (Acceptance Houses) तथा कटौती–गृह (Discount House) न होने के कारण व्यापारिक बिलों के प्रयोग में वृद्धि नहीं की जा सकी है।

7. बैंकों का कार्य–क्षेत्र शहरों तक ही सीमित रहा है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शाखाओं का विस्तार किया जाने लगा है। स्टेट बैंक ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है, परन्तु शाखा–विस्तार की नीति तथा उद्देश्यों में अनेक त्रुटियाँ रही हैं, जिससे देश में सभी क्षेत्रों तथा सभी वर्गों को समान रूप से लाभ नहीं मिल पाया है।

8. भारतीय मुद्रा–बाजार में प्रायः धन का अभाव रहता है। इसके कई कारण हैं, जैसे–
   (1) राष्ट्रीय आय कम होने के कारण बचत करने की शक्ति कम होना।
   (2) जमा प्राप्त करने के लिए वित्तीय संस्थाओं की कमी।
   (3) धन को नकदी अथवा किसी अन्य रूप में अपने पास रखने की प्रवृत्ति।
   (4) वित्तीय अव्यवस्था के कारण बिना लेखे की मुद्रा के आकार में वृद्धि इत्यादि।

9. देश में बड़े–बड़े शहरों को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर समाशोधन–गृहों का सर्वथा अभाव है। परिणामस्वरूप, वाणिज्य बैंक नकद कोष की मितव्ययता नहीं कर पाये हैं।

3.9 सारांश

भारतीय मुद्रा–बाजार में सुधार के लिए समय–समय पर अनेक उपाय किये जाते रहे हैं। सुरक्षा के लिए मुख्यतः इन उपायों को अपनाने की आवश्यकता है।

1. वाणिज्य बैंकों के संगठन तथा उनकी कार्य–प्रणाली में सुधार किया जाये और उनकी शाखा–विस्तार नीति को सही दिशा में लाने के लिए उचित नीति निर्धारित की जाय।

2. मुद्रा–बाजार के असंगठित क्षेत्र पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जाये, देशी बैंकरों के कार्य पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण होना चाहिए।

3. सरकारी बैंकों के संगठन, नीति तथा कार्य–विधि में सुधार होना चाहिए, सहकारी बैंकों के विकास में ग्रामीण क्षेत्रों को वांछित लाभ प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

4. हुण्डियों का प्रमापीकरण (standardization) किया जाये ताकि उनमें एकरूपता आ सके और बैंकों द्वारा उन्हें स्वीकार किया जा सके।
5. धन–प्रेषण की सुविधा में वृद्धि की जानी चाहिए।
6. लाइसेन्स प्राप्त भण्डार–गृहों (Licensed Warehouses) की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जाये ताकि इनमें रखे गये माल की रसीद पर व्यापारी तथा कृषक ऋण प्राप्त कर सकें।
7. समाशोधन गृहों का पुनर्गठन किया जाय तथा उनकी संख्या में वृद्धि की जाये।
8. बिल–बाजार का विकास किया जाये, मुद्रा बाजार का समुचित विकास संगठित बिल बाजार के बिना सम्भव नहीं हो सकता है।

नरसिंहम समिति– बहुत समय से बैंकिंग प्रणाली के वित्तीय स्वास्थ्य में गिरावट के कारणों की जाँच करते हुए नरसिंहम समिति ने 1991 में विभिन्न उपचारात्मक उपायों की सिफारिश की है। इन सिफारिशों में, अन्य बातों के साथ–साथ, पूँजी पर्याप्तता मानदण्ड (capital adequacy norms), आय की पहचान के लिए विवेकसम्मत मानदण्ड, अस्तियाँ वर्गीकरण और अशोध्य ऋणों के लिए व्यवस्था शामिल है। ये सभी लागू कर दिये गये हैं और इन मानदण्डों को चरणबद्ध रूप में शुरू करने की नीति अपनायी गयी है।

नरसिंहम समिति ने यह सिफारिश भी की थी सराकरी प्रतिभूतियों पर ब्याज दरें बाजार से सम्बन्धित होनी चाहिए जिससे ऐसी स्थिति में खुले बाजार के कार्यकलाप किये जा सकें। सरकारी प्रतिभूतियों पर बाजार से सम्बन्धित ब्याज दरों की ओर उन्मुख कार्यवाई के एक भाग के रूप में दिनांकित प्रतिभूतियों पर लाभांश दरें प्रस्तुत की जाने लगी हैं। एक नये लिखित नीलाम के आधार पर 364 दिवसीय कोषागार–विपत्र अप्रैल 1992 शुरू किया गया तथा दिनांकित प्रतिभूतियाँ नीलामी आधार पर पहली बार केन्द्र द्वारा जारी की गयीं।

विनियमित ब्याज दर ढाँचे के सम्बन्ध में नरसिंहम समिति का जोर मलतः इस बात पर था कि वास्तविक ब्याज–दरें सकारात्मक होनी चाहिए और रियायती ब्याज–दरें आर्थिक सहायता अथवा अनुदान की वाहक नहीं होनी चाहिए। ब्याज–दरों को युक्तियुक्त बनाने के लिए कुछ सुधारात्मक उपाय लागू किये गये हैं। इस सन्दर्भ में कदम–दर–कदम सावधान दृष्टिकोण अपनाये जाने की आवश्यकता है क्योंकि ब्याज–दर को तेजी से अनिवेशित किया जाना अस्थिरताकारी हो सकता है।

3.10 बोध प्रश्न

प्रश्न–1 मुद्रा बाजार क्या है? भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न–2 भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों का वर्णन कीजिए। इसके सुधार के सम्बन्ध में अपने सुझाव दीजिए।

प्रश्न–3 मुद्रा बाजार से क्या अभिप्राय है? भारतीय मुद्रा बाजार की क्या विशेषताएं हैं?

प्रश्न–4 मुद्रा बाजार के कार्यों की विवेचना कीजिए। मुद्रा बाजार क्यों महत्वपूर्ण है?

प्रश्न–5 संगठित मुद्रा बाजार के संघटक क्या है? इसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

3.11 शब्दावली

व्यापारिक पत्र बाजार	:	Commercial Paper Market
बट्टा बाजार	:	Discount Market
कोषागार विपत्र बाजार	:	Treasury Bill Market
प्रतिभूति ऋण बाजार	:	Security Loan Market
अविलंब मुद्रा	:	Call Money

विनिमय बिल	:	Bill of Exchange

3.12 संदर्भ सूची

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chap. 3
G. Crowther	:	An Outline of Money, Chap. 2
L. V. Chandler	:	Introduction to Monetary Theory.
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory.
S. K. Rao	:	The Indian Money Market.
Syke	:	The London Money Market.
Marcus Nadler	:	The Money Market and its Institutions.

इकाई–4 भारतीय पूंजी बाजार

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारतीय पूंजी बाजार के संघटक

4.3 पूंजी बाजार के उपकरण

4.4 पूंजी बाजार के कार्य

4.5 पूंजी बाजार में सुधार

4.6 भारतीय पूंजी बाजार के दोष

4.7 मुद्रा और पूंजी बाजार में अंतर

4.8 मुद्रा और पूंजी बाजार में परस्पर सम्बंध

4.9 सारांश

4.10 बोध प्रश्न

4.11 शब्दावली

4.12 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

वित्तीय बाजार के अत्यंत महत्वपूर्ण अंग भारतीय पूंजी बाजार के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. पूंजी बाजार मांग पक्ष और पूर्ति पक्ष का एकीकृत स्वरूप है। इसकी जानकारी प्राप्त करना।
2. दीर्घ कालीन ऋणों के स्रोतों के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
3. दीर्घकालीन वित्तीय लेन–देन करने वालों में प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बंध के बारे में पता करना।
4. पूंजी बाजार में मध्यस्थों तथा पारस्परिक निधियों की भूमिका के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
5. पूंजी को उत्पादक कार्यों में किस प्रकार विनियोजित करने के लिए प्रेरित किया जाता है। इस बात का पता लगाना।

4.1 प्रस्तावना

पूंजी बाजार वह बाजार है जो दीर्घकालीन ऋणों में लेन–देन करता है। यह उद्योग को निर्धारित और कार्यशील पूंजी उपलब्ध कराता है तथा केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों को मध्यम अवधि और दीर्घकालीन अवधि के ऋणों के रूप में वित्तीय सहायता प्रदान करता है। पूंजी बाजार निगमों के साधारण स्टॉकों, शेयरों और ऋण–पत्रों और सरकारों के बांड एवं प्रतिभूतियों का लेन–देन भी करता है। पूंजी बाजार में प्रवाहित होने वाली निधियां निवेश हेतु बचत करने वाले व्यक्तियों, मर्चेंट बैंकों, वाणिज्यिक बैंकों और बीमा कम्पनियों, वित्त गृहों, यूनिट ट्रस्टों, निवेश ट्रस्टों, जोखिम पूंजी, लीजिंग वित्त, पारस्परिक निधियों, भवन–सोसाइटियों आदि जैसे गैर–बैंक वित्तीय माध्यमों से प्राप्त होती हैं। इसके अलावा ऐसे निर्गम गृह (issue houses) हैं जो पूंजी प्रदान

नहीं करते अपितु कम्पनियों के शेयरों और ऋण–पत्रों की हामीदारी (underwrite) भी देते हैं और शेयरों एवं ऋण–पत्रों के लिए नए निर्गमों की बिक्री में सहायता करते हैं। निधियों की मांग कार्यशील और स्थायी पूंजी परिसम्पत्तियों के लिए संयुक्त पूंजी कंपनियों से और विभिन्न व्ययों और परिसम्पत्तियों को वित्त सहायता उपलब्ध कराने के लिए स्थानीय, राज्य और केन्द्रीय सरकारों, सुधार–ट्रस्टों (improvement trusts) पोर्ट ट्रस्ट द्वारा की जाती है।

पूंजी बाजार स्टॉक केन्द्रों के जरिए कार्य करता है। स्टाक केन्द्र एक ऐसा बाजार है जो शेयरों, स्टाकों, बांडों, प्रतिभूतियों और ऋण–विक्रय को सुविधा प्रदान करता है। यह न केवल पुरानी प्रतिभूतियों और शेयरों का अपितु नए शेयरों और प्रतिभूतियों का बाजार है। वास्वत में, पूंजी बाजार नई पूंजी की पूर्ति और मांग से संबंधित है तथा स्टॉक एक्सचेंज ऐसे लेन–देन को सुविधा देता है। इस प्रकार, पूंजी बाजार संस्थाओं और तंत्रों का समूह होता है जिसके जरिए मध्यम अवधि निधियां और दीर्घकालीन निधियां पूल की जाती हैं और व्यक्तियों, व्यवसायों और सरकारों को उपलब्ध कराई जाती हैं। इसमें वह प्रक्रिया भी शामिल है जिसके द्वारा पहले से बकाया प्रतिभूतियां स्थानान्तरित की जाती हैं।

4.2 भारतीय पूंजी बाजार के संघटक

भारतीय पूंजी बाजार के विभिन्न घटक निम्नलिखित हैं–

1. वित्तीय संस्थान (Financial Institutions)

(i) भारतीय औद्योगिक वित्त निगत (IFCI-1948)।

(ii) भारतीय औद्योगिक विकास निगम (IDBI-1964)।

(iii) भारतीय लघु उद्योग विकास निगम (SIDBI-1990)।

(iv) भारतीय जीवन बीमा निगम (LIC-1956)।

(v) भारतीय यूनिट ट्रस्ट (UTI-1964)।

(vi) भारतीय औद्योगिक ऋण एवं निवेश निगम लि. (ICICIL-1955)।

(vii) भारतीय औद्योगिक निवेश बैंक लि. (IIBIL-1985)।

(viii) राज्य वित्त निगम (State Financial Corporation) इत्यादि।

2. प्रतिभूतियाँ बाजार (Securities Markets)

(i) सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार (Gilt-Edged Market)।

(ii) निगमित प्रतिभूतियाँ बाजार (Corporate Securities Market)।

1. प्राथमिक बाजार (Primary Capital Market)

(क) कम्पनियों–सरकारी तथा निजी द्वारा नये निर्गमों को जारी करना।

(ख) कम्पनियों–सरकारी एवं निजी द्वारा नये डिबेन्चरों को जारी करना।

(ग) सार्वजनिक क्षेत्र के संसाधनों द्वारा बॉण्डों का निर्माण।

(घ) म्यूचुअल फण्डों–सार्वजनिक एवं निजी की विभिन्न योजनाएँ।

2. द्वितीयक बैंक बाजार (Secondary Capital Market)

(क) शेयरों का क्रय–विक्रय।

(ख) डिबेन्चरों का क्रय–विक्रय।

(ग) सार्वजनिक बॉण्डों का क्रय–विक्रय।

प्राथमिक पूँजी बाजार के विभिन्न घटक (Main Organs of Primary)-

(i) निर्गम जारी करने वाली कम्पनी।

(ii) निर्गम का प्रबन्धक।

(iii) निर्गम का बैंकर (Banker of the Issue)।

(iv) अण्डरराइटर (Under writer)।

(v) निर्गम का पंजीयक (Registrar of the Issue)।

(vi) निर्गम के न्यासी (Trustee of the Issue)।

(vii) मर्चेन्ट बैंकर्स (Merchant Bankers)।

द्वितीय पूँजी बाजार के प्रमुख घटक (Main Organs of Secondary)-

1. शेयर बाजार (Stock Exchange)

(क) भारतीय राष्ट्रीय स्टॉक एक्सचेंज।

(ख) ओवर दी काउण्टर एक्सचेंज ऑफ इण्डिया।

(ग) निजी क्षेत्र के स्टॉक एक्सचेंज।

जैसे– मुम्बई स्टॉक एक्सचेंज इत्यादि।

2. मध्यस्थ (Intermediaries)

(क) शेयर दलाल (Share Broker)।

(ख) शेयर हस्तान्तरण अभिकर्ता

(ग) पोर्टफोलियो मैनेजर

(घ) विदेशी संस्थागत निवेश (Foreign Institutional Investors)।

(ङ) म्यूचुअल फंड (Mutual Fund)

4.3 पूंजी बाजार के उपकरण

पूंजी बाजार में निम्न उपकरणों के माध्यम से लेन–देन होता है–

1. **निगम स्टॉक (Corporate Stock)-**निगम स्टॉक में कंपनियों द्वारा जारी की गई अनेक प्रकार की प्रतिभूतियां होती हैं जिनमें उनके अधिमान (preference), बोनस एवं राइट इश्यू शेयर, स्टॉक, बांड, परिवर्तनीय और गैर–परिवर्तनीय डिबेंचर आदि शामिल होते हैं।

2. **बंधक (Mortgages)-**बंधक एक ऋण उपकरण होता है जो किसी घर, व्यवसाय, फार्म आदि को खरीदने के लिए जमानत के रूप में रख कर ऋण लिया जाता है। गृह, एसोसिएशन, बीमा कंपनियां, कमर्शियल बैंक, गृह विकास निगम आदि बंधकों के आधार पर ऋण देते हैं।

3. **सरकारी प्रतिभूतियां (Government Securities)**-केन्द्रीय और राज्य सरकारें तथा स्थानीय निकाय प्रतिभूतियां एवं बांड जारी करते हैं। इन्हें सर्वोत्तम प्रतिभूतियां (gilt-edged securities) कहा जाता है। ये दीर्घकालीन होती हैं जिन्हें जनसाधारण, बैंक और वित्तीय संस्थाएं खरीदते हैं।

4. **उपभोक्ता और कमर्शियल कर्जे (Consumer and Commercial Loans)**-उपभोक्ता कर्जे–व्यक्तियों द्वारा कार, घरेलू वस्तुएं आदि खरीदने के लिए बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं से मध्यम अवधि के लिए होते हैं। जबकि कमर्शियल कर्जे व्यवसायियों द्वारा मध्यम अवधि के लिए होते हैं।

5. **विदेशी बांड (Foreign Bonds)**-कई कंपनियां विश्व पूंजी–बाजार में अपने बांड जारी करती हैं जो जिस देश कंपनी स्थापित हो उसी की करेंसी में होते हैं। लेकिन विकासशील देशों की कंपनियों द्वारा जारी बांड प्रायः डॉलर में होते हैं।

4.4 पूंजी–बाजार के कार्य अथवा महत्व

पूंजी–बाजार, बचतों को जुटाने और इन्हें वाणिज्य तथा उद्योग के विकास के लिए उत्पादक निवेशों में प्रवाहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस प्रकार, पूंजी बाजार राष्ट्र के पूंजी–निर्माण और विकास में सहायता करता है। हम आगे पूंजी बाजार के महत्व की चर्चा करेंगे।

पूंजी–बाजार बचतकर्ता और निवेशकों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करता है। बचतकर्ता निधियों के ऋणदाता हैं और निवेशक निधियों के ऋणी हैं। अपनी समूची आय खर्च न करने वाले बचतकर्ताओं को "बेशी इकाईयां" (surplus units) और ऋणियों को 'घाटे की इकाईयों' (deficit units) के रूप में जाना जाता है। पूंजी बाजार बेशी इकाइयों और घाटे की इकाईयों में संचारण (Transmission) तन्त्र होता है। यह एक ऐसी नाली है जिसके जरिए बेशी इकाईयां अपनी बेशी निधियां, घाटे की इकाईयों को उधार देती हैं। व्यक्तियों और वित्तीय मध्यस्थों से निधियां पूंजी बाजार में प्रवाह होती हैं और इन्हें वाणिज्य, उद्यम और सरकार द्वारा खपाया जाता है। अतः ये निधियां राष्ट्रीय आय को बढ़ाने और अधिक उत्पादक तथा लाभदायक रूप से उपयोग में लाने के लिए पूंजी प्रवाह के चलन को सुविधा देती है। बेशी इकाईयां अपनी बेशी निधियों से प्रतिभूतियां खरीदती हैं और घाटे की इकाईयां अपनी आवश्यकता के अनुसार निधियां जुटाने के लिए प्रतिभूतियां बेचती हैं। ये निधियां बैंकों, यूनिट ट्रस्टों, पारस्परिक निधियों के जरिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ऋणदाताओं से ऋणियों तक प्रवाहित होती हैं। ऋणी प्राथमिक प्रतिभूतियों को निर्गम करते हैं जिन्हें ऋणदाता वित्तीय संस्थाओं के जरिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से खरीद लेते हैं।

पूंजी–बाजार बचतकर्ताओं को ब्याज अथवा लाभांश के रूप में प्रोत्साहन देते हैं और निवेशकों को निधियां हस्तांतरित करते हैं। इस प्रकार, पूंजी निर्माण होता है। वास्तव में, पूंजी बाजार बचत करने वालों और उत्पादक निवेशों हेतु निधि की आवश्यकता वालों को बाजार–तंत्र प्रदान करता है। यह संसाधनों को स्वर्ण, आभूषण, वास्तविक संपदा, प्रदर्शन उपभोग आदि जैसे खर्चीली और गैर–उत्पादक प्रणालियों से उत्पादक निवेशों की ओर ले जाता है।

विशेषज्ञ बैंकिंग और गैर–बैंकिंग मध्यस्थों वाला सुविकसित पूंजी बाजार स्टॉक और प्रतिभूतियों के मूल्य में स्थिरता लाता है। यह जरूरतमंदों को उचित ब्याज दर पर पूंजी प्रदान करके ऐसा करता है और सट्टा गतिविधियों को कम करने में सहायता देता है।

पूंजी–बाजार आर्थिक वृद्धि को प्रोत्साहित करता है। पूंजी–बाजार में कार्य करने वाली विभिन्न संस्थाएं निधियों के प्रवाह को मात्रात्मक और गुणात्मक दिशा प्रदान करती हैं और संसाधनों का युक्ति–संगत आवंटन करती हैं। उक्त संस्थाएं वित्तीय परिसम्पत्तियों को उत्पादक वास्तविक परिसम्पत्तियों में परिवर्तित करके ऐसा करती हैं। निजी और सार्वजनिक उपक्रमों के जरिए वाणिज्य और उद्योग का विकास होता है और इससे आर्थिक वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

पूंजी की दुर्लभता वाले अल्पविकसित राष्ट्र में विकसित पूंजी बाजार के न होने से पूंजी निर्माण और आर्थिक वृद्धि में बड़ी बाधा होती है। यद्यपि लोग गरीब होते हैं, तथापि उन्हें बचत की कोई प्रेरणा नहीं होती। बचत करने वाले अन्य लोग स्वर्ण, आभूषण, वास्तविक सम्पदा, प्रदर्शन उपभोग आदि जैसी खर्चीली और गैर–उत्पादक बचतों में निवेश करते हैं। ऐसे राष्ट्र विकसित पूंजी–बाजार के अस्तित्व के लिए बैंकिंग और गैर–बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं की स्थापना द्वारा लोगों को अधिक बचत करने के लिए प्रेरित करते हैं। बचतकर्त्ताओं और निवेशकों के बीच एक कड़ी प्रदान करने में ऐसा बाजार काफी आगे तक जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप पूंजी–निर्माण में आर्थिक वृद्धि होती है।

4.5 पंूजी बाजार में सुधार

भारत सरकार द्वारा समय–समय पर नियुक्त नरसिंहम समिति, अन्य समितियों और समूहों की सिफारिश पर भारतीय पूंजी बाजार में सुधार लाने के लिए अनेक उपाय किए गए हैं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. **भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (SEBI)-** 31 मार्च 1992 में सेबी की स्थापना एक स्वायत्त और वैधानिक निकाय के रूप में की गई। मई 1992 में पूंजी निर्गम नियन्त्रण अधिनियम, 1947 में रद्द करने पर 29 मई 1992 से निर्गम नियंत्रक का कार्यकाल बन्द कर दिया गया। सेबी नये इश्युओं को देखने, निवेशकों के हितों की रक्षा करने, पूंजी बाजार के विकास को उन्नत और स्टॉक एक्सचेंज की कार्यशीलता को विनियमित करने के लिए नियामक प्राधिकरण है। सेबी ने इस दिशा में मध्यस्थों के पंजीकरण,कड़े प्रकटीकरण मानदंड, आंतरिक व्यापार पर विनियमन तथा स्टॉक एक्सचेजों और म्यूचुअल फंडों कार्य प्रणाली के निरीक्षण जैसे अनेक उपाय शुरू किये हैं। प्राथमिक शेयर बाजार में कमियों को दूर करने और नये निर्गम पूंजी बाजार में जारी करने के लिए अनेक प्रकार के सुधार किये। वर्ष 2013 में सरकार ने सेबी अधिनियम में संशोधन करके सेबी के अधिकारों में और अधिक बढ़ोत्तरी कर दिया। सेबी द्वारा द्वितीयक बाजार में मध्यस्थों अनेक नियामक निरीक्षणात्मक उपाय शुरू किये हैं। द्वितीयक बाजार में मध्यस्थों के लिए विशिष्ट नियम और विनियम निर्धारित किये गए हैं। वे हैं मर्चेंट बैंकर्स, निवेश प्रबंधक, हामीदार, रजिस्टार, दलाल, उपदलाल तथा शेयर हस्तांतरण एजेण्ट। उनके लिए अनिवार्य है कि वे विशिष्ट पूंजी पर्याप्तता मानदंड को पूरा करें और निवेशकों के लिए आचार सहिंता का अनुसरण करें।

2. **सस्थागत और बाजार विकास (Institutional and Market Development)-** सेबी की स्थापना के अलावा सरकार ने संस्थागत और बाजार विकास के लिए निम्नलिखित उपायों की शुरुआत की है–

    (i) बाजार निर्माताओं को उन्नत करने के लिए अनेक कदम उठायें गए हैं। चूंकि स्टॉक एक्सचेंज में 20% से अधिक शेयर पत्रों का सक्रियता पूर्वक व्यापार नहीं किया जाता है। इसलिए अन्य अधिकांश शेयरों के धारकों को पर्याप्त तरलता प्राप्त नहीं होती। बाजार निर्माताओं की संस्था बनाने का अर्थ इस कमी को दूर करना है। बाजार निर्माताओं के लिए यह अनिवार्य है कि वे कम से कम अर्थात् उन पाँच इक्विटी शेयरों के लिए बाजार बनायें जो स्टॉक एक्चेंज में किए जाने वाले व्यापार के A समूह में शामिल न हों। बाजार निर्माताओं को 18 महीनों के न्यूनतम अवधि के लिए शेयरों का द्विपथ उद्धरण देना आवश्यक होता है, जिस तारीख शेयर लेन–देन के लिए स्वीकार किए जाते हैं।

    (ii) सेबी ने विदेशी संस्थागत निवेशक (FII's) को अपने यहां पंजीकृत करने के लिए साझा आवेदन फार्म को सरलीकृत कर दिया है। विदेशी दलालों को भी FII's कि सहायता करने तथा भारत स्टॉक एक्सचेजों में FII's की ओर से शेयर पत्रों को क्रय–विक्रय करने की अनुमति दे दी है। FII's को बैंक और कस्टाडियन खाते खोलने की अनुमति भी दे दी गयी है। विदेशी फर्मों को वित्तीय क्षेत्र में संयुक्त उपक्रम स्थापित करने की अनुमति भी दे दी गयी है।

(iii) ओवर दि काउण्टर एक्सचेंज ऑफ इंडिया (OTCEI) को भारतीय औद्योगिक साख एवं निवेश निगम (ICICI), भारतीय यूनिट ट्रस्ट (UTI), भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), द इंडस्ट्रियल फाईनेंस कार्पोरेशन ऑफ इंडिया लि. (IFCI), साधारण बीमा निगम (GIC), जीवन बीमा निगम (LIC), SBI कैपिटल मार्किट्स और केन बैंक फाईनेन्शियल सर्विसेज द्वारा संयुक्त रूप से स्थापित किया गया है। इसे सेबी में स्टॉक एक्सचेंज के रूप में पंजीकृत किया गया है और 6 अक्टूबर 1992 से OTCEI ने अपना कार्य शुरू कर दिया है। इसका मुख्य उद्देश्य लघु एवं मध्यम कंपनियों को पूंजी बाजार में पहुंच प्रदान करना है ताकि ये कम्पनियां कम लागत में पूंजी जुटा सकें।

(iv) नेशनल स्टॉक एक्सचेंज ऑफ इंडिया (NSEI), को IDBI, ICICI, IFCI, GIC, LIC, SBI कैपिटल मार्किट्स, SHCIL और ILFS द्वारा एक लिमिटेड कंपनी के रूप में 1992 स्थापित किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य स्क्रीन आधारित व्यापार, व्यापारोत्तर समाशोधन और निपटान के जरिए निवेशकों को शेयर पत्रों, डिबेंचरो और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के बांडों में विस्तृत राष्ट्रव्यापी व्यापार सुविधा प्रदान करना है। NSEI ने 22 अप्रैल 1996 और 1 जनवरी 1997 से निफ्टी और मिडकैप इंडेक्स की शुरुआत की है जिसमें प्रत्येक में 50 सबसे महत्वपूर्ण कंपनियों के शेयर शामिल हैं।

(v) 8 नवम्बर 1996 से भारत के पहले निक्षेपागार, राष्ट्रीय प्रतिभूति निक्षेपागार लि. (NSDL) ने काम करना प्रारंभ किया। इसको IDBI, UTI और NSEI द्वारा संयुक्त रूप से समर्थन मिला। इसका स्थापना पूंजी बाजार में पेपर से संबंधित त्रुटियों का कारगर समाधान करने, निपटान जोखिम घटाने और उतार चढ़ाव निपटान की ओर गति को सहज बनाने के लिए की गयी है। निक्षेपागार (Depository) शेयर प्रमाणपत्रों के लिए एक बैंक होता है। निवेशक बैंक खाते के समान ही निक्षेपागार में अपना खाता परिचालन करता है। शेयर धारकों के पास शेयर प्रमाण पत्र को रखने या निक्षेपागार का तरीका अपनाने का विकल्प होता है।

4.6 भारतीय पूंजी बाजार के दोष

पूंजी बाजार में किये गये विभिन्न सुधार के बावजूद भारतीय पूंजी बाजार की कार्यप्रणाली में निम्नलिखित कमियां हैं–

1. भारतीय पूंजी बाजार में पर्याप्त तरलता नहीं है। हाल ही में किये गए अध्ययन से यह पता चला कि प्रतिदिन 20% शेरय पत्रों और वह भी समूह A के शेयर पत्रों का व्यापार किया जाता है अन्य 20% शेयर पत्रों का व्यापार सप्ताह में दो से तीन बार और 10% शेयर पत्रों का व्यापार 15 दिन में एक बार किया जाता है।
2. शेयर पत्रों की सुपुर्दगी और निपटान अथवा लेन–देन में असाधारण विलम्ब होता है। शेयर पत्रों की सुपुर्दगी में साधारणतः तीन से चार महीने और भुगतान में दो से तीन महीने का समय लगता है। भुगतानों और सुपुर्दगियों में होने वाले विलम्ब के कारण स्टॉक एक्सचेंज के कार्यों में अवरोध होता है।
3. भारत में पूंजी–बाजार उपकरण मुख्यतया शेयरों और डिबेंचरों तक सीमित रहते हैं जोकि पूंजी बाजार की सही कार्य–प्रणाली के लिए अपर्याप्त होते हैं। अभी हाल ही में शुरू किए गए वारंट, शून्य कूपन बांड्स आदि निवेशकों में अभी तक लोकप्रिय नहीं हैं।
4. बैंकिंग और डाक सेवाएं इतनी कार्यकुशल नहीं हैं जिससे छोटे छोटे निवेशकों की कठिनाईयां और बढ़ जाती हैं। धन–राशि वापसी, लाभांश वारांट्स और ब्याज का भुगतान, कम्पनियों द्वारा छोटे ग्राहकों को साधारण डाक द्वारा भेजे जाते हैं जो प्रायः उन तक नहीं पहुंचते हैं। कुछ बेर्बमान डाक और बैंककर्मी आपस में सांठ–गांठ करके धोखाधड़ी द्वारा ऐसे चैक का भुगतान करा लेते हैं और छोटे निवेशकों को ठगते हैं।

5. स्टॉक इन्वेस्टमेन्ट को बड़े निवेशकों द्वारा वस्तुतः हथिया लिया गया है। छोटे अंकित मूल्यों के स्टाक इन्वेस्टों की अनुपलब्धता, कार्यविधि संबंधी कठिनाईयां और अधिक बैंक प्रभारों ने छोटे निवेशकों को इस उपकरण से दूर रखा है।

6. शेयरों की सूचीबद्धता से पहले गैर–शासकीय, गैर–विनियमित बाजार को अलभय वस्तु बाजार कहा जाता है। इस बाजार में भोले–भाले निवेशकों को आकर्षित और गुमराह किया जाता है। ऐसे निवेशकों को वित्तीय विश्लेषकों द्वारा नए शेयर में निवेश करने के लिए प्रेरित किया जाता है जबकि ये विश्लेषक न तो सही होते हैं और न ही निष्पक्ष। वे कम्पनियों के कहने पर प्रायः निवेशकों को गुमराह करते हैं। इसके परिणामस्वरूप छोटे निवेशक सर्वाधिक घाटे में रहते हैं।

7. सेबी के दिशानिर्देशों के बावजूद, निजी कम्पनियों द्वारा जारी प्रॉस्पेक्टस में पूरी सूचना नहीं होती और वह अस्पष्ट होता है। सेबी द्वारा निर्धारित स्वतन्त्र कीमत निर्धारण का कड़ाईपूर्वक पालन नहीं किया जाता है। प्रीमियम निर्धारण भी सही नहीं होता है। इसके परिणामस्वरूप अनेक कम्पनियां निवेशकों को पूर्णतया छलती हैं और बिना किसी नामोनिशान के बंद हो जाती हैं।

8. स्टॉक–दलाली व्यवस्था दोषपूर्ण बनी हुई है। दलालों के अपने उप–दलाल हैं और इन उप–दलालों के आगे अपने उप–दलाल होते हैं जो द्वितीयक बाजार में शेयरों और डिबेंचरों के खरीदारों और बेचने वालों को ठगते और कीमतों में हेरा–फेरी करते हैं।

9. स्टॉक एक्सचेंज के खुले दायरे में होने वाले लेन–देन को छोड़कर व्यापारिक लेन–देन में कम पारदर्शिता है। शेयर–पत्रों के क्रेता और विक्रेता वाले दलालों और उप–दलालों की दया पर निर्भर होते हैं जो प्रायः विक्रेताओं को एक शेयर–पत्र का न्यूनतम व्यापारिक मूल्य बताते हैं। इस प्रकार वे अपनी दलाली के अलावा दोनों प्रकार के लेन–देन में अधिकतम कपटपूर्ण लाभ बटोरते हैं।

10. दलालों और उप–दलालों द्वारा की जाने वाली चूक के मामले में ग्राहकों को अपर्याप्त संरक्षण प्राप्त है। दलाल द्वारा की जाने वाली चूक के मामले में प्रत्येक स्टॉक एक्सचेंज में स्थापित उपभोक्ता संरक्षण निधि के अंतर्गत निजी शेयरधारक को दिया गया संरक्षण 40,000 रुपये तक सीमित है। यह सीमा बहुत कम है।

11. भारत में कार्यरत स्टॉक एक्सचेंज अपने परिचलनों में अभी तक दोषपूर्ण बने हुए हैं। उन्हें पर्याप्त बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। स्टॉक दलालों द्वारा कुशलतापूर्वक कार्य करने के लिए पर्याप्त स्थान का भी अभाव है।

4.7 मुद्रा और पूंजी बाजार में अंतर

मुद्रा बाजार पूंजी बाजार से अनेक आधारों पर भिन्न हैं–

1. मुद्रा बाजार उन अल्पकालीन निधियों में लेन–देन करता है जो मौजूदा व्यवसाय परिचालनों और सरकार की अल्पकालीन आवश्यकताओं को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए प्रयोग की जाती हैं। दूसरी ओर, पूंजी–बाजार उद्योग और सरकार द्वारा अपेक्षित दीर्घकालीन निधियों का लेन–देन करता है।

2. मुद्रा बाजार में अल्पकालीन निधियों से अभिप्रायः एक वर्ष से कम अवधि का होता है, जबकि पूंजी बाजार में दीर्घकालीन निधियां 25 वर्ष की अवधि तक की होती है।

3. मुद्रा बाजार वचन–पत्र, विनिमय बिल, राजकोषीय बिल, जमा प्रमाण–पत्र, वाणिज्यिक कागज पत्र आदि जैसे प्रपत्रों का प्रयोग करता है। दूसरी ओर, पूंजी–बाजार औद्योगिक इकाईयों के शेयर, ऋण–पत्र और बांड तथा सरकार के बांड्स एवं प्रतिभूतियां जैसी दीर्घकालीन प्रतिभूतियों को काम में लाता है।

4. मुद्रा बाजार और पूंजी–बाजार में कार्यरत संस्थाएं एक–दूसरे से भिन्न होती हैं। केन्द्रीय बैंक, वाणिज्यिक बैंक, गैर–बैंक वित्तीय मध्यस्थ तथा बिल दलाल–मुद्रा बाजार में लेन–देन करते हैं। दूसरी ओर

स्टाक एक्सचेंज, पारस्परिक निधियां, लीजिंग कम्पनियां, निवेशक बैंक, निवेश ट्रस्ट, बीमा कम्पनियां आदि पूंजी–बाजार प्रपत्रों में व्यवहार करते हैं।

4.8 मुद्रा और पूंजी–बाजार में परस्पर संबंध

मुद्रा–बाजार और पूंजी–बाजार में निकटता का परस्पर संबंध है क्योंकि अधिकांश निगम और वित्तीय संस्थाएं दोनों में सक्रिय होती हैं। फर्में तथा मुद्रा बाजार से अल्पावधि और पूंजी बाजार से दीर्घकालीन अवधि के लिए ऋण ले सकती हैं। अनेक कारक ऋणियों और ऋणदाताओं को मुद्रा बाजार अथवा पूंजी–बाजार का सहारा लेने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। यह दोनों बाजारों की परस्पर निर्भरता को व्यक्त करता है। इन कारकों की आगे चर्चा की गई है–

1. ऋणदाता–निधियों की उपलब्धता, प्रतिफल दर और इन बाजारों की निवेश–नीतियों को ध्यान में रखते हुए किसी एक अथवा दोनों बाजारों में अपनी निधियों को लगाना–चुन सकता है।
2. उधारकर्ता अपनी आवश्यकताओं के अनुसार किसी एक अथवा दोनों बाजारों से निधियां प्राप्त कर सकता है। एक फर्म वाणिज्यिक कागज पत्रों की बिक्री द्वारा अल्पकालीन निधियां प्राप्त कर सकती है अथवा अतिरिक्त शेयर या बांड जारी कर सकती है।
3. कुछ निगम और वित्तीय संस्थाएं अल्पकालीन और दीर्घकालीन प्रतिभूतियों का क्रय–विक्रय करके दोनों बाजारों में कार्य करती हैं।
4. सभी दीर्घकालीन प्रतिभूतियां परिपक्वता के समय दीर्घकालीन प्रपत्र बन जाते हैं। इसलिए, कुछ पूंजी बाजार प्रपत्र मुद्रा बाजार के प्रपत्र बन जाते हैं।
5. जब खजाना राजकोषीय प्रतिभूतियों वाले परिपक्वता बिलों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है अथवा जब कोई बैंक परिपक्व ऋण की प्राप्ति को किसी फर्म को अल्पकालीन आधार पर देता है तो निधियां दोनो बाजारों के बीच इधर–उधर प्रवाहित होती हैं।
6. मुद्रा बाजार में प्रतिफलों का संबंध पूंजी बाजार के प्रतिफलों से होता है। मुद्रा बाजार में अल्पकालीन ब्याज दरों में गिरावट सस्ती साख की दशा को दर्शाती है जो पूंजी बाजार में दीर्घकालीन ब्याज दरों में बहुत मामूली गिरावट के साथ होती है। पर मुद्रा बाजार में ब्याज दरें पूंजी बाजार में दीर्घकालीन ब्याज दरों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होती है।

4.9 सारांश

भारत सरकार, भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड सेबी तथा भारतीय रिजर्व बैंक के संयुक्त प्रयासों के परिणामस्वरूप भारतीय पूँजी बाजार–प्राथमिक एवं द्वितीयक–अब अधिक पारदर्शी, सुस्पष्ट एवं सुसंगठित है जिसमें निवेशकर्ताओं के हितों की हर स्तर पर रक्षा की जाती है। प्रतिभूति घोटाले के व्यापक धक्के से स्वयं को सम्भालते हुए भारतीय पूँजी बाजार देश एवं विदेश के वैयक्तिक एवं संस्थागत निवेशकर्ताओं को चह विश्वास दिलाने में सफल रहा है कि अब इस प्रकार के घोटाले की पुनरावृत्ति नहीं होगी तथा प्राथमिक एवं द्वितीयक बाजारों के मध्यस्थों पर कड़ी नजर रखकर उन्हें ग्राहकों की पूँजी के आकार तथा भारत में पंजीकृत विदेशी संस्थागत निवेशकर्ताओं की संख्या में वृद्धि, भारतीय बाजारों और इसके नियामक तन्त्र में अन्तर्राष्ट्रीय निवेशकर्ता समुदाय के बढ़ते हुए विश्वास का एक मानदण्ड है।

4.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- पूंजी बाजार से आप क्या समझते हैं? इसके महत्व की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा और पूंजी बाजार में अंतर स्पष्ट कीजिए। वे परस्पर कैसे सम्बंधित हैं?

प्रश्न 3- पूंजी बाजार से क्या अभिप्राय है? भारतीय पूंजी बाजार की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करें।

प्रश्न 4- भारतीय पूंजी बाजार की कार्यशीलता को स्पष्ट करें।

प्रश्न 5- पूंजी बाजार के प्रमुख दोष क्या हैं? इन दोषों को दूर करने के लिए किये गए उपायों का वर्णन करें।

4.11 शब्दावली

समता शेयर	:	Equity
अधिमान शेयर	:	Preference Share
विदेशी बंधक पत्र	:	Foreign Bonds
अंतरंग व्यापार	:	Insider Trading
वित्तीय मध्यस्थ	:	Financial Intermediaries
विनियोग प्रक्रिया	:	Investment Process

4.12 संदर्भ सूची

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chap. 3
G. Crowther	:	An Outline of Money, Chap. 2
L. V. Chandler	:	Introduction to Monetary Theory.
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory.
S. K. Rao	:	The Indian Money Market.
Syke	:	The London Money Market.
Marcus Nadler	:	The Money Market and its Institutions.

इकाई–5 भारतीय मौद्रिक नीति समितियों की भूमिका

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 मौद्रिक नीति समिति की संरचना

5.3 मौद्रिक नीति समिति का उद्देश्य

5.4 मौद्रिक नीति समिति के उपकरण

5.5 मौद्रिक नीति समिति तथा मौद्रिक विकास के साथ मुद्रा स्फीति

5.6 मौद्रिक नीति समिति की सीमाएं

5.7 सारांश

5.8 बोध प्रश्न

5.9 शब्दावली

5.10 सन्दर्भ सूची

5.0 उद्देश्य

मौद्रिक अर्थशास्त्र के इस भाग के अंतर्गत देश का सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली नीति मौद्रिक नीति होता है जिसका निर्धारण नवगठित मौद्रिक नीति समिति (MPC) द्वारा किया जाता है। जिसके अध्ययन उपरान्त निम्नलिखित तथ्यों को समझना इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य है–

1. मौद्रिक नीति समिति के प्रमुख उद्देश्य का पता लगाना।
2. मौद्रिक नीति समिति की संरचना या संगठन की जानकारी प्राप्त करना।
3. MPC द्वारा मौद्रिक उपकरणों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है।
4. MPC के द्वारा मूल्य स्थिरता और आर्थिक विकास की गति के बारे में भूमिका को जानना।

5.1 प्रस्तावना

भारत जैसी विकसोन्मुख अर्थव्यवस्था के लिए ऐसी क्रियाशील मौद्रिक नीति की आवश्यकता होती है जो आर्थिक विकास में सहायक होने के साथ–साथ देश में स्थिरता को भी बनाये रखे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरांत भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के चालू होने के साथ नियोजित विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप देश की मौद्रिक नीति का निर्माण किया जाना आवश्यक था। 1952 के उपरान्त नियोजन काल में देश की मौद्रिक नीति में सरकार की वर्तमान आर्थिक नीति के युगल उद्देश्यों पर ही बल दिया गया। जैसे– देश में आर्थिक विकास को तीव्र गति देना ताकि राष्ट्रीय आय और जीवन स्तर को बढ़ाया जा सके तथा घाटे की वित व्यवस्था, इत्यादि से उत्पन्न स्फीतिकारी दबावों को नियन्त्रित करना इस प्रकार योजनाकाल में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अपनायी गयी। नीति को 'नियन्त्रित विस्तार' की नीति की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इस नीति में एक ओर तो आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्त प्रबंधन किया गया तथा दूसरी ओर कीमत स्थिरता बनाये रखने का प्रयास किया गया। देश में आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के उद्देश्य से भारतीय रिजर्व बैंक ने साख

विस्तार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। कृषि और औद्योगिक क्षेत्र को वित्त सुलभ कराने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने अनेक विशिष्ट एवं विकास वित्त संस्थाओं की स्थापान करने में सहयोग प्रदान किया है। सहकारी संस्थाओं तथा लघु उद्योगों के विकास हेतु विशेष रूप से साख का प्रबंधन किया गया है। निर्यात में वृद्धि, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार सरकारी प्रतिभूतियों को आश्रय प्रदान करने तथा विनियोग प्रोत्साहित करने के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किये गये हैं। स्थिरता के साथ आर्थिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विभिन्न उपायों द्वारा बैंक साख की मात्रा एवं दिशा का लगातार नियमन हेतु रिजर्व बैंक द्वारा प्रभावी मौद्रिक उपायों का लागू किया गया है। देश में व्यापारिक बैंकों की साख सृजन क्षमता पर अधिक नियन्त्रण रखने एवं आर्थिक नियोजन के संदर्भ में बैंकों की अन्य क्रियाओं का नियमन करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए गये हैं। रिजर्व बैंक अर्थव्यवस्था में त्वरित एवं बहुविधि विकास की दृष्टि से साख एवं मुद्रा की आपूर्ति के विस्तार को यथार्थपरक बनाते हुए इस तथ्य पर भी विचार करता है कि मुद्रा तथा साख के अत्यधिक विस्तार से स्फीतिकारी प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं जो अन्ततः अर्थव्यवस्था की वित्तीय स्थिरता के लिए खतरा बनती है। रिजर्व बैंक मौद्रिक नीति कुल मिलाकर इस वास्तविकता पर आधारित है कि जिसके अंतर्गत रिजर्व बैंक सदैव सर्तक रहते हुए उस समय व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त साख मुद्रा सृजन करने को प्रेरित करता है जब देश में बैंक साख की यथार्थ मांग की पूर्ति कम रहती है। इसके विपरीत बैंक साख की मात्रा बहुत अधिक होने पर साख मुद्रा के नियंत्रण हेतु उपयुक्त उपायों का प्रयोग करता है।

भारतीय रिजर्व बैंक के इन उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर उर्जित पटेल समिति के सुझाव पर 27 जून 2016 को मौद्रिक नीति समिति की स्थापना की गई। भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन करते हुए भारत में मौद्रिक नीति निर्माण की जिम्मेदारी MPC को सौंप दिया गया है। MPC की स्थापना के बाद से अब तक मौद्रिक नीति निर्माण का कार्य निरन्तर इस समिति के द्वारा किया जाता है। मौद्रिक नीति वह उपाय या उपकरण है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक ब्याज दरों पर नियन्त्रण कर अर्थ व्यवस्था में मुद्रा के प्रवाह को नियन्त्रित करता है, मूल्य स्थिरता बनाये रखता है और उच्च विकास दर के लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास करता है।

5.2 मौद्रिक नीति समिति की संरचना

केन्द्र सरकार द्वारा संशोधित RBI अधिनियम, 1934 की धारा 45 ZB के अनुसार अध्यक्ष को लेकर छः सदस्यीय मौद्रिक समिति का गठन किया जाता है जिसका अध्यक्ष RBI गवर्नर होता है। इसके अतिरिक्त दो सदस्य RBI से जिसमें एक RBI का डिप्टी गर्वनर और दूसरा RBI का प्रमुख अधिकारी होता है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य सदस्य भारत सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। वे ऐसे सदस्य होते हैं जो अर्थशास्त्र, प्रबंधन, सांख्यिकी अथवा वित्त के क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं। इन सदस्यों का कार्यकाल चार वर्षों तक या अगले आदेश तक का होता है। इस प्रकार MPC अपने नीतिगत दरों में परिवर्तन का निर्णय लेती है। इस समिति की बैठक द्विमासिक होता है जो नीतिगत दरों में बदलाव करता है। किस दर में बदलाव करना है या नहीं करना है यह सम्पूर्ण निर्णय यह समिति लेती है। यदि किसी नीतिगत दर पर असमान मत बनता है जिसमें दोनों पक्षों में समानता होती है तो ऐसे में निर्णायक मत समिति के अध्यक्ष का होता है।

5.3 मौद्रिक नीति समिति का उद्देश्य

मौद्रिक नीति समिति के निम्न उद्देश्य हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए यह समिति प्रयत्नशील है।

1. कीमत स्थिरता MPC सबसे प्रमुख उद्देश्य माना जाता है जो दो प्रकार से कीमत स्थिरता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। एक तो, समग्र मांग के क्षेत्र में स्फीतिकारी दबावों को नियन्त्रित करके, तथा दूसरा सापेक्षतया अधिक उत्पादकीय स्रोतों में साख के प्रभावी उपयोग एवं आवंटन को सुविधाजनक बनाकर।

2. सरकार का सकल राजकोषीय घाटा कम करने के लिए यह मौद्रिककृत घाटा कम करने का प्रयत्न करता है।

3. उपयुक्त साख नीति द्वारा योजना प्राथमिकताओं के अनुसार बचतों को बढ़ाकर, संसाधनों को एकत्रित करके तथा अर्थव्यवस्था की विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं को प्रोत्साहित करके, वृद्धि लाने में सहायक होता है।

4. रोजगार वृद्धि मौद्रिक नीति समिति के प्रमुख उद्देश्यों में से एक है ताकि देश में बेरोजगारी को कम करते हुए निवेश वृद्धि के साथ रोजगार के नये अवसरों का सृजन करने के लिए एक बेहतर संरचना तैयार करना।

5. आय के वितरण में असमानता को कम करते हुए सामाजिक न्याय अर्थात समावेशी विकास के कार्यक्रमों का समर्थन करना ऐसा यह अर्थव्यवस्था में प्राथमिकता बनाने वाले क्षेत्रों के लिए साख की लागत, मात्रा एवं दिशा को प्रभावित करके करता है।

इन उद्देश्यों में से कीमत स्थिरता प्रमुख है। कीमत स्थिरता ही उपयुक्त वातावरण प्रदान करती है जिसमें वृद्धि हो सकती है और सामाजिक न्याय तथा समावेशी विकास सुनिश्चित किया जा सकता है। निर्यात की वृद्धि तथा विदेशी ऋण की अदायगी के लिए भी कीमत स्थिरता अपेक्षित है। वास्तव में कीमत स्थिरता का अभिप्राय कीमतों का बढ़ना नहीं है बल्कि मौद्रिक नीति समिति द्वारा लक्षित चार प्रतिशत सामान्य कीमत स्तर को प्रति वर्ष से अधिक बढ़ने से रोकना है। जिसके लिए यह समिति द्विमासिक बैठक कर अपने नीतिगत दरों में परिवर्तन करता है।

5.4 मौद्रिक नीति समिति के उपकरण

मौद्रिक नीति के साधन दो प्रकार के होते हैं–

1. **परिमाणात्मक साधन (Quantitative Instruments)-**इस साधन का प्रयोग उधार की मात्रा के नियंत्रण हेतु किया जाता है। और अप्रत्यक्षतः ऐसे स्फीतिकारी एवं अवस्फीतिकारी दबाव के नियंत्रण हेतु किया जाता है जो उधार के विस्तार अथवा संकुचन के कारण व्यक्त होते हैं। जैसे बैंक दर, रेपो दर, रिवर्स रेपो दर, नकद आरक्षण अनुपात, वैधानिक तरलता अनुपात, सीमांत स्थायी सुविधा, लिक्विडिटी एडजस्टमेंट फेसिलिटी और ओपेन मार्केट ऑपरेशन।

   (i) **बैंक दर– (Bank Rate)** बैंक वह दर है जिस दर पर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के प्रथम श्रेणी के बिलों में पुनर्कटौती या बट्टा करके ऋण प्रदान करता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्यभाग वित्तीय क्षेत्र में भाग लेने वालों और विशेषकर बैंकों रिजर्व बैंक की मौद्रिक और ब्याज दर नीति के सन्दर्भ में स्थिति को स्पष्ट करना है। यदि मौद्रिक नीति प्रभावी और विश्वसनीय है, तो बैंक दर में परिवर्तन के फलस्वरूप बैंकों की प्राथमिक ऋण में परिवर्तन होगा और इस प्रकार यह एक स्वतंत्र मौद्रिक नियंत्रण के उपाय के रूप में कार्य कर सकेगी परन्तु मौद्रिक नीति के उपाय के रूप में बैंक दर का कार्यभाग भारत में बहुत ही सीमित रहा है। MPC स्फीतिकारी दबावों को कम करने के लिए बैंक दर को बढ़ाकर अर्थव्यवस्था में तरलता की मात्रा कम करके मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करता है। इसके विपरीत मुद्रा संकुचन की स्थिति में बैक दर में कमी करके तरलता की मात्रा को बढ़ाकर मंदी को दूर करता है।

   (ii) **रेपो दर एवं रिवर्स रेपो दर (Repo Rate and Reverse Repo Rate)-**रेपो दर वह दर है जिस दर पर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों को अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है। जबकि बैंकों को अतिरिक्त कोष रिजर्व बैंक के पास जमा करने पर जिस दर से ब्याज मिलता है उसे रिवर्स रेपो दर कहते हैं। अर्थात रेपो दर तरलता में वृद्धि को तथा रिवर्स रेपो दर तरलता में अवशोषण को प्रभावित करती है। ये दोनों दरें देश की साख एवं तरलता प्रबंधन तथा उसके नियंत्रण पर

तत्काल प्रभाव डालते हैं। विगत कुछ वर्षों में विश्वव्यापी वित्तीय संकट तथा देश में तीव्र मुद्रा प्रसार में रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति को प्रभावित किया है। वर्ष 2009-10 में मौद्रिक नीति का निर्धारण संकट के प्रबंधन के स्थान पर पुनरूत्थान के प्रबंधन तथा मुद्रा स्फीति के नियंत्रण एवं मुद्रा स्फीति संभवनाओं से सुरक्षा की आवश्यकताओं से निर्देशित हुआ है। तथा रिजर्व बैंक को विभिन्न उद्देश्यों जैसे सुदृढ़ पुनरूत्थान, मुद्रा स्फीति संभावनाओं से उचित सुरक्षा, बाजार में स्थायित्व तथा सरकार के उधार लेने के विशाल कार्यक्रमों की सुगम पूर्ति के मध्य उचित संतुलन बनाये रखने पर ध्यान देना पडा है। MPC ने मौद्रिक एवं ब्याज दर व्यवस्था को इस प्रकार बनाये रखा है जिससे मूल्य स्थायित्व और वित्तीय स्थायित्व को समर्थन मिले।

(iii) **सीमांत स्थायी सुविधा (Marginal Standing Facilities)-**जिस दर पर रिजर्व बैंक अपने कार्य दिवस के दूसरी अवधि में व्यापारिक बैंकों को अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है। उसे सीमांत स्थायी सुविधा (MSF) कहते हैं। मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए रेपो दर और रिवर्स रेपो दर की तरह ही MSF को भी बढ़ाकर तरलता की मात्रा कम करके नियंत्रित किया जाता है। इसके विपरीत अवसाद की स्थिति को नियंत्रित करने के लिए इन तीनों दरों में कमी करके तरलता की मात्रा बढ़ाया जाता है।

(iv) **नगद आरक्षण अनुपात (Cash Reserve Ratio)-**प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपने कुल जमा का एक निि"चत भाग रिजर्व के पास अनिवार्य रूप से नगदी रखते हैं जितना भाग रखेगें वहीं नगद आरक्षण अनुपात (CRR) कहलाता है। CRR की सीमा 0-15% के बीच रहता है। व्यापारिक बैंकों का नगद कोष ही साख की उत्पत्ति का आधार होता है। अतः नगद कोष के अनुपात को बदलकर रिजर्व बैंक सुगमता से साख नियंत्रण कार्य कर सकता है। इस नीति के अनुसार जब साख को कम करने की आवश्यकता होती है उस समय रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा रखे जाने वाले CRR में वृद्धि कर देता है जिससे बैंकों की नगद राशि का एक भाग रिजर्व बैंक के पास चला जाता है। और साख निर्माण की शक्ति घट जाती है। इसके विपरीत जब साख एवं मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है उस समय रिजर्व बैंक CRR को घटा देता है। ऐसा मंदी को दूर करने के लिए किया जाता है।

(v) **वैधानिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio)-**बैंकिंग विनियमन अधिनियमन, 1949 की धारा 24 के अनुसार देश के व्यापारिक बैंकों को अपनी कुल जमा का एक निश्चित भाग का स्वर्ण, प्रतिभूतियां अथवा शेयर आदि सुलभ सम्पत्तियों के रूप में रखना होता है। इसे ही वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) कहते हैं। इस तरह SLR में वृद्धि का उद्देश्य अर्थव्यवस्था में व्याप्त मुद्रा स्फीति का दबाव कम करना तथा इसे घटाने का उद्देश्य व्यापारिक बैंकों की व्यापार एवं उद्योग को ऋण तथा अग्रिम देने की क्षमता वृद्धि करना होता है। बैंकों के लिए निर्धारित तरलता अनुपात दैनिक आधार पर बनाये रखना अनिवार्य होता है। इसमें कमी होने पर रिजर्व बैंक द्वारा ब्याज के रूप में दंड लगाया जाता है।

(vi) **खुले बाजार की क्रियाएं (Open Market Operations)-**देश में साख के नियमित हेतु भारतीय रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियाओं का सहारा भी लेता है। खुले बाजार की क्रियाओं से तात्पर्य रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों के व्यापार अथवा क्रय–विक्रय से है। जब भारतीय रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को बाजार में बेचता है तब व्यापारिक बैंकों के नगद आरक्षण का एक भाग खीच लेता है और इस प्रकार बैंकों की औद्योगिक एवं वाणिज्यिक क्षेत्रों को उधार देने की क्षमता को कम कर देता है। एक बार जब अतिरिक्त नगदी समाप्त कर दी जाती है और वैधानिक नगद आरक्षण आवश्यकता कम कर दी जाती है तब बैंकों को अपने उधार की पूर्ति कम करनी पड़ती है, ताकि वे वैधानिक नगद आरक्षण की आवश्यकताओं के लिए कुछ नगद आरक्षण जुटा सकें। इसके फलस्वरूप, बैंक उधार जिसमें मांग जमा का निर्माण शामिल होता है, गिर जाता है और मुद्रा अपूर्ति का संकुचन हो जाता है। इसके विपरीत, जब रिजर्व बैंक बाजार से

प्रतिभूतियों को क्रय करता है और उनके लिए भुगतान करता है तो व्यापारिक बैंकों के पास अतिरिक्त नगदी आ जाती है जिससे वे अधिक उधार एवं अधिक बैंक जमा कायम कर लेते हैं तथा मुद्रा की आपूर्ति में वृद्धि हो जाती है। देश को आर्थिक प्रतिसार की प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए यह नीति अपनाई जाती है।

2. **चयनात्मक साख नियंत्रण (Selective Credit Control)**-चयनात्मक या गुणात्मक साख नियंत्रण के उपायों का प्रयोग करके रिजर्व बैंक की दिशा का नियमन करता है। चयनात्मक अथवा प्रत्यक्ष साख मुद्रा नियंत्रण का उद्देश्य देश में आवश्यक आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित तथा अनावश्यक क्रियाओं को हतोत्साहित करना होता है। प्रायः चयनात्मक साख नियंत्रण संबंधी तीन उपाय भारत में किए जाते हैं–

   1. विशिष्ट प्रतिभूतियों के विरूद्ध न्यूनतम उधार प्रतिभूति अन्तर।
   2. किसी विशेष उद्देश्य के लिए दिये गए उधार की मात्रा पर अधिकतम सीमा, और
   3. कुछ विशेष प्रकार के अग्रिमों पर विभेदकारी ब्याज दरें।

चयनात्मक साख नियंत्रण लागू करते समय रिजर्व बैंक यह ध्यान रखता है कि उत्पादन, वस्तुओं के स्थान परिवर्तन एवं निर्यात के लिए दिए जाने वाले उधार पर असर न पड़े। चयनात्मक साख नियंत्रण के अंतर्गत साख का राशनिंग, भिन्न कटौती दरें, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक दबाव तथा प्रचार आता है।

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि MPC मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए 'महंगी मौद्रिक नीति' के द्वारा ब्याज दरों में वृद्धि करता है और मंदी को नियंत्रित करने के लिए 'सस्ती मौद्रिक नीति' का सहारा लेकर ब्याज दरों में कटौती करता है। इस प्रकार रिजर्व बैंक प्रायः साख नियंत्रण की परिमाणात्मक विधियों के साथ–साथ गुणात्मक विधियों को भी आवश्यकतानुसार समुचित एवं संतुलित प्रयोग करने का प्रयास करता है।

5.5 मौद्रिक नीति समिति तथा मौद्रिक विकास के साथ मुद्रा स्फीति

कोविड–19 महामारी की शुरुआत के बाद से मौद्रिक नीति और चलनिधि परिचालन ने अर्थव्यवस्था पर अनेक प्रतिकूल प्रभाव कम करने की दिशा में कमर कस ली है। 2019-20 और 2020-21 में कई बार में रेट में कटौती के बाद 2021-22 रेपो दर को 4% पर बनाये रखा गया हालांकि प्रणाली में चलनिधि पूरे समय अधिशेष में रही भारतीय रिजर्व बैंक ने प्रणाली ने तरलता या चलनिधि प्रदान करने के लिए द्वितीयक बाजार जी–सेक (सरकारी प्रतिभूति) अधिग्रहण कार्यक्रम, विशेष दीर्घकालिक रेपो परिचालन, तत्काल उपयोग के लिए उपलब्ध दीर्घकालीन रेपो परिचालन आदि सहित विभिन्न उपाय किये। इसके उपरान्त भारतीय रिजर्व बैंक ने अतिरिक्त तरलता की स्थिति का पुनः संतुलन करने के लिए परिवर्तनीय दर रिवर्स रेपो, रेपो दर नीलामियों का भी उपयोग किया। 2021-22 में रिजर्व मनी और विस्तृत मुद्रा पूर्ति वृद्धि पिछले वर्ष की तुलना में कम थी। रिवर्स रेपो विंडो के अंतर्गत RBI के पास बैंकों द्वारा बड़ी जमा राशि को दर्शाने वाले छोटे मुद्रा गुणक के कारण रिजर्व मुद्रा वृद्धि पूरी तरह से विस्तृत मुद्रा अपूर्ति वृद्धि में परिवर्तित नहीं हुई। बैंक ऋण वृद्धि 2021-22 में धीरे–धीरे तेज हुई, जो अप्रैल 2021 की शुरुआत में 5.3% थी। नवीन आकड़ों से पता चलता है कि 31 दिसम्बर 2021 को बैंक ऋण वृद्धि 9.2% थी। क्षेत्रीय स्तर पर कृषि क्षेत्र ऋण में मजबूत वृद्धि दर्ज की गई। और उद्योग क्षेत्र में सुधार के संकेत मिले। हालांकि, सेवा क्षेत्र की ऋण वृद्धि अभी भी ठीक नहीं हुई है।

सारणी 5.1 MPC द्वारा नीतिगत दरों में परिवर्तन की स्थिति

प्रभावी तिथि	रेपो दर (प्रतिशत)	रिवर्स रेपो दर (प्रतिशत)	नगद आरक्षण अनुपात (प्रतिशत)	वैधानिक तरलता अनुपात (प्रतिशत)	सीमांत स्थाई सुविधा (प्रतिशत)

06-02-2020	5.15	4.90	4.0	18.25	5.40
27-03-2020	4.40	4.00	4.0	18.25	4.65
22-05-2020	4.00	3.35	3.00	18.00	4.25
27-03-2021	4.00	3.35	3.5	18.00	4.25
22-05-2021	4.00	3.35	4.00	18.00	4.25
06-08-2021	4.00	3.35	4.00	18.00	4.25
08-10-2021	4.00	3.35	4.00	18.00	4.25
08-12-2021	4.00	3.35	4.00	18.00	4.25

स्रोत–आर्थिक समीक्षा 2021-22 पेज 119 I

घरेलू स्तर पर भारत में औसत हेडलाइन उपभोक्ता मूल्य सूचकांक–संयुक्त (CPI) मुद्रा स्फीति 2021-22 में 5.25% हो गयी है, जो 2020-21 की इसी अवधि में 6.6% थी और दिसम्बर 2021 में 5.6% पर दर्ज की गई थी। CPI मुद्रा स्फीति में अधिक वृद्धि नहीं दर्ज की गई क्योंकि सरकार द्वारा आपूर्ति के संबंध में की गयी त्वरित व्यवस्था के कारण खाद्य कीमतों में काफी कमी आयी है। खाद्य मुद्रा स्फीति वर्ष के दौरान 2.9% (अप्रैल–दिसम्बर) पर अनुकूल बनी रही। जबकि पिछले वर्ष की इसी अवधि में यह 9.1% थी। सब्जियों के मामलें में कीमतें नियंत्रित रहीं, हालांकि उत्पादक राज्यों में बेमौसम बारिश के कारण सिम्बर–नवम्बर 2021 के दौरान कीमतों में तेजी देखी गयी।

थोक मूल्य सूचकांक WPI पर आधारित थोक मुद्रा स्फीति में पिछले वित्तीय वर्ष के दौरान आर्थिक गतिविधों के कमजोर होने, वैश्विक स्तर पर कच्चे तेल की कीमतों में रिकार्ड गिरावट आने और कमजोर मांग के कारण पिछले वित्तीय वर्ष के दौरान बहुत ही अनुकूल रहने के बाद, वर्ष 2021-22 अप्रैल से दिसम्बर के दौरान 12.5% की दर से तेज वृद्धि देखी गयी। यह आर्थिक गतिविधयों में तेजी कच्चे तेल और अन्य आयातित आदानों की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में तेज वृद्धि और उच्च माल ढुलाई लागत के कारण था।

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि मौद्रिक नीति समिति अर्थव्यवस्था में कोर मुद्रा स्फीति के आधार पर अपने नीतिगत दरों में परिवर्तन करता है।

5.6 मौद्रिक नीति समिति की सीमाएँ

मौद्रिक नीति समिति के विभिन्न उपलब्धियों के बावजूद, अर्थव्यवस्था में स्थिरता लाने में पूर्णरूप से सफलता नहीं मिली है। इसके निम्नलिखित कारण हैं–

1. अर्थव्यवस्था में बढ़ती मुद्रा स्फीति से तुरन्त निजात दिलाने में यह समिति पूर्णरूप से असफल रही है।
2. भारत में मुद्रा नीति के विफल होने का एक अन्य कारण बढ़ता सरकार ऋण का भार और बजट घाटों का प्रभाव है। बजट घाटा रिजर्व बैंक द्वारा अस्थायी राजकोष बिलों के निर्माण से पूर्णतया वित पोषित किए गये हैं। इसके अलावा रिजर्व बैंक सरकार के बाजार उधार कार्यक्रमों को समर्थन प्रदान करता रहा है।

परिणामस्वरूप इससे सरकार को रिजर्व बैंक द्वारा प्राप्त ऋृण से रिजर्व मुद्रा के निर्माण में अत्यधिक वृद्धि हुई है जो अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी दबाव उत्पन्न करने में सहायक हुआ है।

3. MPC आधारित ब्याज दर नीति अपनाया जा रहा है। इन दरों का ढांचा जटिल है। इसमें स्वेच्छता का तत्व छिपा हुआ है। यह साख के अलग–अलग यन्त्रों पर पाये जाने वाले जोखिम, परिपक्वता अवधि अथवा तरलता कारक की उपेक्षा करती है। ब्याज दर ढांचा उधारकर्ता, जनता और बंदी मार्किट के लिए अलग–अलग भी नहीं है। फिर उचां ब्याज दर ढांचा निश्चित करने से अर्थव्यवस्था में ब्याज दरें भी उचीं हो जायेंगी।

4. व्यापारिक बैंक अपने पास मांग मुद्रा बाजार, पारस्परिक निधियों तथा इसी प्रकार के अन्य स्रोतों से प्र्याप्त तरलता कायम रखने में समर्थ होते हैं। परिणामस्वरूप, रिजर्व बैंक, बैंकों की उधार क्रियाओं को नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं होता है।

5. मौद्रिक नीति समिति और सरकार द्वारा चालित राजकोषीय नीति तथा मौद्रिक नीति में समन्वय का अभाव पाया जाता है। केन्द्र सरकार के बजट घाटे और रिजर्व बैंक द्वारा सरकार को ऋण देने की मात्रा में कोई समन्वय नहीं है।

6. कुछ और सरकारी नीतियों के कारण भी मौद्रिक नीति समिति की नीतिगत दरों में कमियां पाई जाती हैं जैसे– सरकारी बंदी मार्किट से बाहर लेने के लिए अधिक जनता पर निर्भर करती है तथा सरकारी प्रतिभूतियों पर प्राप्तियां पूंजी बाजार की स्थिति से स्वतंत्र निश्चित नहीं होती हैं।

5.7 सारांश

मौद्रिक नीति समिति द्वारा अपनाई गयी नीति अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप समय–समय बदलती रहीं हैं या कभी तटस्थ रही हैं तथा इसके व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने का निरन्तर प्रयास किया जाता रहा है, परन्तु वास्तविकता यह रही कि अर्थव्यवस्था में स्फीति जनक प्रभाव बने ही रहें। इसका कारण यह है कि मौद्रिक नीति समिति के उपायों तथा अधिकारो का कार्यक्षेत्र अनुसूचित बैंको तक ही सीमित है। जिस सीमा तक स्फीतिकारी दबाव बैंक–वित्त का परिणाम होते हैं, रिजर्व बैंक के गुणात्मक एवं परिमणात्मक नियन्त्रण अवश्य प्रभाव डालते हैं, परन्तु यदि स्फीतिकारी दबावों का कारण घाटे की वित्त व्यवस्था तथा वस्तुओं की कमी है तो उपाय किसी भी प्रकार से कारगर नहीं हो सकते हैं। हाल ही के वर्षों में यही स्थिति भारत में विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनी है कि मौद्रिक नीति समिति का गैर–बैंकिंग संस्थाओं और देशी बैंकरों पर कोई नियंत्रण नहीं हैं। जबकि वे देश के उद्योग एवं व्यापार के वित्तीयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। फिर भी मौद्रिक नीति समिति बैंक दर, रेपो दर, रिवर्स रेपो दर, सीमांत स्थायी सुविधा, नगद आरक्षण अनुपात, वैधानिक तरलता अनुपात में परिवर्तनों का संकेत देते हैं तथा नगदी पर प्रभाव डालते हुए महत्वपूर्ण साधनों के रूप में उभरी है। खुले बाजार की क्रियाओं के साथ संयोजित नगदी समायोजन सुविधा अर्थव्यवस्था में नगदी प्रबंधन के रूप में उभरी है।

5.8 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मौद्रिक नीति समिति से क्या तात्पर्य है? इसके उपकरण कौन–कौन से हैं?

प्रश्न 2- विकास और स्थिरिता प्राप्ति के लिए मौद्रिक नीति समिति द्वारा कौन–कौन से उपकरणों की आवश्यकता होती है?

प्रश्न 3- मौद्रिक नीति समिति से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्य क्या हैं?

प्रश्न 4- मौद्रिक विकास के साथ मुद्रा स्फीति की स्थिति में मौद्रिक नीति समिति की भूमिका को स्पष्ट

कीजिए।

5.9 शब्दावली

सीमांत अस्थायी सुविधा	:	Marginal Standing Facilities
आधार दर	:	Base Rate
तरलता समायोजन	:	Liquidity Adjustment

5.10 संदर्भ सूची

De Kock	:	Central Banking. Chaps. 8-13.
G Crowther	:	An Outline of Money, Chaps.2, 4, 6,
R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chaps 5, 9
Kisch and Elkin	:	Central Banks.
S. K. Basu	:	Recent Banking Developments
S. K. Basu	:	Survey of Contemporary Banking Trends

Notes